श्री समन्तभद्रस्वामी विरचित

श्री

रत्नकरंडक श्रावकाचार

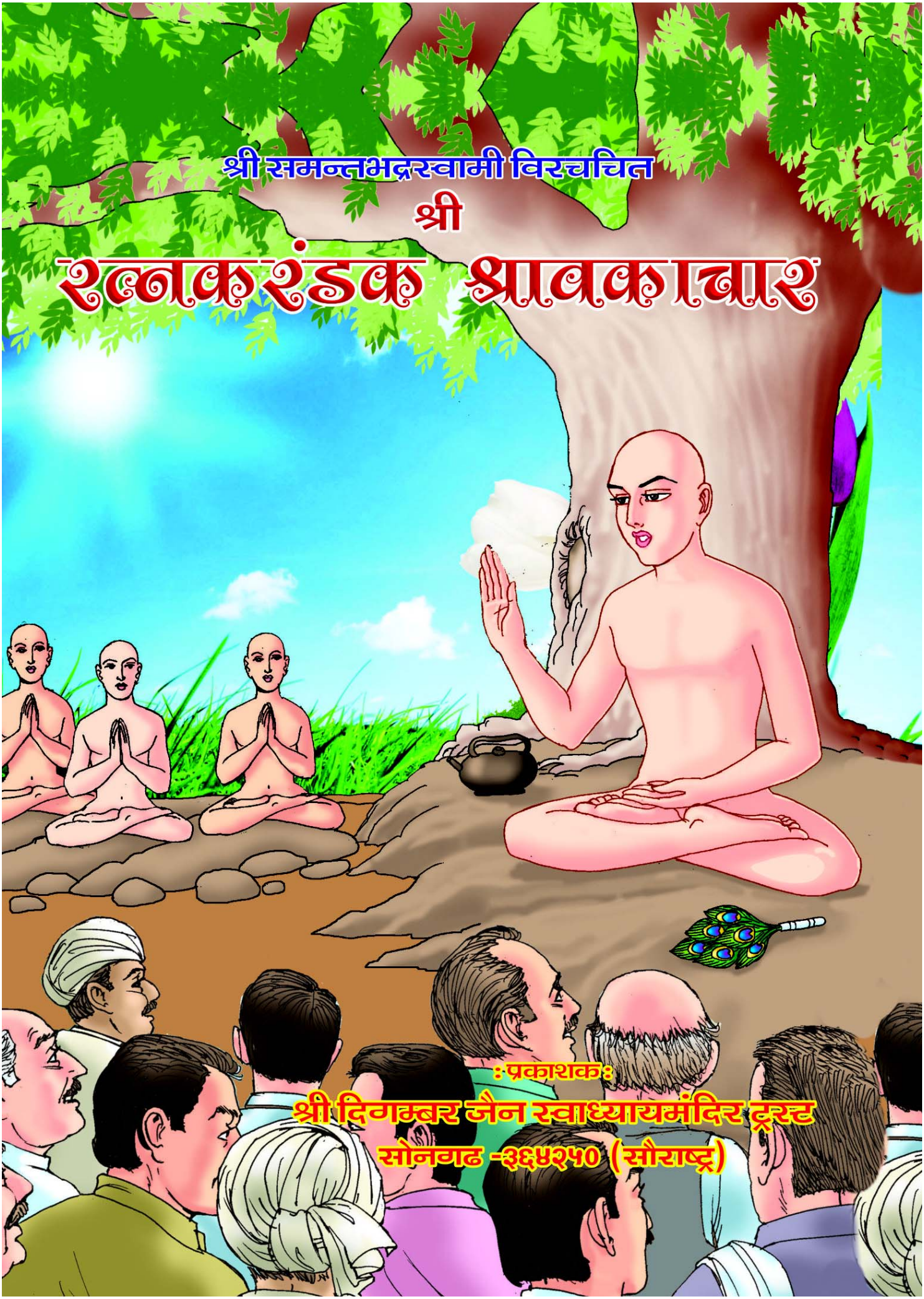

:प्रकाशक:

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट

सोनगढ -३६४२५० (सौराष्ट्र)

भगवानश्रीकुन्दुकन्द-कहानजैनशास्त्रमाला, पुष्प-२४३

ॐ

श्री वीतरागाय नमः

श्री समंतभद्रस्वामी विरचित

श्री

रत्नकरंडक श्रावकाचार

मूल श्लोक और श्री प्रभाचंद्र आचार्य विरचित
संस्कृत टीकाके हिन्दी अनुवाद सह

: हिन्दी अनुवादक :
पण्डित पन्नालालजी साहित्याचार्य

: प्रकाशक :
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट,
सोनगढ़ (सौराष्ट्र) – 364250

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ - ३६४२५०

(-2-)

प्रथम आवृत्ति प्रत : १००० वि.सं. २०७१ ई.स. २०१५

श्री रत्नकरंडक श्रावकाचार (हिन्दी)के

❀ स्थायी प्रकाशन-पुरस्कर्ता ❀

स्व. महेन्द्रभाई सुन्दरजी वारिया,
सुरेन्द्रनगरके स्मरणार्थ
हस्ते सुविधिभाई वारिया

इस शास्त्रका लागत मूल्य रू. 120=00 है। अनेक मुमुक्षुओंकी आर्थिक सहायतासे इस आवृत्तिका विक्रय-मूल्य रू. 30=00 रखा गया है।

मूल्य रू. 30=00

मुद्रक :
स्मृति ऑफसेट
सोनगढ-(सौराष्ट्र)

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ - ३६४२५०

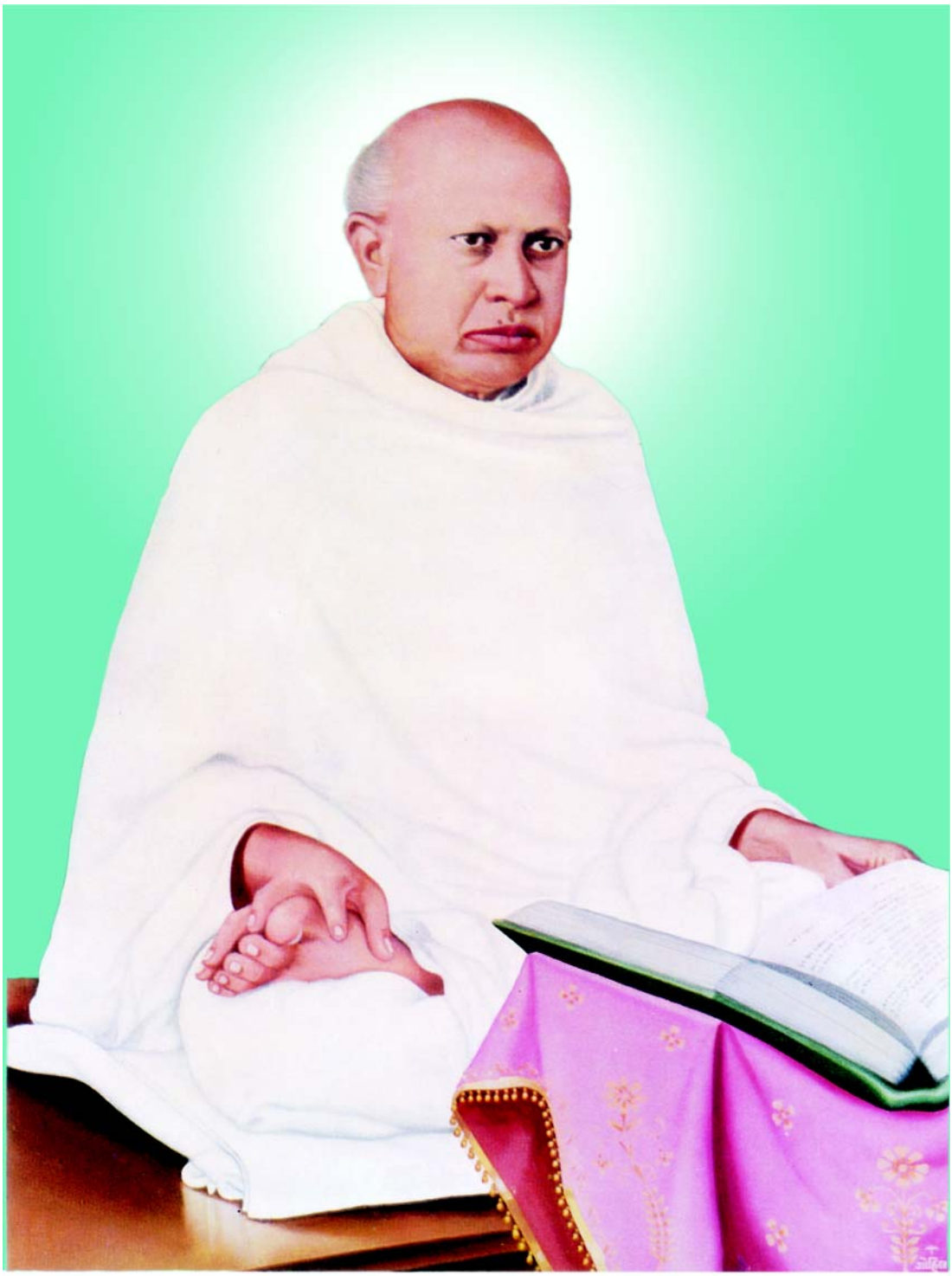

પરમ પૂજ્ય અધ્યાત્મમૂર્તિ સદ્‌ગુરુદેવ શ્રી કાનજીસ્વામી

Shri Digambar Jain Swadhyay Mandir Trust, Songadh - 364250

* श्री सद्गुरुदेव-स्तुति *

(हरिगीत)

संसारसागर तारवा जिनवाणी छे नौका भली,
ज्ञानी सुकानी मळ्या विना अे नाव पण तारे नहीं;
आ काळमां शुद्धात्मज्ञानी सुकानी बहु बहु दोह्यलो,
मुज पुण्यराशि फळ्यो अहो! गुरुकृहान तुं नाविक मळ्यो.

(अनुष्टुप)

अहो! भक्त चिदात्माना, सीमंधर-वीर-कुंदना!
बाह्यांतर विभवो तारा, तारे नाव मुमुक्षुनां.

(शिखरिणी)

सदा दृष्टि तारी विमळ निज चैतन्य नीरखे,
अने ज्ञप्तिमांही दरव-गुण-पर्याय विलसे;
निजालंबीभावे परिणति स्वरूपे जई भळे,
निमित्तो वहेवारो चिदघन विषे कांई न मळे.

(शार्दूलविक्रीडित)

हैयुं 'सत सत, ज्ञान ज्ञान' धबके ने वज्रवाणी छूटे,
जे वज्रे सुमुमुक्षु सत्त्व झळके; परद्रव्य नातो तूटे;
—रागद्वेष रुचे न, जंप न वळे भावेंद्रिमां–अंशमां,
टंकोत्कीर्ण अकंप ज्ञान महिमा हृदये रहे सर्वदा.

(वसंततिलका)

नित्ये सुधाझरण चंद्र! तने नमुं हुं,
करुणा अकारण समुद्र! तने नमुं हुं;
हे ज्ञानपोषक सुमेघ! तने नमुं हुं,
आ दासना जीवनशिल्पी! तने नमुं हुं.

(स्रग्धरा)

ऊंडी ऊंडी, ऊंडेथी सुखनिधि सतना वायु नित्ये वहंती,
वाणी चिन्मूर्ति! तारी उर-अनुभवना सूक्ष्म भावे भरेली;
भावो ऊंडा विचारी, अभिनव महिमा चित्तमां लावी लावी,
खोयेलुं रत्न पामुं,—मनरथ मननो; पूरजो शक्तिशाळी!

— रचयिता : हिंमतलाल जेठालाल शाह

ॐ

परमात्मने नमः ॥

प्रस्तावना

जंबूद्वीपके भरतक्षेत्रकी वर्तमान चौबीसीके चरम तीर्थंकर, शासननायक, परम वीतराग सर्वज्ञ देवाधिदेव श्री महावीर भगवानने दिव्यध्वनि द्वारा भव्यजीवोंको निजात्मकल्याणकारी बोध दिया। इस मंगलकारी दिव्यदेशनाको श्री गौतम गणधरदेव द्वारा बारह अंगकी रचना–द्रव्यश्रुतके स्वरूपमें गुंथी गयी। उस चार अनुयोगमय देशनाको उनके पश्चात्वर्ती महान संत आचार्य भगवंतोंने लिपिबद्ध किया। वे सत्शास्त्र महान पुण्योदयसे हमें वर्तमानमें जिनवाणीरूपमें संप्राप्त हुये हैं। वे महान रचनाओंमें ही यह 'श्री रत्नकरण्डक श्रावकाचार चरणानुयोगकी शैलीमें रची हुई एक उत्तम शास्त्ररचना है।

इस ग्रंथके रचनाकार परम पूज्य भावलिंगी दिगंबर आचार्य श्री समंतभद्रदेव विक्रमकी लगभग दूसरी शताब्दीमें हुऐ महान आचार्य हैं। वे जैनदर्शनके उत्कृष्ट ज्ञाता, अध्यात्म और न्यायशास्त्रके मर्मज्ञ, उत्तम भक्तिरचनाओंके रचयिता, जिनेन्द्र भक्त तथा अन्य मतावलंबीओंकी कुयुक्तिओंका खंडन वीतरागभावसे करके जिनशासनको स्थापनेवाले वादनिपुण भी थे। उन्होंने अनेक ग्रंथोंकी रचना की है। जैसे कि 'आप्तमीमांसा', 'जिनस्तुति शतक', 'स्वयंभूस्तोत्र', 'युक्त्यानुशासन', 'गंधहस्तिमहाभाष्य' (तत्त्वार्थसूत्रकी टीका) 'जीवसिद्धि' तथा 'रत्नकरंडक श्रावकाचार'। उनमेंसे कुछ ही ग्रंथ वर्तमानमें उपलब्ध है। यह 'रत्नकरण्डक श्रावकाचार' ग्रंथ, उनकी उत्तम रचनाओंकी श्रेणीमेंसे एक रचना है।

वर्तमानमें परमोपकारी अध्यात्मयुगस्त्रष्टा पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीने अपने कल्याणकारी प्रवचनोंमें बारबार इस शास्त्रके संदर्भ दीये हैं। उन्होंने इस शास्त्रमें छिपे हुए आत्मकल्याणकारी मर्मको खोलकर इस युगके भव्य जीवोंके लिए महान उपकार किया है। उनके प्रतापसे ही हम सब इस महान शास्त्रके गूढ़ भावोंको कुछ अंशमें समझनेके शक्तिमान हुए है।

यह महान ग्रंथ चरणानुयोगकी शैलीका है। उसमें मोक्षमार्गके प्रथम सोपान ऐसे सम्यग्दर्शनको प्राप्त पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावककी अंतरंग दो चौकडी(अनंतानुबंधी तथा अप्रत्याख्यानावरण कषाय)के अभावरूप आत्मसाधनाका वर्णन उनकी बाह्य वैराग्यमय प्रवृत्तिकी मुख्यतासे किया गया है। इसकी कथनशैली उपदेशप्रधान है फिर भी उतनी शुद्धिरूप व्यवहार

जाना हुआ प्रयोजनवान है परंतु महत्व (आदरणीय) देनेके लिए प्रयोजनवान नहीं। यह बातको पूज्य गुरुदेवश्रीने पुरुषार्थसिद्धिउपाय नामक चरणानुयोगके ग्रंथके प्रवचनोंमें आगम और स्वानुभव द्वारा अत्यंत स्पष्ट किया है। इस ग्रंथके मर्म समझनेके लिए वे प्रवचनोंको सुनना अत्यंत आवश्यक है तभी इस ग्रंथका मर्म हृदयगम्य होगा। 'रत्नकरण्डक श्रावकाचार' ग्रंथमें आचार्यदेवने संस्कृत भाषामें १५० श्लोक रचे है। जो पाँच अधिकारमें विभाजित किये गये है।

प्रथम अधिकारमें आचार्यदेवने तीर्थंकर भगवान महावीरको भाव नमस्काररूप मंगलाचरण करके सम्यक्धर्म अर्थात् मोक्षमार्गका उपदेश करनेकी प्रतिज्ञा की है। वह मोक्षमार्ग सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय है—ऐसा बताकर वे इस मोक्षमार्गके प्रथम सोपानरूप सम्यग्दर्शनका स्वरूप बहुत ही विस्तारसे समझाते है। जिसे अपने ज्ञानानंद स्वभावी आत्माकी दृष्टिपूर्वक स्वानुभवयुक्त सम्यग्दर्शन प्राप्त हुआ हो ऐसे ज्ञानी धर्मात्माको देव-शास्त्र-गुरुकी श्रद्धा-भक्ति-अर्पणता कैसी अपनी वर्तमान श्रद्धा पर्यायमें वर्तती है, उसके द्वारा आचार्यदेवने सम्यग्दर्शनका स्वरूप समझाया है। उसके लिए उन्होंने देव-शास्त्र-गुरुके लिए 'परमार्थानाम' इस विशेषण द्वारा ज्ञानी धर्मात्मा सच्चे देव-गुरु-शास्त्रकी ही श्रद्धा करते है ऐसा ही कचाशरूप रागका प्रकार उन्हें वर्तता है उस बातको अत्यंत स्पष्ट किया है। उसके बाद उन्होंने आगे ऐसे सच्चे देव-शास्त्र और गुरु कैसे होते हैं, उसका स्वरूप समझाया है। उसके बाद सम्यग्दृष्टिके आठ अंग कैसे होते है उसका वर्णन करके सम्यग्दृष्टिके स्वरूपको विशेषरूपसे समझनेके लिए सम्यग्दृष्टिको तीन मूढता, आठ मद, आदिका अभाव होता है यह भी दर्शाया हैं। यह सम्यक्त्वकी भूमिकाका उत्कृष्ट स्वरूप है। इस तरह सम्यग्दर्शनका स्वरूप समझाकर उन्होंने सम्यग्दर्शनका महत्व और महिमा भी बहुत ही विस्तारसे बताकर इस अधिकारको पूरा किया।

दूसरे अधिकारमें उन्होंने भावश्रुतज्ञानके धारक सम्यग्दृष्टिको चार अनुयोगमय द्रव्यश्रुतके मर्मका भी यथार्थज्ञान होता है, इस तरह सम्यग्ज्ञानका स्वरूप भी बताया है।

यहाँसे आगेके अधिकारोंमें आचार्यदेव पंचमगुणस्थानवर्ती श्रावकके निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वकके अपूर्व चारित्रका वर्णन व्यवहारनयसे बाह्य आचरणकी प्रमुखतासे करते हैं। इस ग्रंथके अभ्यास करनेवालोंको यह बात अवश्य लक्षमें लेना चाहिए कि इस ग्रंथमें सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्राप्त पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावकके बाह्यजीवन द्वारा उनकी अंतरंग आत्मसाधनाको समझानेका ही प्रयत्न किया है अर्थात् व्यवहार द्वारा परमार्थ साधनाका ही प्रतिपादन किया है। इससे ऐसा नहीं मानना चाहिए कि ऐसा बाह्य आचरण करनेवाला वह श्रावक है और ऐसा भी नहीं मानना चाहिए कि ऐसा बाह्य आचरण करनेसे अंतरंगमें पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावकपना प्राप्त हो जाएगा। यहाँ तो मात्र पंचम गुणस्थानवर्ती साधक श्रावकके हठ बिनाकी बाह्य साधना

ऐसी ही सहज होती है उसे दर्शाकर अंतरंग और बहिरंग साधना अर्थात् निश्चय-व्यवहारका सुमेल साधकजीवको कैसा होता है उसका ही दिग्दर्शन कराया है।

आचार्यदेव तीसरे अधिकारमें स्वरूप रमणतामय वीतराग चारित्रकी अनिवार्यता समझाकर संक्षेपमें सकल चारित्रका स्वरूप बताकर उसे धारण करनेमें जो जीव असमर्थ हो उनके सागार और अनागार दो प्रकारका चारित्र समझाकर मंद पुरुषार्थी श्रावकको विकल चारित्र–देशचारित्र गृहस्थ धर्म समझानेकी शुरुआत की हैं। उसमें उन्होंने पांच अणुव्रत, अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, परिग्रह--परिमाणका स्वरूप और उसके पालनमें लगते पांच-पांच अतिचारोंका स्वरूप समझाकर उन अतिचार रहित पांच अणुव्रतके पालनका उपदेश दिया है। आचार्यदेवने इसी अध्यायमें श्रावकके तीन गुणव्रत। दिग्व्रत, अनर्थदंडव्रत तथा भोगोपभोग परिमाणव्रतका विस्तारसे वर्णन किया है। इस अधिकारकी ७१वीं गाथामें इस व्रतका पालन करनेवाले श्रावकको उपचारसे महाव्रत की परिभाषा बताकर वे व्रत किसे होते हैं वह भी दर्शाया है। उसके बाद प्रत्येक व्रतकी चर्चा करके व्रतके पांच-पांच अतिचार दर्शाये है। उसके बाद व्रतके लक्षण, यम-नियमरूप व्रतका स्वरूप, नियम करनेकी तिथि आदि भी दर्शाया है।

आचार्यदेवने चौथे अधिकारमें शिक्षाव्रत, देशावगाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास और वैयावृत्य ऐसे चार शिक्षाव्रतोंका विस्तारसे स्वरूप तथा प्रत्येक व्रतके पांच अतिचारका वर्णन किया है। इस अधिकारमें दानका स्वरूप, भेद और उसके फलका भी संक्षेपमें वर्णन किया है।

आचार्यदेवने पाँचवें अधिकारमें संल्लेखना–समाधिमरणके स्वरूपकी आवश्यकताकी तथा उसकी विधिकी विस्तृत चर्चा की है, संल्लेखनाके पांच अतिचारका स्वरूप बताकर संल्लेखनाका फल भी बताया है। अंतमें इस अधिकारमें मोक्षका तथा मुक्तजीवोंका स्वरूपका भी वर्णन किया है।

आचार्यदेवने इस अंतिम अधिकारमें श्रावकदशामें साधककी क्रमशः वृद्धि दर्शानेवाली श्रावककी ग्यारह प्रतिमायें, दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषधोपवास सचित्तत्याग, रात्रिभूक्ति-त्याग, ब्रह्मचर्य, आरंभत्याग, परिग्रहत्याग, अनुमतित्याग तथा ग्यारहवीं उदिष्टत्याग प्रतिमाका स्वरूप बताया है। आचार्यदेवने ग्यारहवी प्रतिमाधारी श्रावकको उत्कृष्ट श्रावकके रूपमें बताया है। अंतमें भी आचार्यदेवने १५०वीं गाथामें सम्यग्दर्शनको लक्ष्मीकी उपमा देकर उसकी महिमा की है।

इस तरह इस ग्रंथमें पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावकके हठ बिना भूमिका अनुसार इस प्रकारके बाह्यत्याग और मंदकषायरूप शुभभाव होते है उसका वर्णन किया है। इस प्रकारके

मंदकषायको उपचारसे मोक्षमार्ग कहनेमें आया है, क्योंकि निश्चयसे बाह्य अन्य पदार्थका ग्रहण या त्याग आत्मा कर सकता ही नहीं। तथा उस प्रकारके ही विकल्प उसे उस भूमिकामें होते हैं। वे विकल्प उनको उसी भूमिकामें होते है। वे विकल्प आत्माके परिणाममें ही होते हैं फिर भी वह विकल्प उनकी कचाशके द्योतक है और वह मंदकषायरूप शुभभाव होनेसे वास्तवमें बंधका कारण है। उन भावोंका ज्ञानी धर्मात्मा वास्तवमें ज्ञाता होता है। परंतु कर्त्ता नहीं। वे भाव ज्ञानीको हेयबुद्धिसे आते है। फिर भी भूमिकामें निमित्त और सहचर होनेसे उन्हें व्यवहारनयसे मोक्षमार्ग भी कहा गया है।

परमोपकारी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी और पूज्य बहिनश्री चंपाबेनने इस कालमें हमें मोक्षमार्गका उपरोक्त यथार्थ स्वरूप समझाकर इस शास्त्रके भावोंको यथार्थपने समझनेकी विधि बताकर हम पर अनुपम उपकार किया है।

जैसे इस शास्त्रके रचयिता आचार्यदेव महान है वैसे ही इस ग्रंथके टीकाकार आचार्य प्रभाचंद्र भी विक्रमकी दसवीं सदीमें हुए महान आचार्य है। टीकाकार आचार्यदेवने भी ग्रंथकर्ता महान आचार्यदेवके भावोंको संक्षेपमें खोलकर हम पर विशेष उपकार किया है। उनके रचे हुए अन्य ग्रंथ 'प्रमेयकमलमार्तंड'(परीक्षामुख व्याख्या), 'तत्त्वार्थवृत्ति पद विवरण' (लघीयस्त्रय व्याख्या) 'तत्त्वार्थवृत्ति पद विवरण'(सर्वार्थसिद्धि व्याख्या), जैनेन्द्र व्याकरण व्याख्या, प्रवचनसार व्याख्या, समाधितंत्र टीका, आत्मानुशासन टीका आदि है। इससे यह फलित होता है कि वे महान विद्वान आचार्य थे।

अंतमें इस ग्रंथके भावोंको पूज्य गुरुदेवश्री तथा पूज्य बहिनश्रीने जिस प्रकारसे खोला है उस प्रकारसे यथार्थरूपसे समझकर हम सभी निजकल्याणमें लगे यह ही अभ्यर्थना....

पूज्य बहिनश्री चंपाबेनकी
१०२वाँ जन्म महोत्सव
दि. ३१-८-२०१५

साहित्यप्रकाशनसमिति
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट,
सोनगढ (सौराष्ट्र)

ॐ

श्री सर्वज्ञाय नमः ॥

प्रकाशकीय निवेदन

इस ग्रंथका नाम 'रत्नकरंडक उपासकाध्ययन' है। सामान्यरूपसे यह 'रत्नकरंडक श्रावकाचार' इस नामसे प्रसिद्ध है। समाजमें यह बहुत प्रसिद्ध ग्रंथ है। उपलब्ध श्रावकाचारमें यह अति प्राचीन और सुसंबद्ध श्रावकाचार है। इसके रचयिता श्री समंतभद्राचार्य है। उन्होंने इस ग्रंथमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र—इन तीनोंको धर्म कहकर उसका वर्णन करते हुए सम्यक्चारित्रमें समाविष्ट श्रावकाचारका निरूपण किया है, जो मुमुक्षुओंके लिए अत्यंत उपयोगी और आदरणीय है।

इस ग्रंथके उपर श्री प्रभाचन्द्राचार्यने संस्कृत टीका की है जो इस प्रकाशनमें प्रकाशित की गई है। जो पहली बार इस संस्थाकी तरफसे प्रकाशित करते हुए हमें अत्यंत आनंदका अनुभव हो रहा है।

श्रावकका अंतर तथा बाह्य चारित्र किस प्रकारका होना चाहिए उसके उपर सारगर्भित प्रवचन आत्मज्ञ संत पूज्य श्री कानजीस्वामी द्वारा अनेकबार किये गये हैं इसीलिए जैन समाज उपर उनका महान उपकार है। तथा श्रावकाचारका सही स्वरूप पूज्य बहिनश्री चंपाबेनने भी अपनी तत्त्वचर्चाओंके माध्यमसे हमें समझाया हैं। अतः हम उन उभय संतोंको इस प्रकाशनकी बेला पर भक्तिपूर्वक वंदन करते हैं।

इस ग्रंथके यह नूतन हिंदी संस्करणमें आचार्यदेव श्री समन्तभद्र द्वारा रचित मूल संस्कृत गाथाएँ तथा अन्वयार्थ जैन साहित्य प्रसारक कार्यालय, मुंबई द्वारा प्रकाशित पुस्तकमेंसे ली गई है। तथा आचार्यदेव प्रभाचंद्र रचित संस्कृत टीका इसी संस्था द्वारा प्रकाशित गुजराती प्रकाशनमेंसे ली गई हैं। संस्कृत टीकाका हिन्दी अनुवाद पं. श्री पन्नालालजी साहित्याचार्य सागरने किया है जो कि संस्कृत टीकाका शब्दशः अनुवाद न होकर मात्र भावानुवाद है जो इस संस्करणमें शामिल किया है। अतः हम उन सभी प्रकाशकोंका अंतःकरणपूर्वक आभार मानते हैं।

तथा विशेषरूपसे इस संस्था द्वारा प्रकाशित गुजराती संस्करणमेंसे भावार्थ एवं विशेषार्थका हिन्दी अनुवाद करके इस संस्करणमें शामिल किया गया है। इसका अनुवाद

करनेमें श्री मनिषभाई जैन उदयपुरने हमें किमती सहयोग दिया है अतः हम उनके आभारी हैं।

यह ग्रंथकी गुजराती संस्करणकी तीन आवृत्तियाँ प्रकाशित हो गई है। अतः इस ग्रंथकी हिन्दी मुमुक्षु समाजकी मांगको ध्यानमें रखते हुए हम इस ग्रंथके हिन्दी संस्करणका प्रथमबार प्रकाशन कर रहे हैं।

इस ग्रंथके प्रकाशनमें हमें आदरणीय ब्र. श्री व्रजलालभाई शाह वढवाणने किमती मार्गदर्शन दिया है। अतः हम उनके कृतज्ञ है। एवं इसके प्रूफ संशोधन एवं प्रकाशनकार्यमें अनेक मुमुक्षु भाईओंने अपना किमती सहयोग दिया है। हम उनका भी आभार प्रदर्शन करते हैं।

इस ग्रंथमें प्ररूपित श्रावकाचारको यथाउचित समझकर जीवनमें परिणमाकर जगतके सभी जीव आत्महित साधो और वीतरागके पंथको सदा अनुसरो ऐसी भावना भाते है।

पूज्य बहिनश्री चंपाबेनका
१०२वाँ जन्म महोत्सव
दि. ३१-८-२०१५

साहित्यप्रकाशनसमिति
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट,
सोनगढ (सौराष्ट्र)

विषयानुक्रमणिका

विषय	श्लोक	पृष्ठ
प्रथम अधिकार		
मंगलाचरण	१	२
धर्मोपदेश करनेकी प्रतिज्ञा	२	५
धर्मका लक्षण	३	७
सम्यग्दर्शनका लक्षण	४	१०
सत्यार्थ आप्तका (सच्चे देवका) लक्षण	५	१२
वीतरागका लक्षण	६	१४
हितोपदेशीका लक्षण	७	२१
वीतरागी देवोंको उपदेश देनेकी इच्छा क्यों होती है ?	८	२३
सत्यार्थ (सच्चे) शास्त्र(आगम)का लक्षण	९	२५
सत्यार्थ गुरुका लक्षण	१०	२७
निःशंकित अंगका लक्षण	११	२९
निःकांक्षित अंगका लक्षण	१२	३३
निर्विचिकित्सा अंगका लक्षण	१३	३६
अमूढदृष्टि अंगका लक्षण	१४	३८
उपगूहन अंगका लक्षण	१५	४०
स्थितिकरण अंगका लक्षण	१६	४१
वात्सल्य अंगका लक्षण	१७	४२
प्रभावना अंगका लक्षण	१८	४४
प्रत्येक अंगमें प्रसिद्ध होनेवाले नाम	१९-२०	४५
कथा-१ : अञ्जन चोरकी कथा		४७
कथा-२ : अनन्तमतीकी कथा		४९
कथा-३ : उद्दायन राजाकी कथा		५२
कथा-४ : रेवती रानीकी कथा		५३
कथा-५ : जिनेन्द्रभक्त सेठकी कथा		५६
कथा-६ : वारिषेणकी कथा		५७
कथा-७ : विष्णुकुमार मुनिकी कथा		६०
कथा-८ : वज्रकुमार मुनिकी कथा		६४
अंगहीन सम्यग्दर्शनकी असमर्थता	२१	६९
लोकमूढ़ताका स्वरूप	२२	७०
देवमूढ़ताका स्वरूप	२३	७१
पाखंडिमूढ़ता [गुरुमूढ़ता] का स्वरूप	२४	७३
अष्ट मदोंके नाम	२५	७५
गर्व करनेका फल	२६	७७
धार्मिक पुरुषका तिरस्कार अनुचित	२७	७८
सम्यग्दर्शनकी महिमा	२८	७९
धर्म-अधर्मका फल	२९	८०
सम्यग्दृष्टिके त्यागने योग्य कार्य	३०	८१
रत्नत्रयमें सम्यग्दर्शनकी प्रधानता	३१	८३
मोक्षमार्गमें सम्यक्त्वके उत्कृष्टपनेकी सिद्धि	३२	८६
सम्यग्दर्शनकी उत्कृष्टताका उदाहरण सहित दूसरा कारण	३३	८९
सम्यक्त्व मित्र और मिथ्यात्व शत्रु है यह दिखलाते हैं	३४	९१
सम्यग्दर्शनका महत्त्व	३५	९२
सम्यक्त्वी दूसरे भवमें कैसे होते हैं	३६	९५
सम्यग्दृष्टि ही इन्द्रपद प्राप्त करते हैं।	३७	९७
सम्यग्दृष्टि ही चक्रवर्ती होते हैं	३८	९८
सम्यग्दृष्टि जीव ही तीर्थंकर होते हैं	३९	९९
सम्यक्त्वी जीव ही मोक्षको जाते हैं	४०	१०१

विषय	श्लोक	पृष्ठ
उपसंहार	४१	१०२
ज्ञानाधिकार		
सम्यग्ज्ञानका लक्षण	४२	१०५
प्रथमानुयोगका स्वरूप	४३	१०९
प्रथमानुयोगका प्रयोजन		११०
करणानुयोगका स्वरूप	४४	१११
करणानुयोगका प्रयोजन		११३
चरणानुयोगका स्वरूप	४५	११४
चरणानुयोगका प्रयोजन		११५
द्रव्यानुयोगका स्वरूप	४६	११५
द्रव्यानुयोगका प्रयोजन		११६
चारित्राधिकार		
चारित्र धारण करनेकी आवश्यकता	४७	११८
रागद्वेष दूर होनेसे हिंसादिक पाप स्वतः दूर होते हैं।	४८	१२१
सम्यक्चारित्रका लक्षण	४९	१२३
सम्यक्चारित्रके भेद	५०	१२४
विकल चारित्रके भेद	५१	१२६
अणुव्रतका स्वरूप	५२	१२७
अहिंसाणुव्रतका स्वरूप	५३	१२९
हिंसादिके त्यागका विधान :		१३१
अहिंसाणुव्रतके अतिचार	५४	१३५
सत्याणुव्रतका स्वरूप	५५	१३६
सत्याणुव्रतके अतिचार	५६	१३८
अचौर्याणुव्रतका स्वरूप	५७	१४०
अचौर्याणुव्रतके अतिचार	५८	१४२
परदारनिवृत्ति अणुव्रतका स्वरूप	५९	१४४
ब्रह्मचर्याणुव्रतके अतिचार	६०	१४५
परिग्रहपरिमाण अणुव्रतका लक्षण	६१	१४७
परिग्रहपरिमाण अणुव्रतके अतिचार	६२	१४९
पंचाणुव्रत धारण करनेका फल	६३	१५१
पंचाणुव्रतधारियोंमें जगत्प्रसिद्ध होनेवालोंके नाम	६४	१५२
यमपाल चाण्डालकी कथा		१५२
धनदेवकी कथा		१५५
नीलीकी कथा		१५६
जयकुमारकी कथा		१५९
हिंसादि पांच अव्रतोमें (पापोंमें) प्रसिद्ध होनेवालोंके नाम	६५	१६०
धनश्रीकी कथा		१६१
सत्यघोषकी कथा		१६२
तापसकी कथा		१६६
यमदण्ड कोतवालकी कथा		१७०
श्मश्रुनवनीतकी कथा		१७१
श्रावकके अष्ट मूलगुण	६६	१७३
तीन गुणव्रतोंके नाम	६७	१७५
दिग्व्रतका स्वरूप	६८	१७६
दिग्व्रत धारण करनेकी मर्यादा	६९	१७७
दिग्व्रत धारण करनेका फल	७०	१७९
उपचारसे महाव्रत होनेका कारण	७१	१८०
महाव्रतका स्वरूप	७२	१८१
दिग्व्रतके अतिचार	७३	१८२
अनर्थदंडव्रतका स्वरूप	७४	१८४
अनर्थदंडके पांच भेद	७५	१८५
पापोपदेश नामका अनर्थदंड	७६	१८६
हिंसादान नामका अनर्थदंड	७७	१८७

विषय	श्लोक	पृष्ठ
अपध्यान नामका अनर्थदंड	७८	१८८
दुःश्रुति नामका अनर्थदंड	७९	१८९
प्रमादचर्या अनर्थदंड	८०	१९०
अनर्थदंडव्रतके अतिचार	८१	१९१
भोगोपभोगपरिमाणव्रतका स्वरूप	८२	१९३
भोग और उपभोगका निर्णय	८३	१९४
भोगोपभोग परिमाणव्रतमें विशेष त्याग	८४	१९५
छोड़नेयोग्य दूसरे पदार्थ	८५	१९६
अनिष्ट अनुपसेव्य वस्तुओंका त्याग एवं व्रतका स्वरूप	८६	१९७
श्लोक ८४-८५-८६ का सारांश		१९९
यम नियमरूप व्रतका स्वरूप	८७	२०१
नियम करनेकी विधि	८८-८९	२०२
भोगोपभोगपरिमाण व्रतके अतिचार	९०	२०५

शिक्षाव्रताधिकार

चार शिक्षाव्रतोंके नाम	९१	२०८
देशावकाशिक नाम शिक्षाव्रत	९२	२०९
देशावकाशिक व्रतके क्षेत्रकी मर्यादा	९३	२१०
देशावकाशिक व्रतके कालकी मर्यादा	९४	२११
देशावकाशिक शिक्षाव्रतकी सार्थकता	९५	२१२
देशावकाशिक शिक्षाव्रतके अतिचार	९६	२१३
सामायिक शिक्षाव्रतका स्वरूप	९७	२१५
सामायिक करनेकी विधि	९८	२१६
सामायिक करने योग्य स्थानका निर्देश	९९	२१७
एकान्त स्थानमें सामायिक कैसे करनी चाहिए	१००	२१९
हेतुपूर्वक सामायिक करनेका उपदेश	१०१	२२०
सामायिक करनेकी स्थूल विधि		२२१
सामायिकका महत्व	१०२	२२१
सामायिकमें परिषह सहनेका उपदेश	१०३	२२२
सामायिक करनेके समय क्या विचार करना चाहिये	१०४	२२३
सामायिकके पांच अतिचार	१०५	२२४
प्रोषधोपवास शिक्षाव्रतका लक्षण	१०६	२२५
प्रोषधोपवासके दिन क्या क्या त्याग करना चाहिए	१०७	२२७
उपवासके दिनका धर्मकर्तव्य	१०८	२२९
प्रोषधोपवासका स्वरूप	१०९	२३०
प्रोषधोपवासके अतिचार	११०	२३१
वैयावृत्य [अतिथिसंविभाग] नामका शिक्षाव्रत	१११	२३३
वैयावृत्यका अन्य स्वरूप	११२	२३४
दानका स्वरूप	११३	२३५
पांच सूना		२३६
दाताके सात गुण		२३६
नवधाभक्ति		२३७
दानका फल	११४	२३८
नवधा भक्तिका फल	११५	२३९
अल्पदानसे महाफलकी प्राप्ति	११६	२४०
दानमें विशेषता		२४२
दानके भेद	११७	२४२
चार दानके प्रसिद्ध फल भोक्ता	११८	२४३
श्रीषेण राजाकी कथा-१		२४३
वृषभसेनाकी कथा-२		२४५
कौण्डेशकी कथा-३		२४९

विषय	श्लोक	पृष्ठ
सूकरकी कथा-४		२५०
वैयावृत्यके भेदमें ही भगवत्पूजा है	११९	२५१
पूजाके फलका प्रसिद्ध भोक्ता	१२०	२५२
मेंढककी कथा		२५३
वैयावृत्त्यके अतिचार	१२१	२५४
संल्लेखना प्रतिमाधिकार		
सल्लेखनाका स्वरूप	१२२	२५६
(१) अविचार समाधिमरण		२५७
(२) सविचार समाधिमरण		२५७
सल्लेखनाकी आवश्यकता	१२३	२५८
समाधिमरण करनेकी (सल्लेखनाकी) विधि	१२४-१२५	२५९
सल्लेखना धारण करनेके बाद क्या करना ?	१२६	२६२
संल्लेखना धारीको आहारत्यागका क्रम	१२७-१२८	२६.
समाधिमरणकी आवश्यकता		२६५
सल्लेखनाके अतिचार	१२९	२६७
सल्लेखना धारण करनेका फल	१३०	२६८
मोक्षका स्वरूप (लक्षण)	१३१	२६९
मुक्त जीवोंका स्वरूप	१३२	२७०
मुक्त जीवोंके गुणोंमें विकारका अभाव	१३३	२७१
मुक्त जीव क्या करते हैं ?	१३४	२७२
संल्लेखनाधारीओंका अभ्युदयरूप फल	१३५	२७३
श्रावककी ग्यारह प्रतिमा (कक्षा)	१३६	२७४
१. दर्शनिक (दर्शनप्रतिमाधारी)	१३७	२७५
२. व्रतप्रतिमाधारी	१३८	२७७
३. सामायिक प्रतिमाधारी	१३९	२७८
४. प्रौषधोपवास प्रतिमाधारी	१४०	२८०
५. सचित्तत्याग प्रतिमाधारी	१४१	२८१
६. रात्रिभुक्तित्यागी	१४२	२८२
७. ब्रह्मचर्य प्रतिमा	१४३	२८३
८. आरंभत्याग प्रतिमाधारी	१४४	२८४
९. परिग्रहत्याग प्रतिमाधारी	१४५	२८६
१०. अनुमतित्याग प्रतिमाधारी	१४६	२८७
११. उत्कृष्ट श्रावक	१४७	२८८
श्रेष्ठ ज्ञाताका स्वरूप	१४८	२८९
उपसंहार	१४९	२९०
अंत्य मंगल	१५०	२९२
टीकाकारकी मंगलकामना		२९४

ॐ

❀ नमः श्रीसर्वज्ञवीतरागाय। ❀

शास्त्र-स्वाध्यायका प्रारंभिक मंगलाचरण

*

ओंकारं विन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः।
कामदं मोक्षदं चैव ॐकाराय नमो नमः॥१॥

अविरलशब्दघनौघप्रक्षालितसकलभूतलकलङ्का।
मुनिभिरुपासिततीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितान् ॥२॥

अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः॥३॥

॥ श्रीपरमगुरवे नमः, परम्पराचार्यगुरवे नमः ॥

सकलकलुषविध्वंसकं, श्रेयसां परिवर्धकं, धर्मसम्बन्धकं, भव्यजीवमनःप्रतिबोधकारकं, पुण्यप्रकाशकं, पापप्रणाशकमिदं शास्त्रं श्रीरत्नकरण्डक श्रावकाचारनामधेयं, अस्य मूलग्रन्थकर्तारः श्रीसर्वज्ञदेवास्तदुत्तरग्रन्थकर्तारः श्रीगणधरदेवाः प्रतिगणधरदेवास्तेषां वचनानुसारमासाद्य आचार्यश्रीसमंतभद्रस्वामिविरचितं, श्रोतारः सावधानतया शृणवन्तु॥

मङ्गलं भगवान् वीरो मङ्गलं गौतमो गणी।
मङ्गलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मङ्गलम् ॥१॥

सर्वमङ्गलमाङ्गल्यं सर्वकल्याणकारकं।
प्रधानं सर्वधर्माणां जैनं जयतु शासनम् ॥२॥

❀

ॐ

श्रीवीतरागाय नमः।

श्रीसमन्तभद्रस्वामीविरचित

श्री

रत्नकरंडक श्रावकाचार

श्रीप्रभाचंद्राचार्यविनिर्मित संस्कृतटीका

(मङ्गलाचरण)

समन्तभद्रं निखिलात्मबोधनं
जिनं प्रणम्याखिलकर्मशोधनम्[1]।
निबन्धनं रत्नकरण्डके[2] परं
करोमि [3]भव्यप्रतिबोधनाकरम्॥१॥

मूल श्लोक और संस्कृत टीकाका

हिन्दी अनुवाद

टीकाकार आचार्य प्रभाकर टीकाकी शुरूआतमें मंगलाचरणपूर्वक टीका करनेकी प्रतिज्ञापूर्वक कहते हैं कि—

अन्वयार्थ :—[निखिलात्मबोधनम्] जो समस्त पदार्थोंके स्वरूपको जाननेवाले हैं, [अखिलकर्मशोधनम्] जो समस्त कर्मोंका नाश करनेवाले हैं, [भव्यप्रतिबोधनाकरम्] जो भव्यजीवोंको प्रतिबोध करनेवाले हैं ऐसे [समन्तभद्रं परं जिनम्] समंतभद्र जिनेश्वरदेवको (सर्वप्रकारसे कल्याणयुक्त, बाह्य एवं अंतरंग सभी प्रकारसे भद्ररूप हैं ऐसे जिनेश्वरदेवको)

---

१. कर्मसाधनम् घ०। २. रत्नकरण्डकं ग०। ३. भक्त्या ख०।

श्रीसमन्तभद्रस्वामी रत्नानां रक्षणोपायभूतरत्नकरण्डकप्रख्यं सम्यग्दर्शनादिरत्नानां पालनोपायभूतं रत्नकरण्डकाख्यं शास्त्रं कर्तुकामो निर्विघ्नतः शास्त्रपरिसमाप्त्यादिकं फलमभिलषन्निष्टदेवताविशेषं नमस्कुर्वन्नाह—

(अनुष्टुप)

नमः श्रीवर्द्धमानाय निर्धूतकलिलात्मने।
सालोकानां त्रिलोकानां यद्विद्या दर्पणायते॥१॥

'नमो' नमस्कारोऽस्तु। कस्मै? 'श्रीवर्धमानाय' अन्तिमतीर्थंकराय तीर्थंकरसमुदायाय

(प्रणम्य) नमस्कार करके [रत्नकरण्डके] रत्नकरंडक श्रावकाचार ग्रंथकी [निबंधनम्] निबंधन-(टीका-विवरण) [करोमि] मैं (श्री प्रभाचंद्राचार्य) करता हूँ।

रत्नोंकी रक्षाके उपायभूत–'रत्नकरंडक'मय सम्यग्दर्शनादि रत्नोंके पालनके उपायभूत 'रत्नकरण्डक' नामके शास्त्रकी रचना करनेके इच्छुक श्री समन्तभद्र स्वामी शास्त्रकी निर्विघ्न परिसमाप्ति आदिरूप फलकी अभिलाषा रखते हुए इष्टदेवता विशेषको नमस्कार करके कहते हैं :—

श्लोक-१
मंगलाचरण

अन्वयार्थ :—[यद्विद्या] जिनका ज्ञान [सालोकानाम्] अलोकाकाशसहित [त्रिलोकानाम्] तीन लोकको दर्पणके समान आचरण करता है, [निर्धूतकलिलात्मने] नष्ट कर दिये हैं पाप (ज्ञानावरणादिकर्मरूप पाप आत्मासे जिन्होंने अथवा नष्ट कर दिये हैं ज्ञानावरणादि-कर्मरूप पाप दूसरे आत्माओंके) जिन्होंने ऐसे [श्री वर्द्धमानाय] (अंतरंग और बहिरंग लक्ष्मीसे युक्त) श्री वर्द्धमानस्वामीके लिए (अथवा चौबीस तीर्थंकरोंके लिए) [नमः] नमस्कार हो॥१॥

टीकार्थ :—'श्रीवर्धमान' शब्दके दो अर्थ हैं—एक तो तीर्थनायक श्री वर्धमानस्वामी–अन्तिम तीर्थंङ्कर और दूसरा वृषभादि चौबीस तीर्थङ्करोंका समूह। प्रथम अर्थ में श्रीवर्धमान नाम अन्तिम तीर्थंकरका प्रसिद्ध है और द्वितीय अर्थमें श्रीवर्धमान शब्दकी व्याख्या

नोंध—इस ग्रंथमें सर्वत्र [] ऐसा चिन्ह मूल श्लोकके पदको सूचित करता है, और ( ) ऐसा चिन्ह आगे-पीछेकी संधिके लिए समझना।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ - ३६४२५०

वा। कथं? अव–समन्तादूर्द्धं परमातिशयप्राप्तं मानं केवलज्ञानं यस्यासौ वर्धमानः। 'अवाप्योरल्लोपः' इत्यवशब्दाकारलोपः। श्रिया बहिरंगयाऽन्तरंगया च समवसरणानन्त-चतुष्टयलक्षणयोपलक्षितो वर्धमानः श्रीवर्धमान इति व्युत्पत्तेः, तस्मै। कथंभूताय? 'निर्धूतकलिलात्मने' निर्धूतं [१]स्फोटितं कलिलं ज्ञानावरणादिरूपं पापमात्मन आत्मनां वा भव्यजीवानां येनासौ निर्धूतकलिलात्मा तस्मै। 'यस्य विद्या' केवलज्ञानलक्षणा। किं करोति? 'दर्पणायते' दर्पण इवात्मानमाचरति। केषां? 'त्रिलोकानां' त्रिभुवनानां। कथंभूतानां? 'सालोकानां' अलोकाकाशसहितानां। अयमर्थः—यथा दर्पणो निजेन्द्रियागोचरस्य मुखादेः

इस प्रकार है—[**'अव समन्तात् ऋद्धं परमातिशयप्राप्तं मानं केवलज्ञानं यस्यासौ'**—] जिनका केवलज्ञान सब ओर से परम अतिशयको प्राप्त है। इस अर्थमें अवर्धमान शब्द सिद्ध होता है परन्तु 'अवाप्योरल्लोपः'—अब और अपि उपसर्गके अकारका विकल्पसे लोप होता है—इस व्याकरणके नियमानुसार 'अव' उपसर्गके अकारका लोप हो जानेसे 'वर्धमान' शब्द सिद्ध हो जाता है। **'श्रिया वर्धमान इति श्रीवर्धमानः'** इस प्रकार श्रीशब्दके साथ समास कर 'श्रीवर्धमान' शब्द निष्पन्न होता है। श्रीका अर्थ लक्ष्मी होता है और वह लक्ष्मी बहिरङ्ग तथा अंतरङ्गके भेदसे दो प्रकारकी होती है। समवसरणरूप लक्ष्मी बहिरङ्ग लक्ष्मी और अनन्तचतुष्टयरूप लक्ष्मी अन्तरङ्ग लक्ष्मी कहलाती है। इस तरह 'श्रीवर्धमान' शब्दका अर्थ वृषभादि चौबीस तीर्थंकर होता है। उनको मैं नमस्कार करता हूँ।

जिन अन्तिम तीर्थङ्कर वर्धमानस्वामी अथवा चौबीस तीर्थंकरोंको नमस्कार किया गया है, उनकी विशेषता बतलाते हुए कहा गया है—**'निर्धूतकलिलात्मने'**—अर्थात् जिनकी आत्मासे ज्ञानावरणादि कर्मरूप कलिल—पाप समूल नष्ट हो गया है अथवा जिन्होंने दूसरे जीवोंके कर्मकलंकको नष्ट कर दिया है। प्रथम पक्ष द्वारा वर्धमान स्वामीकी वीतराग दशाका वर्णन किया गया है और द्वितीय पक्ष द्वारा उनके हितोपदेशी गुणका निरूपण किया है। जब यह जीव अपने दोषोंको नष्ट कर देता है तभी उसमें सर्वज्ञता प्रकट होती है और तभी उसे उपदेश देनेका अधिकार प्राप्त होता है;[२] इसलिए दूसरी विशेषता बतलाते हुए लिखा है—**'यद्विद्या सालोकानां त्रिलोकानां दर्पणायते'**—अर्थात् जिनकी केवलज्ञानरूपी विद्या अलोक सहित तीनों लोकोंको प्रकाशित करनेके लिये दर्पणके समान है—जो सर्वज्ञ अवस्थाको प्राप्त हैं। मनुष्यको अपना मुख अपनी चक्षु इन्द्रियसे नहीं दिखता, परन्तु दर्पण उसे दिखा देता

---

१. स्फेटितं घ०।

२. स्वदोषमूलं सुसमाधितेजसा निनाय यो निर्दयभस्मसात्क्रियाम्।
जगाद तत्त्वं जगतेऽर्थिनेऽञ्जसा बभूव च ब्रह्मपदामृतेश्वरः॥ —समन्तभद्र, स्वयंभूस्तोत्र १–४

Shri Digambar Jain Swadhyay Mandir Trust, Songadh - 364250

प्रकाशकस्तथा सालोकत्रिलोकानां तथाविधानां तद्विद्या प्रकाशिकेति। अत्र च पूर्वार्द्धेन भगवतः सर्वज्ञतोपायः, [१]उत्तरार्धेन च सर्वज्ञतोक्ता।।१।।

है। इसी प्रकार जो पदार्थ मनुष्यके इन्द्रियगोचर नहीं हैं, उन्हें केवलज्ञान दिखा देता है—प्रकाशित कर देता है।

यहाँ श्लोकके पूर्वार्धमें भगवानकी सर्वज्ञताका उपाय बतलाया गया है और उत्तरार्धमें सर्वज्ञताका निरूपण किया गया है। सर्वज्ञताकी प्राप्ति तब तक नहीं हो सकती जब तक कि वीतरागताकी प्राप्ति नहीं हो जाती। वीतरागता प्राप्त होने पर अन्तर्मुहूर्तके भीतर नियमसे सर्वज्ञता प्राप्त होती है।

भावार्थ :—जो समवसरणरूप बहिरंग लक्ष्मीसे तथा अनंत दर्शनादि अनंत चतुष्टयरूप अंतरंग लक्ष्मीसे विभूषित हैं, जिन्होंने अपने आत्माका और भव्य जीवोंके आत्माका (उपदेश द्वारा) ज्ञानावरणादि पापमल नाश किया है और जिनके केवलज्ञानरूपी दर्पणमें अलोकाकाश सहित छ द्रव्योंके समुदायरूप समस्त लोककी तथा स्वयंकी भूत, भविष्य और वर्तमानकी समस्त अनंतानंत पर्यायें युगपत् प्रतिबिम्बित होती हैं, ऐसे अंतिम तीर्थंकर श्री वर्धमान स्वामीको, ग्रंथकर्ता श्री समन्तभद्राचार्यदेवने नमस्कार किया है।

गाथाके पहले अर्धभागमें सर्वज्ञता प्राप्त करनेका उपाय बताया है। इसका अर्थ यह है कि जब भगवान स्वयं अपनी आत्मामें लीन हुए, उसी समय भावकर्मका नाश किया और निमित्तरूप जो ज्ञानावरणादि पापकर्म थे उनका अभाव हुआ। इस प्रकार दोनों प्रकारके कर्मोंका भावकर्म और द्रव्यकर्मका–अभाव होते ही भगवानको सर्वज्ञपना प्रकट हुआ; ऐसा समझना।

यह चरणानुयोगका श्रावकाचार शास्त्र है। इसका प्रयोजन मोक्षमार्गप्रकाशक अध्याय आठमें निम्नानुसार दर्शाया है।

''जो जीव तत्त्वज्ञानी होकर यह चरणानुयोगका अभ्यास करता है, उसको ये सभी आचरण स्वयंके वीतराग भावके अनुरूप भाषित होते हैं।''

''एकदेश या सर्वदेश वीतरागता होने पर ऐसी श्रावक-मुनिदशा होती है, क्योंकि एकदेश या सर्वदेश वीतरागता एवं श्रावक-मुनिदशाको निमित्त-नैमित्तिकपना होता है, ऐसा जानकर श्रावक-मुनिधर्मके भेदोंको पहिचानकर जैसा स्वयंको वीतरागभाव हुआ हो वैसा अपने योग्य धर्मको साधता है। उसमें भी जितने अंश वीतरागता हुई है उसको वह कार्यकारी जानता है, और जितना अंश राग रहता है उसे हेय जानता है तथा सम्पूर्ण वीतरागताको परम धर्म मानता है। इस प्रकारसे चरणानुयोग प्रयोजनवान है।''

---

१. उपायकर्म ग०।

अथ तन्नमस्कारकरणानन्तरं किं [1]कर्तुं लग्नो भवानित्याह—

देशयामि समीचीनं धर्मं कर्मनिबर्हणम्।
संसारदुःखतः सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे॥२॥

'देशयामि' [2]कथयामि। कं? 'धर्मं'। कथंभूतं? 'समीचीनं' अबाधितं तदनुष्ठातृणामिह परलोके चोपकारकं। कथं तं तथा निश्चितवन्तो भवन्त इत्याह 'कर्मनिबर्हणं' यतो धर्मः संसारदुःखसम्पादककर्मणां निबर्हणो विनाशकस्ततो यथोक्तविशेषणविशिष्टः। अमुमेवार्थं व्युत्पत्तिद्वारेणास्य समर्थयमानः संसारेत्याद्याह संसारे चतुर्गतिके दुःखानि शारीरमानसादीनि तेभ्यः 'सत्त्वान्' प्राणिन् उद्धृत्य 'यो धरति' स्थापयति। क्व? 'उत्तमे सुखे' स्वर्गापवर्गादिप्रभवे सुखे स धर्म इत्युच्यते॥२॥

उपरोक्त सिद्धान्तके अनुसार इस शास्त्रमें निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धकी मुख्यतासे कथन है। ऐसा जानकर नय विवक्षा अनुसार सर्वत्र यथार्थ भाव समझना। भगवानकी स्तुति करनी हो तब वैसा ही निमित्तपना दर्शानेमें आता है। (देखो, श्री प्रवचनसार गाथा १ से ५ तथा टीका)

अब आचार्यदेव नमस्कार करनेके पश्चात् क्या कहते हैं?—

श्लोक-२
धर्मोपदेश करनेकी प्रतिज्ञा

अन्वयार्थ—[यः] जो [सत्वान्] जीवोंको [संसारदुःखतः] संसारके दुःखोंसे छुड़ाकर [उत्तमे] उत्कृष्ट–स्वर्ग और मोक्षको देनेवाले [सुखे] सुखमें [धरति] धरता है, [तम्] उस [कर्म निबर्हणम्] कर्मोंके नाश करनेवाले [समीचीनं] समीचीन (सम्यग्) [धर्मम्] धर्मका [देशयामि] मैं उपदेश करता हूँ॥२॥

टीकार्थ :—ग्रन्थकर्ता श्रीसमन्तभद्रस्वामी प्रतिज्ञावाक्य कहते हैं कि मैं संसारसम्बन्धी दुःखोंको प्राप्त करानेवाले कर्मोंके विनाशक तथा इस लोक तथा परलोक—दोनोंमें उपकार करनेवाले उस धर्मका निरूपण करता हूँ जो जीवोंको चतुर्गतिरूप संसारमें होनेवाले शारीरिक, मानसिक एवं आगन्तुक दुःखों से निकालकर स्वर्ग और मोक्षके उत्तम सुखमें धारण करता है।

भावार्थ :—यहाँ पर श्री समन्तभद्राचार्यदेव प्रतिज्ञापूर्वक कहते हैं कि :

---

१. करोतिं घ०। २. प्रतिपादयामि ख० घ०।

अथैवंविधधर्मस्वरूपतां कानि प्रतिपद्यन्त इत्याह—

'मैं संसारी जीवोंके दुःखोंके कारणभूत कर्मोंके विनाशक ऐसे सम्यग्धर्मको कहता हूँ। जो धर्म जीवोंको चतुर्गतिरूप संसारके शारीरिक और मानसिक दुःखोंमेंसे छुड़ाकर–बचाकर उत्तम सुखमें–मोक्षसुखमें स्थापित करता है–धारण करता है।

विशेष

जो नरक-तिर्यंचादिक गतिमें परिभ्रमणरूप संसारके दुःखोंसे जीवोंको छुड़ाकर उत्तम अर्थात् अविनाशी अतिन्द्रिय मोक्ष सुखमें धारण करे वह धर्म। यह सत्य (निश्चय) धर्मका लक्षण है।

धर्म तो आत्माका स्वभाव है ''वस्तुस्वभावो धर्मो''। वह आत्मामें है। तीर्थ, मंदिर, मूर्ति आदि तथा देव-गुरु आदि पर पदार्थोंमें नहीं है। इसलिए स्वाश्रय द्वारा परका अवलम्बन छोड़कर अपने ज्ञाता-दृष्टारूप स्वभावका श्रद्धान, अनुभव तथा ज्ञायक स्वभावमें ही प्रवर्तनरूप आचरण करना, ये ही समीचीन निश्चय धर्म है।

प्रस्तुत श्लोकमें 'समीचीनं', 'कर्मनिबर्हणम्' और 'धरति उत्तमे सुखे' ये शब्द निश्चय धर्मको ही सूचित करते हैं। क्योंकि निश्चय धर्म ही जीवको उत्तम सुखमें धरनेवाला होनेसे समीचीन (सत्यार्थ–अबाधित) हो सकता है। इससे ही कर्मका नाश होता है और इससे ही उत्तम सुखकी प्राप्ति होती है।

व्यवहार धर्म शुभभावरूप है, वह आस्रव तत्त्व है, इससे कर्मबंध होता है पर कर्मका नाश नहीं होता। और इससे स्वर्गादिका सुख प्राप्त होता है। लेकिन मोक्षके सुख (उत्तम सुख)की प्राप्ति नहीं होती ऐसा टीकाकारका भाव समझना।

यह श्रावकाचार शास्त्र है। श्रावकका गुणस्थान पाँचवाँ होता है। मुनिपद धारण किये बिना और केवलज्ञान प्राप्त किये बिना कोई मोक्षको प्राप्त नहीं कर सकता। भगवानके कालमें भी चरमशरीरी जीव हों वे ही मोक्ष प्राप्त करते हैं।

श्रावकको तो सम्यक्त्वपूर्वक शुभोपयोग होता है। अतः शुभरागके कारण प्रशस्त फलभूत स्वर्गको ही प्रथम प्राप्त करता है, फिर मनुष्य होकर अल्पभवमें अपना पुरुषार्थ तीव्र करके मोक्ष पाता है। इस हेतु टीकाकार आचार्य स्वर्ग और मोक्षका सुख धर्मसे प्राप्त होता है ऐसा कहते हैं।

अब ऐसे धर्मस्वरूप किन भावोंको स्वीकृत किया जाता है यह कहते हैं।

सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः।
यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः॥३॥

दृष्टिश्च तत्त्वार्थश्रद्धानं, ज्ञानं च तत्त्वार्थप्रतिपत्तिः वृत्तं चारित्रं पापक्रिया-निवृत्तिलक्षणं। सन्ति समीचीनानि च तानि दृष्टिज्ञानवृत्तानि च। 'धर्मं' उक्तस्वरूपं। 'विदुः' वदन्ति प्रतिपादयन्ते। के ते? 'धर्मेश्वराः' रत्नत्रयलक्षणधर्मस्य ईश्वरा अनुष्ठातृत्वेन प्रतिपादकत्वेन च स्वामिनो जिननाथाः। कुतस्तान्येव धर्मो न पुनर्मिथ्यादर्शना-दीन्यपीत्याह—यदीयेत्यादि। येषां सद्दृष्ट्यादीनां सम्बन्धीनि यदीयानि तानि च तानि प्रत्यनीकानि च प्रतिकूलानि मिथ्यादर्शनादीनि 'भवन्ति' सम्पद्यन्ते। का? 'भवपद्धतिः' संसारमार्गः। अयमर्थः—यतः सम्यग्दर्शनादिप्रतिपक्षभूतानि मिथ्यादर्शनादीनि संसारमार्ग-भूतानि[1]। अतः सम्यग्दर्शनादीनि स्वर्गापवर्गसुखसाधकत्वाद्धर्मरूपाणि सिद्ध्यन्तीति॥३॥

श्लोक - ३
धर्मका लक्षण

अन्वयार्थ—[धर्मेश्वराः] रत्नत्रयस्वरूपधर्मके आचरण करनेवाले होनेसे और उपदेश देनेवाले होनेसे ईश्वर–जिनेन्द्र भगवान [सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि] सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको [धर्मम्] धर्म [विदुः] कहते हैं, [यदीयप्रत्यनीकानि] इनसे उलटे मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र [भवपद्धतिः] संसारके मार्ग–कारण [भवन्ति] होते हैं॥३॥

टीकार्थ :—रत्नत्रयरूप धर्मकी स्वयं आराधना करने तथा दूसरे जीवोंको उसका उपदेश देनेसे जिनेन्द्र भगवान धर्मके ईश्वर कहलाते हैं। उन्होंने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्रको ही धर्म कहा है क्योंकि इन तीनोंकी एकता ही इस जीवको संसारके दुःखोंसे निकालकर मोक्षके उत्तम सुखमें पहुँचाती है। सम्यग्दर्शनादिसे विपरीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र ये तीनों संसारके मार्ग हैं अर्थात् इन्हींके कारण जीव चतुर्गतिरूप संसारमें भ्रमण करते हुए दुःख भोगते हैं।

भावार्थ :—जिनेन्द्र भगवानने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रको (तीनोंकी एकताको) धर्म अर्थात् मोक्षमार्ग कहा है, और इससे विपरीत मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्रको संसारमार्ग कहा है। सम्यग्दर्शनादिरूप धर्म-रत्नत्रयरूप धर्म सुखका कारण है और मिथ्यादर्शनादिरूप अधर्म

१. प्रमाणैः प्रसिद्धान्यतः कारणात् ख०। प्रसिद्धान्यतः सम्यग्दर्शनादीन्यपवर्गसुख घ०।

संसार परिभ्रमणरूप दुःखका कारण है।

विशेष

विपरीत (अन्यथा) अभिनिवेश (अभिप्राय) रहित जीवादि तत्त्वोंका श्रद्धान वही सम्यग्दर्शन है। संशय विपर्यय और अनध्यवसाय रहित अपने आत्माका तथा परका यथार्थ ज्ञान वह सम्यग्ज्ञान है और सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक आत्मामें स्थिरता वह सम्यक्चारित्र है।

''.....श्री प्रवचनसारमें भी इन तीनोंकी एकाग्रता होते ही मोक्षमार्ग कहा है। अतः ऐसा जान करके'' 'तत्त्वश्रद्धान-ज्ञान बिना रागादिको घटाने पर भी मोक्षमार्ग नहीं कहलाता' और रागादि घटाये बिना तत्त्वश्रद्धान ज्ञान भी मोक्षमार्ग नहीं है, लेकिन इन तीनोंके मिलने पर ही साक्षात् मोक्षमार्ग होता है.....''

अज्ञानदशामें जीव अनेक प्रकारके दुःख भोग रहे हैं, इसका कारण अपने स्वरूपके बारेमें भ्रम है। इस भ्रमको 'मिथ्यादर्शन' अथवा विपरीत मान्यता कहते हैं। जहाँ अपने स्वरूपकी ही विपरीत मान्यता हो वहाँ अपने स्वरूपका ज्ञान भी विपरीत होता है इस विपरीत ज्ञानको 'मिथ्याज्ञान' कहा है। जहाँ अपने स्वरूपकी विपरीत मान्यता और विपरीत ज्ञान होता है वहाँ पर चारित्र भी विपरीत ही होता है; इस विपरीत चारित्रको 'मिथ्याचारित्र' कहते हैं। अनादिसे जीवोंको 'मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र' चला आ रहा है। इस हेतुसे जीव संसार परिभ्रमणके दुःख भोग रहे हैं।

चरणानुयोगका विधान श्री मोक्षमार्गप्रकाशकमें पृ. २८० पर है इसका उपयोगी भाग निम्नानुसार है :—

''चरणानुयोगमें जिसप्रकार जीवोंके अपनी बुद्धिगोचर धर्मका आचरण हो वैसा उपदेश दिया है। वहाँ धर्म तो निश्चयरूप मोक्षमार्ग है वही है, उसके साधनादिक उपचारसे धर्म हैं। इसलिए व्यवहारनयकी प्रधानतासे नानाप्रकार उपचार धर्मके भेदादिकोंका इसमें निरूपण किया जाता है; क्योंकि निश्चयधर्ममें तो कुछ ग्रहण-त्यागका विकल्प नहीं है और इसके निचली अवस्थामें विकल्प छूटता नहीं है; इसलिए इस जीवको धर्मविरोधी कार्योंको छुड़ानेका और धर्मसाधनादि कार्योंको ग्रहण करनेका उपदेश इसमें है।''

जहाँ निश्चयसहित व्यवहारका उपदेश हो, वहाँ सम्यग्दर्शनके अर्थ यथार्थ तत्त्वोंका श्रद्धान कराते हैं। उनका जो निश्चयस्वरूप है सो भूतार्थ है, व्यवहारस्वरूप है सो उपचार है—ऐसे श्रद्धान सहित व स्व-परके भेदज्ञान द्वारा परद्रव्यमें रागादि छोड़नेके प्रयोजन सहित उन तत्त्वोंका श्रद्धान करनेका उपदेश देते हैं। ऐसे श्रद्धानसे अरहन्तादिके सिवा अन्य

तत्र सम्यग्दर्शनस्वरूपं व्याख्यातुमाह—

देवादिक झूठ भासित हों तब स्वयमेव उनका मानना छूट जाता है, उसका भी निरूपण करते हैं। (पृष्ठ-२८४)

सम्यग्ज्ञानके अर्थे संशयादि रहित उन्हीं तत्त्वोंको उसी प्रकार जाननेका उपदेश देते हैं, उस जाननेका कारण जिनशास्त्रोंका अभ्यास है, इसलिये उस प्रयोजनके अर्थ जिनशास्त्रोंका भी अभ्यास स्वयमेव होता है; उसका निरूपण करते हैं। (पृष्ठ-२८४)

तथा सम्यक्चारित्रके लिये रागादि दूर करनेका उपदेश देते हैं। वहाँ वह पापक्रियासे एकदेश वा सर्वदेश छूटता है तथा मंदरागसे श्रावक-मुनियोंके व्रतोंकी प्रवृत्ति होती है तथा मंदरागादिका भी अभाव होते शुद्ध उपयोगकी प्रवृत्ति होती है उसका निरूपण करते हैं। (पृष्ठ-२८४)

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी एकताको मोक्षमार्ग कहो या इसीको सत्यार्थ धर्मका स्वरूप कहो दोनों एक ही है।

यहाँ टीकाकारने निश्चयके साथ व्यवहार धर्मके भी अर्थमें घटाया है। क्योंकि उन्होंने टीकामें सम्यग्दर्शनादिको स्वर्ग-मोक्ष सुखका साधन कहा है।

शास्त्रोंमें निम्नानुसार धर्मका अर्थ किया गया है—

(१) निश्चयधर्म :—जो स्वाश्रित है एवं साक्षात् मोक्षका कारण है।

(२) व्यवहारधर्म :—रूढिसे कहा जानेवाला शुभरागरूप धर्म पराश्रित है और संसारका कारण है।

(३) निश्चयके साथ व्यवहारधर्म :—जहाँ आंशिकरूपसे आत्माकी शुद्धि प्रगटी हो उससे संवर-निर्जरा होती है और आंशिक अशुद्धि होती है इससे आस्रव और बंध होता है। चौथा गुणस्थान अर्थात् अविरत सम्यग्दृष्टिसे सत्यधर्मकी शुरूआत होती है। शास्त्रोंमें कई जगह इस धर्मको ही मोक्षका परंपरासे कारण कहनेमें आया है। अकेले शुभरागको धर्म नहीं कहा है।

धर्मके अनेक अर्थ होते हैं इसलिए पूर्वापर जैसा सम्बन्ध होता है उसका वैसा ही अर्थ सोचना चाहिए। ऐसा कहा है कि—

''जहाँ-जहाँ जो-जो योग्य हो तहाँ समझना तेह'' । ३

उसमें सम्यग्दर्शनके स्वरूपका व्याख्यान करते हुए कहते हैं।

२

श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम्।
त्रिमूढापोढमष्टाङ्गं सम्यग्दर्शनमस्मयम्॥४॥

सम्यग्दर्शनं भवति। किं? 'श्रद्धानं' रुचिः। केषां? 'आप्तागमतपोभृतां' वक्ष्यमाण-स्वरूपाणां। न चैवं षड्द्रव्यसप्ततत्त्वनवपदार्थानां श्रद्धानमसंगृहीतमित्याशंकनीयं [१]आगम-श्रद्धानादेव तच्छ्रद्धानसंग्रहप्रसिद्धेः। अबाधितार्थप्रतिपादकमाप्तवचनं ह्यागमः। तच्छ्रद्धाने तेषां श्रद्धानं सिद्धमेव। किंविशिष्टानां तेषां? 'परमार्थानां' परमार्थभूतानां न पुनर्बौद्धमत[२] इव कल्पितानां। कथंभूतं श्रद्धानं? 'अस्मयं' न विद्यते वक्ष्यमाणो ज्ञानदर्पाद्यष्टप्रकारः स्मयो गर्वो यस्य तत्[३]। पुनरपि किंविशिष्टं[४]? 'त्रिमूढापोढं' त्रिभिर्मूढैर्वक्ष्यमाणलक्षणैरपोढं रहितं यत्।

श्लोक - ४
सम्यग्दर्शनका लक्षण

अन्वयार्थ—[परमार्थानाम्] सत्य [आप्तागमतपोभृताम्] देव, शास्त्र और गुरुका [त्रिमूढापोढम्] तीन मूढतासे रहित [अस्मय] आठ गर्वसे रहित और [अष्टांगम्] आठ अंग सहित [श्रद्धानम्] श्रद्धान करना [सम्यग्दर्शनम्] सम्यग्दर्शन है॥४॥

टीकार्थ :—आप्त—देव, आगम—शास्त्र और तपोभृत—गुरुका जो स्वरूप कहा गया है उस स्वरूपसे सहित आप्त, आगम और तपोभृतका दृढ़ श्रद्धान करना सो सम्यग्दर्शन है। यह सम्यग्दर्शन लोकमूढ़ता, देवमूढ़ता और गुरुमूढ़ता इन तीन मूढ़ताओंसे रहित होता है। निःशङ्कितत्व, निःकांक्षितत्व, निर्विचिकित्सतत्व, अमूढ़दृष्टित्व, उपगूहन, स्थितीकरण, वात्सल्य और प्रभावना इन आठ अङ्गोंसे सहित होता है तथा ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप और शरीर इन आठके मदसे रहित होता है। यहाँ कोई यह शंका करे कि अन्य शास्त्रोंमें छह द्रव्य, सात तत्त्व तथा नौ पदार्थोंके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहा है परन्तु यहाँ आचार्यने देव–शास्त्र–गुरुकी प्रतीतिको सम्यग्दर्शन कहकर अन्य शास्त्रोंमें प्रतिपादित लक्षणका संग्रह नहीं किया है, तो इस शंकाका समाधान यह है कि आगमके श्रद्धानसे ही छह द्रव्य, सात तत्त्व तथा नौ पदार्थोंके श्रद्धानरूप लक्षणका संग्रह हो जाता है, क्योंकि **'अबाधितार्थप्रतिपादकमाप्त-वचनं ह्यागमः'**—'अबाधित' अर्थका कथन करनेवाला जो आप्तका वचन है वही आगम

---

१. आप्तागमश्रद्धानादेव ख०।
२. बौद्धमत इव घ०।
३. न विद्यंते स्मया वक्ष्यमाणा यत्र इत्यादिपाठः ख०।
४. कथंभूतं ख०।

'अष्टांगं' अष्टौ वक्ष्यमाणानि निःशंकितत्वादीन्यंगानि स्वरूपाणि यस्य॥४॥

है।' आगमका यह लक्षण शास्त्रकारोंने स्वीकृत किया है। इसलिए आगमके श्रद्धानमें ही छह द्रव्य आदिका श्रद्धान संगृहीत हो जाता है।

भावार्थ :—सच्चे देव, सच्चे आगम और सच्चे गुरु–ये तीनोंका तीन मूढ़ता रहित, अष्टांग सहित एवं आठ मद रहित श्रद्धान करना वही सम्यग्दर्शन है।

विशेष

प्रश्न :–मोक्षशास्त्रादि ग्रंथोंमें तत्त्वोंके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहा है। जब की यहाँ सच्चे देव-शास्त्र-गुरुके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहा है। ऐसे दोनों लक्षणोंमें विरोध आता है?

समाधान :–नहीं। कोई विरोध नहीं आता है, क्योंकि पदार्थोंके प्रतिपादन करनेवाले सच्चे देव हैं। उनके अबाधित वचनोंको ही आगम कहनेमें आता है। इन आगमके श्रद्धानसे इसमें कहे गये 'तत्त्वोंके–पदार्थोंके श्रद्धानका' ग्रहण अपने आप आ जाता है। इस प्रकार जहाँ पदार्थोंके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहा है वहाँ उसके प्रतिपादक देवके श्रद्धानका ग्रहण अपने आप आ जाता है।

सच्चे भगवान (आप्त) बिना सच्चा आगम किस प्रकार प्रगट होगा? और बाधा रहित आगमके सच्चे उपदेश बिना सात तत्त्वादिका श्रद्धान किस प्रकार होगा? इस कारण तत्त्वादिके श्रद्धानका मूल कारण सत्यार्थ आप्त (भगवान) ही हैं।

मोक्षमार्ग प्रकाशकमें कहा है कि—

''अरिहंतके जो विशेषण हैं उसमेंसे कोई तो जीवाश्रित हैं और कोई पुद्गलाश्रित हैं, उनमेंसे जीवके यथावत् विशेषणोंको जाने तो जीव मिथ्यादृष्टि रह ही नहीं सकता''।
(देखो मोक्षमार्ग प्रकाशक सातवाँ अधिकार, पृष्ठ-२२६)

''सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी एकतारूप मोक्षमार्ग है। यह ही मुनिका सच्चा लक्षण है। इसको जीव यथावत् जाने तो वह मिथ्यादृष्टि रह ही नहीं सकता। (पृष्ठ २२७)

''यहाँ (आगममें तो) अनेकान्तरूप जीवादि तत्त्वोंका सच्चा निरूपण है तथा सच्चा रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग दर्शाया है, इसलिए यहाँ जैन शास्त्रोंकी उत्कृष्टता है। जिसको अज्ञानी जानता नहीं, क्योंकि जब इसकी पहिचान हो जाए तो वह मिथ्यादृष्टि रहे ही नहीं।'
(पृष्ठ-२२८)

इस सिद्धान्तके अनुसार इस गाथामें निश्चय सम्यग्दर्शनकी व्याख्या की है।४

तत्र सद्दर्शनविषयतयोक्तस्याप्तस्य स्वरूपं व्याचिख्यासुराह—

आप्तेनोत्सन्नदोषेण[1] सर्वज्ञेनागमेशिना।
भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत्॥५॥

'आप्तेन, भवितव्यं, 'नियोगेन' निश्चयेन नियमेन वा। किंविशिष्टेन? 'उत्सन्नदोषेण' नष्टदोषेण। तथा 'सर्वज्ञेन' सर्वत्र विषयेऽशेषविशेषतः परिस्फुटपरिज्ञानधृता नियोगेन भवितव्यं। तथा 'आगमेशिना' भव्यजनानां हेयोपादेयतत्त्वप्रतिप्रतिहेतुभूतागमप्रतिपादकेन [2]नियमेन भवितव्ययं। कुत एतदित्याह–'नान्यथा ह्याप्तता भवेत्'। 'हि' यस्मात् अन्यथा उक्तविपरीतप्रकारेण, आप्तता न भवेत्॥५॥

उसमें सम्यग्दर्शनके विषयरूप कहे गये आप्तका स्वरूप कहनेकी अभिलाषासे कहते हैं।

श्लोक-५
सत्यार्थ आप्तका (सच्चे देवका) लक्षण

अन्वयार्थ—[नियोगेन] नियमसे [उत्सन्नदोषेण] क्षुधा आदि अठारह दोषोंसे रहित [सर्वज्ञेन] सर्वज्ञ और [आगमेशिना] आगमका स्वामी हितोपदेशी [आप्तेन] आप्त-देव [भवितव्यं] होता है, [हि] कारण कि [अन्यथा] दूसरे प्रकारसे-ऊपर कहे हुए उन तीनों गुणोंके बिना [आप्तता] सत्यदेवपना [न] नहीं [भवेत्] हो सकता है॥५॥

टीकार्थ :—जिसके क्षुधा, पिपासा आदि शारीरिक तथा रागद्वेषादिक आन्तरिक दोष नष्ट हो चुके हैं, जो समस्त पदार्थोंको उनकी समस्त विशेषताओंके साथ स्पष्ट रूपसे जानता है तथा जो आगमका स्वामी है अर्थात् जिसकी दिव्यध्वनिको सुनकर गणधर द्वादशाङ्गरूप आगमकी रचना करते हैं, इस तरह जो भव्य जीवोंको हेय और उपादेय तत्त्वोंका ज्ञान करानेवाले आगमका मूल प्रतिपादक है, वही पुरुष आप्त—सच्चा देव हो सकता है। यह नियम है; क्योंकि इन विशेषताओंके अभाव में आप्तपना नहीं हो सकता।

भावार्थ :—जिसमें वीतरागता (निर्दोषपना), सर्वज्ञता और परम हितोपदेशकपना ये तीनों गुण होते हैं उन्हें ही आप्त (भगवान) कहते हैं, यह तीनों लक्षण (गुण) बिना भगवानपना (आप्तपना) सम्भव नहीं है।

---

१. 'च्छि' पाठान्तरं घ०। २. नियोगेन, ख, ग।

अथ के पुनस्ते दोषा ये [1]तत्रोत्सन्ना इत्याशंक्याह—

आप्तमें क्षुधा-तृषादिक अठारह दोष नहीं हैं, इस कारणसे वे निर्दोष हैं–वीतराग हैं। भगवान त्रिकालवर्ती समस्त गुण-पर्याय सहित समस्त जीव-पुद्गल, धर्म-अधर्म, आकाश, कालकी अनंत पर्यायोंको युगपत् प्रत्यक्ष जानते हैं, इस कारणसे भगवान सर्वज्ञ हैं और भगवान दिव्यध्वनि द्वारा द्वादशांग आगमके मूल उपदेशक हैं इस कारण भगवान आगमके ईश(स्वामी) हैं।

विशेष

प्रश्न :—आप्तमें ये तीनों लक्षण क्यों कहे हैं? एक निर्दोषतामें (वीतरागतामें) ही सभी लक्षण क्या नहीं आ जाते?

समाधान :—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, कालादिमें क्षुधा, तृषा, राग, द्वेषादिक दोष नहीं हैं, इस कारण ये सभी निर्दोष हैं। अब अगर निर्दोषता ही भगवानका लक्षण हो तो पुद्गल आदि भी आप्त ठहरेंगे। पर आप्त तो चेतन हैं और पुद्गलादि तो जड़ है; इस प्रकार जड़ चेतन ठहरेगा। इसमें अतिव्याप्ति दोष आयेगा।

अगर निर्दोषता (वीतरागता) और सर्वज्ञता ये दोनों लक्षण जिसमें हो उसीको आप्त (भगवान) माने तो यह दोनों लक्षण तो सिद्धमें भी हैं, इस कारण सिद्ध भी आप्त ठहरेंगे। लेकिन सिद्धमें हितोपदेशीपनेका अभाव है इस कारण सिद्ध आप्त नहीं हैं। इसमें भी अतिव्याप्ति दोष आता है।

इसलिए वीतरागता, सर्वज्ञता और परम हितोपदेशकता ये तीनों गुणों सहित देवाधिदेव परम औदारिक शरीरमें स्थित भगवान सर्वज्ञ वीतराग अरहंतको ही आप्तपना है। दूसरेको नहीं ऐसा निश्चय करना। यही आप्तका निर्दोष लक्षण है।

यहाँ आप्तका स्वरूप कहा है। इसको यथावत् जीवाश्रित और पुद्गलाश्रित ऐसे विशेषणोंके भेदज्ञानपूर्वक जाने वे जीव मिथ्यादृष्टि रह नहीं सकते। इस हेतुसे श्लोक ५ से ८ तक आप्तका स्वरूप कहा है।

अठारह दोष रहित आप्त (देव)का लक्षण

---

१. येत्रोत्सन्ना घ०।

क्षुत्पिपासाजरातङ्कजन्मान्तकभयस्मयाः।
न रागद्वेषमोहाश्च यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते॥६॥

क्षुच्च बुभुक्षा। पिपासा च तृषा। जरा च वृद्धत्वं। आतङ्कश्च व्याधिः। जन्म च कर्मवशाच्चतुर्गतिषूत्पतिः। अन्तकश्च मृत्युः। भयं चेहपरलोकात्राणागुप्ति मरणवेदनाऽऽकस्मिकलक्षणं। स्मयश्च जातिकुलादिदर्पः। रागद्वेषमोहाः प्रसिद्धाः। चशब्दाच्चिन्ताऽरति-निद्राविस्मय[1] मदस्वेदखेदा गृह्यन्ते। एतेऽष्टादशदोषा यस्य न सन्ति स आप्तः 'प्रकीर्त्यते' प्रतिपाद्यते। ननु चाप्तस्य भवेत् क्षुत्, क्षुदभावे आहारादौ प्रवृत्त्यभावाद्देहस्थितिर्न स्यात्।

श्लोक-६
वीतरागका लक्षण

अन्वयार्थ—[क्षुत्पिपासाजरातंकजन्मांतकभयस्मयाः] क्षुधा, तृषा, बुढापा, रोग, जन्म, मरण, भय, गर्व [रागद्वेषमोहाः] राग, द्वेष, मोह [च] और (चिन्ता, अरति, निद्रा, विस्मय, पसीना तथा खेद) ये अठारह दोष [यस्य] जिनके [न] नहीं [संति] होते हैं [सः] वे [आप्तः] आप्त (सत्यदेव) [प्रकीर्त्यते] कहलाते हैं॥६॥

टीकार्थ :—'क्षुधा' भूखको कहते हैं, 'पिपासा' प्यासको कहते हैं, 'जरा' वृद्धावस्थाको कहते हैं, वात, पित्त तथा कफके विकारसे होनेवाले रोगोंको 'व्याधि' कहते हैं। कर्मोंकी आधीनतासे चारों गतियोंमें उत्पत्ति होना जन्म कहलाता है, अन्त मृत्युको कहते हैं, इहलोक, परलोक, अत्राण, अगुप्ति, मरण, वेदना और आकस्मिकके भेदसे भय सात प्रकारका है, जाति, कुल आदिके गर्वको स्मय अथवा अहंकार कहते हैं इष्ट वस्तुओंमें प्रीतिरूप परिणाम होना राग कहलाता है, अनिष्ट वस्तुओंमें अप्रीतिरूप परिणाम होना द्वेष कहलाता है, शरीरादिक परवस्तुओंमें अहंबुद्धि करना मोह कहलाता है। श्लोकमें आये हुए च शब्दसे चिन्ता, अरति, निद्रा, विस्मय, मद, स्वेद और खेद इन सात दोषोंका संग्रह पृथक्से होता है। इष्ट वस्तुका वियोग होनेपर उसकी प्राप्तिके लिये तथा अनिष्ट वस्तुका संयोग होनेपर उसे दूर करने के लिये परिणामोंमें जो विकलता होती है उसे चिन्ता कहते हैं। अनिष्ट वस्तुओंका समागम होनेपर जो अप्रसन्नता होती है उसे अरति कहते हैं, निद्राका अर्थ प्रसिद्ध है। इसके निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला और स्त्यानगृद्धिके भेदसे पाँच भेद होते हैं। आश्चर्यरूप परिणामको विस्मय कहते हैं, नशाको मद कहते हैं, पसीनाको स्वेद कहते हैं और थकावटको खेद कहते

१. अस्य स्थाने 'विषाद' इति पाठः ख, ग, घ०।

अस्ति चासौ, तस्मादाहारसिद्धिः। तथा हि। भगवतो देहस्थितिराहारपूर्विका, देहस्थितित्वादस्मदादिदेहस्थितिवत्। जैनेनोच्यते[1]—अत्र किमाहारमात्रं[2] साध्यते कवलाहारो वा। प्रथमपक्षे सिद्धसाधनता 'आसयोगकेवलिन आहारिणो जीवा' इत्यागमाभ्युपगमात्। द्वितीयपक्षे तु देवदेहस्थित्या व्यभिचारः। देवानां सर्वदा कवलाहाराभावेऽप्यस्याः संभवात्।

हैं। क्षुधा, पिपासा आदि सब मिलानेपर अठारह दोष होते हैं। ये सब दोष जिसमें नहीं हैं वही आप्त कहलाता है।

यहाँ कोई आशङ्का करता है कि आप्त (भगवान)के भी क्षुधा होना चाहिये, क्योंकि क्षुधाका अभाव होने पर आहारादिकमें प्रवृत्ति नहीं होगी और आहारादिकमें प्रवृत्ति न होनेसे शरीरकी स्थिति नहीं रह सकेगी। आप्तके शरीरकी स्थिति है। अतः उससे आहारकी भी सिद्धि होती है। यहाँ निम्न प्रकारका अनुमान होता है—आप्त भगवानकी शरीरस्थिति आहारपूर्वक होती है क्योंकि वह शरीरस्थिति है, हमारे आदिकी शरीरस्थितिके समान। जिस प्रकार हमारा शरीर आहारके बिना स्थिर नहीं रहता, उसी प्रकार भगवानका शरीर भी आहारके बिना स्थिर नहीं रह सकता, चूँकि उनका शरीर देशोनकोटि वर्षपूर्व तक स्थिर रह सकता है। अतः उनके आहार अवश्य होगा और जब आहार होगा तब क्षुधाका मानना अनिवार्य हो जायेगा?

इस आशङ्काके उत्तरमें जैनाचार्य कहते हैं कि भगवानको आहारमात्र सिद्ध किया जा रहा है या कवलाहार? प्रथम पक्षमें सिद्धसाधनता दोष आता है, क्योंकि 'सयोगकेवली पर्यन्तके जीव आहारक' हैं ऐसा आगममें स्वीकृत किया गया है। और दूसरे पक्षमें देवोंकी शरीरस्थितिके साथ व्यभिचार आता है, क्योंकि देवोंके सदा कवलाहारका अभाव होने पर भी शरीरकी स्थिति देखी जाती है। यदि यहाँ कोई यह कहे कि देवोंके मानसिक आहार होता है उससे उनके शरीरकी स्थिति देखी जाती है, तो इसका उत्तर यह है कि केवली भगवानको कर्म तथा नोकर्माहार होता है उससे उनके शरीरकी स्थिति रह सकती है। यदि यहाँ यह कहा जावे कि आप्तका शरीर

---

१. जैनेनोच्यते ख–पुस्तके नास्ति। जैनैर्न तदुच्यते घ।

२. णोकम्म कम्महारो कवलाहारो य लेप्पमाहारो।
ओज मणो हि य कमसो आहारो छव्विहो णेओ॥
णोकम्मं तित्थयरे कम्मं णारेय माणसो अमरे।
कवलाहारो णर–पसु ओज्जो पक्खीण लेप्प रुक्खाणं।
विग्गहगइमावण्णा केवलिणो सम्मुहदो अजोगी य।
सिद्धा य अणाहारा सेसा आहारिणो जीवा॥

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ - ३६४२५०

अथ[1] मानसाहारात्तेषां तत्स्थितिस्तर्हि[2] केवलिनां कर्मनोकर्माहारात् सास्तु। अथ मनुष्यदेहस्थितित्वादस्मदादिवत्सा तत्पूर्विका इष्यते तर्हि तद्वदेव तद्देहे सर्वदा निःस्वेदत्वाद्य-भावः स्यात्। अस्मदादावनुपलब्धस्यापि तदतिशयस्य तत्र संभवे भुक्त्यभावलक्षणोऽप्यतिशयः किं न स्यात्। किं च अस्मदादौ दृष्टस्य धर्मस्य भगवति सम्प्रसाधने तज्ज्ञानस्येन्द्रिय[3] जिनतत्वप्रसंगः। तथा हि—भगवतो ज्ञानमिन्द्रियजं ज्ञानत्वात् अस्मदादिज्ञानवत्। अतो भगवतः केवलज्ञानलक्षणातीन्द्रियज्ञानासंभवात् सर्वज्ञत्वाय दत्तो जलाञ्जलिः। ज्ञानत्वाविशेषेऽपि तज्ज्ञानस्यातीन्द्रियत्वे देहस्थितित्त्वाविशेषेऽपि तद्देहस्थितेरकवलाहारपूर्वकत्वं

हमारे आदिके शरीरके समान मनुष्यका शरीर है इसलिये जिस प्रकार हमारे आदिका शरीर आहारके बिना नहीं रहता उसी प्रकार आप्तका शरीर भी आहारके बिना नहीं रहता। इसका उत्तर यह है कि यदि आहारकी अपेक्षा आप्त भगवान और हमारे आदिके शरीरकी तुलना की जाती है तो जिस प्रकार आप्तके शरीरमें पसीना आदिका अभाव है उसी प्रकार हमारे आदिके शरीरमें भी पसीना आदिका अभाव होना चाहिए क्योंकि मनुष्यशरीरत्वरूप हेतु दोनोंमें विद्यमान है। इसके उत्तरमें यदि यह कहा जावे कि हमारे आदिके शरीरमें वह अतिशय नहीं पाया जाता जिससे कि पसीना आदिका अभाव होता है परन्तु केवली भगवानके यह अतिशय रहता है जिसके कारण उनके शरीरमें पसीना आदि नहीं होता, तो उसका उत्तर यह है कि जब आप्त भगवानके पसीना आदिके अभावका अतिशय माना जाता है तब भोजनके अभावका अतिशय क्यों नहीं हो सकता? दूसरी बात यह है कि जो धर्म हमारे आदिमें देखा जाता है; वह यदि भगवानमें भी सिद्ध किया जाता है तो जिस प्रकार हमारे आदिका ज्ञान इन्द्रियजनित है उसी प्रकार भगवानका ज्ञान भी इन्द्रियजनित मानना चाहिये। इसके लिए निम्न प्रकारका अनुमान किया जा सकता है—**'भगवतो ज्ञानमिन्द्रियजं ज्ञानत्वात् अस्मदादिज्ञानवत्'**—भगवानका ज्ञान इन्द्रियजनित है क्योंकि वह ज्ञान है हमारे आदिके ज्ञानके समान। इस अनुमानसे अरहंत भगवानके केवलज्ञानरूप अतीन्द्रियज्ञान असंभव हो जावेगा और तब सर्वज्ञताके लिए जलाञ्जलि देनी पड़ेगी। यदि यह कहा जावे कि हमारे और उनके ज्ञानमें ज्ञानत्वकी अपेक्षा समानता होने पर भी उनका ज्ञान अतीन्द्रिय है तो इसका उत्तर यह है कि हमारे और उनके शरीरस्थितिकी समानता होनेपर भी उनकी शरीरस्थिति अकवलाहारपूर्वक क्यों नहीं हो सकती?

---

१. 'अथ मानसाहारास्तेषां तत्रस्थितिस्तर्हि केवलिनां कर्मनोकर्माहारात्' इति पाठो घ पुस्तके नास्ति।

२. 'तर्हि' इति ख, ग पुस्तकयोर्नास्ति।

३. तज्ज्ञानस्येन्द्रियजत्व–घ०।

Shri Digambar Jain Swadhyay Mandir Trust, Songadh - 364250

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ - ३६४२५०

किं न स्यात्। वेदनीयसद्भावात्तस्य बुभुक्षोत्पत्तेर्भोजनादौ प्रवृत्तिरित्युक्तिरनुपपन्ना; मोहनीयकर्मसहायस्यैव वेदनीयस्य बुभुक्षोत्पादने सामर्थ्यात्। 'भोक्तुमिच्छा हि बुभुक्षा', सा मोहनीयकर्मकार्यत्वात् कथं प्रक्षीणमोहे भगवति स्यात्? अन्यथा रिरंसाया अपि तत्र प्रसंगात् कमनीयकामिन्यादिसेवाप्रसक्तेरीश्वरादेस्तस्याविशेषाद्वीतरागता न स्यात्। विपक्षभावनावशाद्रागादीनां हान्यतिशयदर्शनात् केवलिनि तत्परमप्रकर्षप्रसिद्धेर्वीतरागतासंभवे भोजनाभावपरमप्रकर्षोऽपि तत्र किं न स्यात्, तद्भावनातो भोजनादावपि हान्यतिशयदर्शनाविशेषात्। तथा हि—एकस्मिन् दिने योऽनेकवारान् भुंक्ते, कदाचित् विपक्षभावनावशात् स एव पुनरेकवारं भुंक्ते। कश्चित् पुनरेकदिनाद्यन्तरितभोजन; अन्यः पुनः पक्षमाससंवत्सराद्यन्तरितभोजन इति। किं च—बुभुक्षापीडानिवृत्तिर्भोजनरसास्वादनाद्भवेत् तदास्वादनं चास्य रसनेन्द्रियात् केवलज्ञानाद्वा? रसनेन्द्रियाच्चेत् मतिज्ञानप्रसंगात्

अरहन्त भगवानके वेदनीयका उदय रहने से बुभुक्षा—भोजन करनेकी इच्छा उत्पन्न होती है, इसलिए भोजनादिमें उनकी प्रवृत्ति होती है, यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि जिस वेदनीयके साथ मोहनीयकर्म सहायक रहता है वही बुभुक्षाके उत्पन्न करनेमें समर्थ होता है। भोजन करनेकी इच्छाको बुभुक्षा कहते हैं। वह बुभुक्षा मोहनीयकर्मका कार्य है। अतः जिनके मोहका सर्वथा क्षय हो चुका है ऐसे अरहन्त भगवानके वह कैसे हो सकती है? यदि ऐसा न माना जावेगा तो फिर रिरंसा(स्त्रीके साथ)—रमण करनेकी इच्छा भी उनके होना चाहिए। और उसके होनेपर सुन्दर स्त्री आदिके सेवनका प्रसंग आ जावेगा। उसके आनेपर अरहंत भगवानकी वीतरागता ही समाप्त हो जावेगी। यदि यह कहा जाये कि विपरीत भावनाओंके वशसे रागादिककी हीनताका अतिशय देखा जाता है अर्थात् रागादिकके विरुद्ध भावना करनेसे रागादिकमें ह्रास देखा जाता है। केवली भगवानके रागादिकका ह्रास अपनी चरम सीमाको प्राप्त हो जाता है, इसलिए उनकी वीतरागतामें बाधा नहीं आती? इसका उत्तर यह है कि यदि ऐसा है तो उनके भोजनाभावको परमप्रकर्षता क्यों नहीं हो सकती? क्योंकि भोजनाभावकी भावनासे भोजनादिकमें भी ह्रासका अतिशय देखा जाता है। जैसे जो पुरुष एक दिनमें अनेक बार भोजन करता है वही पुरुष कभी विपरीत भावनाके वशसे एक बार भोजन करता है। कोई पुरुष एक दिनके अन्तरसे भोजन करता है और कोई पुरुष पक्ष, मास तथा वर्ष आदिके अन्तरसे भोजन करता है।

दूसरी बात यह भी है कि अरहन्त भगवानके जो बुभुक्षा सम्बन्धी पीड़ा होती है और उसकी निवृत्ति भोजनके रसास्वादसे होती है तो यहाँ पूछना यह है कि वह रसास्वादन उसके रसना इन्द्रियसे होता है या केवलज्ञानसे? यदि रसना इन्द्रियसे होता है ऐसा माना जाय तो

Shri Digambar Jain Swadhyay Mandir Trust, Songadh - 364250

केवलज्ञानाभावः स्यात्। केवलज्ञानाच्चेत् किं भोजनेन? दूरस्थस्यापि त्रैलोक्योदरवर्तिनो रसस्य परिस्फुटं तेनानुभवसंभवात्। कथं चास्य केवलज्ञानसंभवो भुंजानस्य श्रेणीतः पतितत्वं प्रमत्तगुणस्थानवर्तित्वात्। अप्रमत्तो[1] हि साधुराहारकथामात्रेणापि प्रमत्तो भवति नार्हन्भुजानोऽपीति महच्चित्रं। अस्तु तावज्ज्ञानसंभवः तथाप्यसौ केवलज्ञानेन पिशिताद्यशुद्धद्रव्याणि पश्यन् कथं भुंजीत अन्तरायप्रसंगात्। गृहस्था अप्यल्पसत्वास्तानि पश्यन्तोऽन्तरायं कुर्वन्ति किं पुनर्भगवाननन्तवीर्यस्तन्न कुर्यात्। तदकरणे वा तस्य तेभ्योऽपि हीन[3] सत्त्वप्रसंगात्। क्षुत्पीडासंभवे चास्य कथमनन्तसौख्यं स्यात् यतोऽनन्तचतुष्टय-स्वामितास्य। न हि सान्तरायस्यानन्तता युक्ता ज्ञानवत्। न च बुभुक्षा पीडैव न भवतीत्यभिधातव्यं ''क्षुधासमा नास्ति शरीरवेदना'' इत्यभिधानात्। तदलमतिप्रसंगेन प्रमेयकमलामार्तण्डे न्यायकुमुदचन्द्रे च प्रपञ्चतः प्ररूपणात्॥६॥

मतिज्ञानका प्रसंग आनेसे केवलज्ञानका अभाव हो जायगा। इस दोषसे बचनेके लिये यदि केवलज्ञानसे रसास्वादन माना जाय तो फिर भोजनकी आवश्यकता ही क्या है? क्योंकि केवलज्ञानके द्वारा तो तीन लोकके मध्यमें रहनेवाले दूरवर्ती रसका भी अच्छी तरह अनुभव हो सकता है। एक बात यह भी है कि भोजन करनेवाले अरहन्तके केवलज्ञान भी कैसे हो सकता है? क्योंकि भोजन करते समय वे श्रेणीसे पतित होकर प्रमत्तविरत गुणस्थानवर्ती हो जावेंगे। जब अप्रमत्तविरत साधु, आहारकी कथा करने मात्रसे प्रमत्त हो जाता है तब अरहन्त भगवान भोजन करते हुए भी प्रमत्त न हों यह बड़ा आश्चर्य है। अथवा केवलज्ञान मान भी लिया जाय तो भी केवलज्ञानके द्वारा मांस आदि अशुद्ध द्रव्योंको देखते हुए अंतरायका प्रसंग आनेसे वे कैसे भोजन कर सकते हैं? अल्पशक्तिके धारक गृहस्थ भी जब मांसादिकको देखते हुए अन्तराय करते हैं तब अनन्तवीर्यके धारक अरहन्त भगवान क्या अन्तराय नहीं करेंगे? यदि नहीं करते हैं तो उनसे भी हीन शक्तिका प्रसंग आता है। यदि अरहंत भगवानके क्षुधा सम्बन्धी पीड़ा होती है तो उनके अनन्तसुख किस प्रकार हो सकता है? जब कि वे अनन्तचतुष्टयके स्वामी नियमसे होते हैं। जो अन्तरायसे सहित हैं उसके ज्ञानके समान सुखकी अनन्तता नहीं हो सकती। अर्थात् जिस प्रकार अन्तराय सहित ज्ञानमें अनन्तता नहीं होती उसी प्रकार अन्तराय सहित अरहन्तके सुखमें अनन्तता नहीं हो सकती। 'क्षुधा पीड़ा ही नहीं है' ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि लोकमें यह उक्ति प्रसिद्ध है **'क्षुधासमा नास्ति शरीरवेदना'** क्षुधाके समान शरीरकी पीड़ा दूसरी नहीं है। इस विषयका अधिक विस्तार करना व्यर्थ है क्योंकि प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रमें विस्तारसे इसका निरूपण किया गया है।

---

१. अप्रमत्तोऽपि ख। २. सत्त्वानि ख, ग। ३. हीनत्व ख।

भावार्थ :—आप्तमें (सच्चे देवमें) क्षुधा, तृषा आदि अठारह दोष नहीं होते हैं इस कारण भगवान वीतराग कहलाते हैं। इन दोषोंमें भय, राग, द्वेष, मोह, चिन्ता, खेद, मद (गर्व), रति, विस्मय (आश्चर्य), उद्वेग (शोक)—ये दोष तो मोहनीय कर्मका अभाव होने पर नष्ट हो गये हैं'। निद्रा दर्शनावरण कर्मके अभावमें नष्ट हो जाती है। क्षुधा, तृषा, वृद्धत्व, रोग, स्वेद (पसीना)—ये शरीरकी अवस्थाएँ हैं। भगवानको परम औदारिक शरीर होनेसे, इन सब दोषोंका अभाव होता है। जन्म तथा मरण तो कर्म सहित जीवोंको होता है। भगवान तो जीवन मुक्त हैं और सभी कर्मोंका नाश करके देहसे मुक्त होते हैं। इस प्रकार अठारह दोष और उनके सहचररूप आत्मा अथवा शरीर संबंधी अन्य कोई और दोष आप्तमें नहीं होते हैं। इन दोषोंमें कौनसे दोष जीवाश्रित हैं और कौनसे दोष शरीराश्रित हैं, यह जानकर विवेक करना योग्य है।

विशेष

कितने ही भगवानको कवलाहार मानते हैं, क्योंकि उनकी मान्यताके अनुसार कवलाहार बिना देहकी स्थिति हो नहीं सकती; परन्तु यह मान्यता बराबर नहीं है, क्योंकि देवोंके कवलाहार नहीं होने पर भी देहकी स्थिति सागरोपर्यन्त बनी रहती है। उनके (देवोंकी) देहकी स्थितिका कारण मानसिक आहार है। इस प्रकार भगवानके देहकी स्थितिका कारण कर्म-नोकर्माहार है, कवलाहार नहीं। कहा है कि—

'णोकम्मकम्माहारो कवलाहारो य लेपमाहारो।
उज्जमणो वि य कमसो आहारो छब्बिहो भणियो॥४॥

णोकम्मं तित्थयरे कम्मं णिरयेय माणसो अमरे।
कवलाहारो णरपसु उज्जो पक्खी च इगि लेपो॥५॥

अर्थ :—नोकर्माहार, कर्माहार, कवलाहार, लेपाहार, ओजाहार और मानसिक आहार—इस प्रकार आहारके छः प्रकार कहे गये हैं।

तीर्थंकर भगवानको नोकर्म वर्गणाके ग्रहणरूप आहार होता है, नारकीको कर्म भोगने रूप आहार होता है, देवोंको मानसिक आहार होता है, (उनके मनमें इच्छा होते ही कंठसे अमृत झरता है जिससे उन्हें तृप्ति होती है) मनुष्य और पशुओंको कवलाहार होता है, पक्षियोंको ओजाहार (माताके उदरकी गर्मी-उष्मारूप आहार) और पृथ्वी आदि एकेन्द्रिय जीवको लेपाहार (पृथ्वी आदिके स्पर्शरूप आहार) होता है।

श्री प्रवचनसार गाथा २०में अतीन्द्रियपनेके कारण ही शुद्ध आत्माको शारीरिक सुख–दुःख नहीं होता, ऐसा व्यक्त किया गया है, यहाँ केवली भगवानको इन्द्रियोंका समूह नहीं है, इसलिए शुद्ध आत्माको शरीर संबंधी सुख–दुःख नहीं है । और केवली भगवानको शरीर संबंधी क्षुधादि दुःख या भोजनादि सुख नहीं होता इसलिए उनको कवलाहार नहीं होता, ऐसा कहा है ।

भगवानको कवलाहार होता है ऐसा माननेवाले भगवानके परम उत्कृष्ट अतीन्द्रिय सुखको ही नहीं मानते उसकी श्रद्धा नहीं करते इस कारणसे वे अभव्य हैं और भव्य उसे स्वीकार करते हैं ऐसा प्रवचनसार गाथा ६२में कहा है । इसलिए भगवानको कवलाहार हो ही नहीं सकता यह श्रद्धा करना ।

जैसा धर्म अपनेमें होता है वैसा ही केवली भगवानमें धर्म होना चाहिए, इस कारण अपनी तरह केवली भगवानमें भी शरीरकी स्थिति भोजनसे ही होनी चाहिए—अगर ऐसा कहनेमें आए तो जिस प्रकार केवली भगवानके शरीरमें प्रसेवादिका अभावरूप धर्म है उस तरह अपने शरीरमें भी प्रसेवादिका अभाव होना चाहिए । इसके उत्तरमें जो ऐसा कहे कि केवली भगवानमें अतिशय होनेसे उनके शरीरमें प्रसेवादि होते नहीं तो फिर केवली भगवानको कवलाहारके अभावका अतिशय क्यों संभव नहीं है? इस प्रकार कवलाहारसे केवली भगवानके देहकी स्थिति माननी उचित नहीं है ।

इसी तरह कोई कहता है कि केवलीको वेदनीय कर्मका सद्भाव होनेसे भोजनकी इच्छा और उसी अनुसार प्रवृत्ति होती है, पर ये भी सत्य नहीं है; क्योंकि इच्छा तो मोहनीय कर्मके उदयके निमित्तसे होती है, परंतु भगवानको मोहनीय कर्मका सर्वथा अभाव होता है, तो फिर केवलीको भोजनकी इच्छा होना किस प्रकार संभव है? अगर इच्छा हो तो वीतरागता नहीं हो सकती ।

अब अगर केवलीको क्षुधा आदिकी पीड़ा मानने जाए तो केवलीको अनंत सौख्य कहाँ रहा?

इसी प्रकार कोई कहे कि अशातावेदनीय कर्मके उदयसे केवली भगवानको क्षुधा, तृषा, रोग, मल–मूत्र आदि होते हैं; परंतु उनका ये कहना भी असत्य है, कारण कि क्षुधा–तृषा तो अशाता वेदनीय कर्मके उदीरणा (उदय)से होती है, परंतु छठवें गुणस्थानमें अशाताकी उदीरणाकी व्युच्छिती होती है इस प्रकार सप्तमादि गुणस्थानमें क्षुधादि वेदनाओंका अभाव होता है ।

सातवें गुणस्थानमें एक शातावेदनीय कर्मका ही नवीन बंध होता है, लेकिन अशाताका

अथोक्तदोषैर्विवर्जितस्याप्तस्य वाचिकां नाममालां प्ररूपयन्नाह—

परमेष्ठी परंज्योतिर्विरागो विमलः कृती।
सर्वज्ञोऽनादिमध्यान्तः सार्वः शास्तोपलाल्यते ॥७॥

बंध नहीं है। केवलीको शाताका बंध एक समय मात्र ही होता है और उसका उदय निरंतर होता ही रहता है, इसलिए अशाताका उदय भी शातारूप ही परिणमन करता है। जिससे अशाताके उदयजनित परिषह जिनेन्द्रको होता नहीं है। केवली भगवानको राग–द्वेष नष्ट हो गया है और इन्द्रियजनित ज्ञानका भी अभाव है तो फिर शाता–अशातासे उत्पन्न हुआ इन्द्रियजनित सुख–दुःख केवलीको नहीं होता।

''केवलज्ञानीके शरीर संबंधी सुख–दुःख नहीं हैं, क्योंकि अतीन्द्रियपना प्रगट हुआ है, इस प्रकारसे जानना!''

''केवली भगवानके शरीर संबंधी क्षुधादि दुःख या भोजनादि सुख नहीं होता, जिससे केवली को कवलाहार नहीं होता'' (श्री प्रवचनसार गाथा–२० और भावार्थ)

''जिन्होंने घाति कर्मोंका नाश किया है उनका (केवली भगवन्तोंका) सुख (सर्व) सुखोंमें परम अर्थात् उत्कृष्ट है ऐसे वचन सुनकर भी जिसको उनकी श्रद्धा नहीं आई वह अभव्य है और भव्य केवलीका स्वीकार (आदर–श्रद्धा) करता है'' (श्री प्रवचनसार गाथा–६२)

इसलिये भगवानको कवलाहार नहीं हो सकता ऐसी श्रद्धा करना।

अब पूर्वोक्त दोषसे रहित जो आप्त उनके वाचक नाममालाका प्ररूपण करके कहते हैं—

श्लोक - ७
हितोपदेशीका लक्षण

अन्वयार्थ—[परमेष्ठी] जो उत्कृष्ट इन्द्रादिकसे वंद्य पदमें रहता है, [परंज्योतिः] केवलज्ञानसहित है [विरागः] राग-द्वेषरूप भावकर्मसे रहित है [विमलः] द्रव्यकर्मसे रहित है [कृती] कृतकृत्य है [सर्वज्ञः] संपूर्ण पदार्थोंको जाननेवाला है [अनादिमध्यांतः] अर कहे हुये स्वरूपसे सहित सत्यदेवकी परंपराकी अपेक्षा आदि मध्य और अंतसे रहित है [सार्वः] सबका हित करनेवाला है वह [शास्ता] हितोपदेशी आप्त [उपलाल्यते] कहलाता है॥७॥

परमे इन्द्रादीनां वन्द्ये पदे तिष्ठतीति 'परमेष्ठी'। परं निरावरणं परमातिशय-प्राप्तं ज्योतिर्ज्ञानं यस्यासौ परंज्योतिः। 'विरागो' विगतो रागो भावकर्म यस्य। 'विमलो' विनष्टो मलो द्रव्यरूपो मूलोत्तरकर्मप्रकृतिप्रपंचो यस्य। 'कृती' निःशेषहेयोपादेय-तत्त्वे विवेकसम्पन्नः। 'सर्वज्ञो' यथावन्निखिलार्थसाक्षात्कारी। 'अनादिमध्यान्तः' उक्तस्वरूपप्राप्तप्रवाहापेक्षया आदिमध्यान्तशून्यः। 'सार्वः' इह परलोकोपकारक-मार्गप्रदर्शकत्वेन सर्वेभ्यो हितः। 'शास्ता' पूर्वापरविरोधादिदोषपरिहारेणाखिलार्थानां यथावत्स्वरूपोपदेशकः। एतैः शब्दैरुक्तस्वरूप आप्त 'उपलाल्यते' प्रतिपाद्यते॥७॥

टीकार्थ :—आप्त–अरहन्त भगवानको परमेष्ठी आदि कहते हैं। **'परमे तिष्ठतीति परमेष्ठी'** इस व्युत्पत्तिके अनुसार वे इन्द्रादिकके द्वारा वन्दनीय परमपदमें स्थित रहते हैं इसलिए परमेष्ठी कहलाते हैं। **'परमज्योतिर्यस्यासौ परंज्योतिः'** इस व्युत्पत्तिके अनुसार निरावरण केवलज्ञानसे सहित होनेके कारण परंज्योतिः कहलाते हैं। **'विगतो रागो यस्य स विरागः'** इस व्युत्पत्तिके अनुसार रागरूप भावकर्मके नष्ट हो जानेसे **विराग** कहलाते हैं। **'विनष्टो मलो यस्य स विमलः'** इस व्युत्पत्तिके अनुसार मूलोत्तर प्रकृतिरूप द्रव्यकर्मके नष्ट हो जानेसे विमल कहे जाते हैं। **'कृतमनेनेति कृती'** इस व्युत्पत्तिके अनुसार समस्त हेय और उपादेय तत्त्वोंके विषयमें विवेक–संपन्न होनेके कारण **कृती** कहलाते हैं। **'सर्वं जानातीति सर्वज्ञः'** इस व्युत्पत्तिके अनुसार समस्त पदार्थोंके साक्षात्कारी होनेसे सर्वज्ञ कहलाते हैं। **'न विद्यन्ते आदिमध्यान्ता यस्य सोऽनादिमध्यान्तः'** इस व्युत्पत्तिके अनुसार पूर्वोक्त स्वरूपवाले आप्तके प्रवाहकी अपेक्षा आदि, मध्य और अन्तसे शून्य होनेके कारण वे **अनादिमध्यान्त** कहे जाते हैं। **'सर्वभ्यो हितः सार्वः'** इस व्युत्पत्तिके अनुसार इस लोक और परलोकका उपकार करनेवाले मार्गको दिखलानेके कारण सार्व कहलाते हैं। **'शास्तीति शास्ता'** इस व्युत्पत्तिके अनुसार पूर्वापर विरोध आदि दोषोंको नाशकर समस्त पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपका उपदेश देनेसे शास्ता कहलाते हैं। तात्पर्य यह है कि इन परमेष्ठी आदि शब्दोंके द्वारा पूर्वोक्त स्वरूपवाले आप्तका कथन होता है।

भावार्थ :—यहाँ पर आचार्यदेव आप्तके अलग–अलग नाम दर्शाते हुये उनके विशेष स्वरूपका वर्णन करते हैं।

वे इन्द्रादिक द्वारा वंदनीय परम पदमें स्थित होनेसे 'परमेष्ठी,' निरावरण केवलज्ञान सहित होनेसे 'परंज्योति', राग–द्वेषादि भावकर्मसे रहित होनेसे 'विरागी', घातिया-कर्मरूप द्रव्यकर्मसे रहित होनेसे 'विमल', सर्व हेय–उपादेयका ज्ञान होनेसे 'कृती', सर्व पदार्थोंको युगपद् एक समयमें प्रत्यक्ष जाननेवाले होनेसे 'सर्वज्ञ', सत्यार्थ देवके प्रवाहकी अपेक्षासे आदि,

सम्यग्दर्शनविषयभूताप्तस्वरूपभिधायेदानीं तद्विषयभूतागमस्वरूपभिधातुमाह—

अनात्मार्थं विना रागैः शास्ता शास्ति सतो हितम्।
ध्वनन् शिल्पिकरस्पर्शात्मुरजः किमपेक्षते॥८॥

'शास्ता' आप्तः। 'शास्ति' शिक्षयति। कान्? 'सतः' अविपर्यस्तादित्वेन समीचीनान् भव्यान्। किं शास्ति? 'हितं' स्वर्गादितत्साधनं च सम्यग्दर्शनादिकं। किमात्मनः किंचित् फलमभिलषन्नसौ शास्तीत्याह—'अनात्मार्थं' न विद्यते आत्मनोऽर्थः

मध्य और अंत रहित होनेसे 'अनादिमध्यान्त', सर्व जीवोंको हितकारक उपदेश देनेवाले होनेसे 'शास्ता' हैं। यह आप्तके विशेषण वाचक नाम हैं।

जो आप्तके इन विशेषणोंको जानकर अपने आत्माके सन्मुख जाता है वह वास्तवमें अपने आत्माको जानता है क्योंकि दोनोंमें निश्चयसे कोई फर्क नहीं है, श्री प्रवचनसार गाथा-८०में कहा है—

'जो अरहंतको द्रव्यपने, गुणपने और पर्यायपने जानता है वह (अपने) आत्माको जानता है उसका मोह (दर्शन मोह) निराश्रयपनेको लेकर अवश्य लयको प्राप्त होता है।'

यह श्लोक इस हेतुसे कहनेमें आया है ऐसा समझना। ७

सम्यग्दर्शनके विषयभूत जो आप्तका स्वरूप, उसका कथन करके अब उसके विषयभूत जो आगमका स्वरूप है वह कहते हैं।—

श्लोक-८

वीतरागी देवोंको उपदेश देनेकी इच्छा क्यों होती है?

अन्वयार्थ—[शास्ता] हितोपदेशी भगवान [अनात्मार्थम्] अपने प्रयोजनके बिना [रागैः विना] राग भावके विना [सतः] सज्जन-भव्यजीवोंको [हितम्] कल्याणका-मोक्षमार्गका [शास्ति] उपदेश करते हैं, [शिल्पिकरस्पर्शात्] बजानेवालेके हाथके स्पर्शसे [ध्वनन्] शब्द करनेवाला [मुरजः] मृदंग [किम् अपेक्षते] क्या कुछ चाहता है अर्थात् कुछ भी नहीं चाहता है॥८॥

टीकार्थ :—आप्त भगवान, चित्तविक्षेप आदि दोषोंसे रहित श्रेष्ठ भव्य जीवोंको दिव्यध्वनिके द्वारा जो स्वर्गादिक तथा उनके साधनभूत सम्यग्दर्शनादिका उपदेश देते हैं वह लाभ, पूजा तथा ख्याति आदिकी अभिलाषारूप रागके बिना ही देते हैं और उस उपदेशमें

प्रयोजनं यस्मिन् शासनकर्मणि परोपकारार्थमेवासौ तान् शास्ति। ''परोपकाराय सतां हि चेष्टितं'' इत्यभिधानात्। स तथा शास्तीत्येतत् कुतोऽवगतमित्याह—'विना रागैः' यतो लाभपूजाख्यात्यभिलाषलक्षणपरै रागैर्विना शास्ति ततोऽनात्मार्थं शास्तीत्यवसीयते। अस्यैवार्थस्य समर्थनार्थमाह—ध्वनन्नित्यादि। शिल्पिकरस्पर्शाद्वादककराभिघातान्मुरजो मदलो ध्वनन् किमात्मार्थं किंचिदपेक्षते। नैवापेक्षते। अयमर्थः—यथा मुरजः परोपकारार्थमेव विचित्रान् शब्दान् करोति तथा सर्वज्ञः शास्त्रप्रणयनमिति॥८॥

उनका निजका कुछ भी प्रयोजन नहीं रहता। मात्र परोपकारके लिए उनकी उपदेशमें प्रवृत्ति होती है। जैसा कि कहा गया है—**'परोपकाराय सतां हि चेष्टितम्'** अर्थात् परोपकारके लिए ही सत्पुरुषोंकी चेष्टा होती है। राग तथा निजके प्रयोजनके बिना आप्त उपदेश कैसे देते हैं? इसका दृष्टान्त द्वारा समर्थन करते हुए कहते हैं कि शिल्पीके हाथके स्पर्शसे बजानेवाले मनुष्यके हाथकी चोटसे शब्द करता हुआ मृदङ्ग क्या कुछ चाहता है? नहीं चाहता है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार मृदङ्ग परोपकारके लिए ही नाना प्रकारके शब्द करता है उसी प्रकार आप्त भगवान भी परोपकारके लिए ही शास्त्र-रचना करते हैं—दिव्यध्वनिके द्वारा उपदेश देते हैं।

भावार्थ :—जैसे मृदंग (ढोलक) बजानेवालेके हाथसे स्पर्श होने पर स्वयंकी इच्छा बिना बजता है, और उसकी मधुर आवाजसे श्रोताओंके मन प्रसन्न हो जाते हैं, परंतु उसके बदलेमें श्रोताओंकी तरफसे वह कीर्ति, प्रशंसा, पूजा, लाभ, प्रेमादिकी इच्छा नहीं करता, उसी प्रकार हितोपदेशी वीतराग देव भी भव्य जीवोंके पुण्यके निमित्तसे इच्छा बिना हितका उपदेश देते हैं। फिर भी भगवान स्वयंके लिए लाभादिकी इच्छा नहीं करते उसी प्रकार श्रोताओंके ऊपर भी राग नहीं करते हैं। जैसे बादल स्वयंके प्रयोजन बिना-इच्छा बिना ही लोकके पुण्योदयके निमित्त, पुण्यशाली जीवोंके देशमें गमन, गर्जना करके बरसात बरसाते हैं, उसी प्रकार भगवान लोकके पुण्यके निमित्त पुण्यवान जीवोंके देशमें बिना इच्छाके विहार करते हैं और वहाँ धर्मरूप अमृतकी वर्षा होती है।

विशेष

(१) मृदंग (ढोलक)के शब्द—पुद्गलकी पर्याय है। वह उसका स्वतन्त्र परिणमनसे होती है, उसमें शिल्पीकी इच्छा और हाथ तो सिर्फ निमित्त मात्र है। इस प्रकार दोनोंके बीचमें निमित्त-नैमित्तिक संबंध समझना कर्ता-कर्म संबंध नहीं। उसी प्रकार दिव्य ध्वनि द्वारा भगवानके उपदेश-वचन निकलते हैं वह भी भाषावर्गणा पुद्गलका स्वतंत्र परिणमन है, उसमें भगवानकी इच्छा भी निमित्त नहीं है; क्योंकि वे वीतराग हैं, मात्र उनकी उपस्थिति-अस्तित्व ही निमित्त मात्र है। इसलिए इन दोनों (दिव्यध्वनि और भगवानकी उपस्थिति)में मात्र निमित्त-

कीदृशं तच्छास्त्रं यत्तेन प्रणीतमित्याह—

[1]आप्तोपज्ञमनुल्लंध्यमदृष्टेष्टविरोधकम्।
तत्त्वोपदेशकृत्सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनम्॥९॥

नैमित्तिक संबंध माननेके बदले उसमें कर्ता–कर्म संबंध मानना वह भ्रम है।

(२) पं. दौलतरामजी कृत दर्शन स्तुतिमें कहा है कि—

भवि भागन-वश जोगे वशाय, तुम धुनि व्है सुनि विभ्रम नशाय.... ३

हे भगवान, भव्य जीवोंके भाग्यके निमित्त आपकी दिव्यध्वनि खिरती है जिसे सुनकर विभ्रमका नाश होता है।

यहाँ पर भी भव्य जीवोंके भाग्य (पुण्यका उदय) और दिव्यध्वनि इन दोनोंके बीचमें निमित्त–नैमित्तिक संबंध समझना।

(३) टीकाकारने सम्यग्दर्शन आदिको स्वर्गादिकका साधन कहा है। सम्यग्दर्शन तो आत्माका परिणाम है। निश्चय सम्यक्त्व है, वह मोक्षका साधन है। परंतु चतुर्थादि गुणस्थानमें जो सहचररूप शुभराग है वह ही स्वर्गादिकका कारण है। जहाँ निश्चय सम्यक्त्व और व्यवहार सम्यक्त्व सहचररूप होतें है वहाँ निश्चय सम्यक्त्व तो मोक्षमार्गरूप संवर–निर्जरारूप है और उसके साथ जो व्यवहार सम्यक्त्व है वह शुभरागरूप है, वह पुण्यबंधका कारण है और उसके फल–स्वरूप स्वर्गादिका कारण (साधन) है ऐसा यहाँ समझना।

अरहंत भगवानको तो कालक्रममें खड़ा रहना, बैठना, विहार करना और धर्मोपदेश देना वह स्वाभाविक ही है, वह प्रयत्न बिना ही होता है—ऐसा वहाँ कहा है। और मोहपूर्वक नहीं होनेसे वह क्रिया, विशेष क्रिया, फलभूत बंधनका साधन नहीं है। ८

(देखो श्री प्रवचनसार गाथा–४४ और उसकी टीका)

'वह शास्त्र कैसा है कि जो आप्तपुरुष द्वारा कहा गया हो' उसका स्वरूप कहते हैं।—

श्लोक - ९

सत्यार्थ (सच्चे) शास्त्र(आगम)का लक्षण

अन्वयार्थ—[आप्तोपज्ञम्] आप्तका कहा हुआ [अनुल्लंघ्यम्] इन्द्रादिक देवों द्वारा

---

१. सिद्धसेनदिवाकरस्य न्यायावतारेपि नवम एवायं श्लोकः।

'आप्तोपज्ञं' सर्वज्ञस्य प्रथमोक्तिः। अनुल्लंघ्यं यस्मात्तदाप्तोपज्ञं तस्मादिन्द्रा[1] दीनामनुल्लंघ्यमादेयं। कस्मात् ? तदुपज्ञत्वेन तेषामनुल्लंघ्यं यतः। 'अदृष्टेष्टविरोधकं'—दृष्टं प्रत्यक्षं, इष्टमनुमानादि, न विद्यते दृष्टेष्टाभ्यां विरोधो यस्य। तथाविधमपि कुतस्तत्सिद्धमित्याह—'तत्त्वोपदेशकृत्' यतस्तत्त्वस्य च सप्तविधस्य जीवादिवस्तुनो यथावस्थितस्वरूपस्य वा उपदेशकृत् यथावत्प्रतिदेशकं[2] ततो दृष्टेष्टाविरोधकं। एवंविधमपि कस्मादवगतं ? यतः 'सार्वं' सर्वेभ्यो हितं सार्वमुच्यते तत्कथं यथावत्तत्स्वरूपप्ररूपणमन्तरेण घटेत। एतदप्यस्य कुतो निश्चितमित्याह 'कापथघट्टनं' यतः कापथस्य कुत्सितमार्गस्य मिथ्यादर्शनादेर्घट्टनं निराकारकं'[3] सर्वज्ञप्रणीतं शास्त्रं ततस्तत्सार्वमिति॥९॥

उल्लंघन न कर सके [अदृष्टेष्टविरोधकम्] प्रत्यक्ष और अनुमानादि प्रमाणोंसे विरोध रहित [तत्त्वोपदेशकृत्] जीवादि सात तत्त्वोंका अथवा यथास्थित वस्तुस्वरूपका उपदेश करनेवाला [सार्वम्] सबके लिए हितरूप [कापथघट्टनम्] खोटेमार्ग मिथ्यादर्शनादिकके पोषक मार्गका निराकरण करनेवाला [शास्त्रम्] शास्त्र है॥९॥

टीकार्थ :—**'आप्तेन आदौ उपज्ञाताम्मिति आप्तोपज्ञम्'** इस व्युत्पत्तिके अनुसार वह शास्त्र सर्वप्रथम आप्तके द्वारा जाना गया है तथा आप्तके द्वारा ही कहा गया है इसलिये इन्द्रादिक देव उसका उल्लङ्घन नहीं करते किन्तु श्रद्धापूर्वक उसे ग्रहण करते हैं। अथवा कुछ प्रतियोंमें **'तस्मादितरवादिनामनुल्लङ्घ्यं'** ऐसा पाठ भी है उसके अनुसार अन्यवादियोंके द्वारा उल्लङ्घन करनेके योग्य नहीं है। इष्टका अर्थ प्रत्यक्ष है तथा अदृष्ट शब्दसे अनुमानादि परोक्ष प्रमाणोंका ग्रहण किया जाता है। आप्तप्रणीत शास्त्र, इन प्रत्यक्ष तथा अनुमानादि परोक्ष प्रमाणोंके विरोधसे रहित है। जीव, अजीव आदि सात प्रकारके तत्त्वोंका उपदेश करनेवाला है अथवा अपने-अपने यथार्थ स्वरूपसे सहित जीव पुद्गल आदि छह द्रव्योंका उपदेश करनेवाला है। **'सर्वेभ्यो हितं सार्वं'** इस व्युत्पत्तिके अनुसार सब जीवोंका हित करनेवाला है और **'कुत्सितः पन्थाः कापथ तस्य घट्टनम्'** इस विग्रहके अनुसार कुत्सित मार्ग जो मिथ्यादर्शनादिक हैं उनका निराकरण करनेवाला है। शास्त्रकी ये सब विशेषताएँ उसके आप्तप्रणीत होनेपर ही सिद्ध हो सकती हैं।

भावार्थ :—यहाँ पर आचार्य भगवानने सच्चे आगम-शास्त्रके छह लक्षण बताये हैं। वे निम्न प्रकार हैं—

---

१. तस्मादितरवादिनां ख।

२. प्रतिपादकं ख। ३. निराकरणकारणं ख।

अथेदानीं श्रद्धानगोचरस्य तपोभृतः स्वरूपं प्ररूपयन्नाह—

विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः।
[1]ज्ञानध्यानतपोरत्नस्तपस्वी स प्रशस्यते॥१०॥

---

(१) जो आप्तके (सच्चे देव) द्वारा कहा गया है, उनकी दिव्यध्वनिके अनुसार है।

(२) जिसका खंडन या उल्लंघन कोई नहीं कर सकता, अर्थात् न्याययुक्तिसे अकाट्य है।

(३) प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाणादिसे विरोध रहित है।

(४) सात तत्त्वोंका यथावत् प्ररूपण करता है।

(५) सभी जीवोंको हितरूप है।

(६) कुमार्ग–मिथ्यामार्गका जो खंडन करता है।

पूर्व–पूर्व लक्षण आगे आगेके लक्षणके कारण हैं, अर्थात् यह भगवानकी आज्ञा है इसलिए यह उल्लंघन रहित है, इसलिए यह दृष्ट (प्रत्यक्ष) और इष्ट (अनुमानादि) प्रमाणोंसे विरोध रहित है। यह प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाणादिसे विरोध रहित है, इसलिए यह जीवादि सात तत्त्वोंके स्वरूपका यथावत् निरूपण करता है। यथावत् तत्त्वोंका निरूपण करनेके कारण भगवान द्वारा कहा गया आगम सभीको हितरूप है, और सभीको हितरूप होनेसे मिथ्यामार्गका खंडन करनेवाला है।

जैनागमकी उत्कृष्टताको जो जीव यथार्थरूपसे पहचानता है वह स्वयं शुद्ध आत्माके सन्मुख होकर सम्यग्दृष्टि होता है मिथ्यादृष्टि नहीं रहता। यह इस श्लोकका आशय है।

अब श्रद्धाके विषयभूत तपोभूत (गुरु)का स्वरूप प्ररूपण करते हैं।

श्लोक-१०
सत्यार्थ गुरुका लक्षण

अन्वयार्थ—[यः] जो [विषयाशावशातीतः] विषयोंकी आकांक्षासे रहित है, [निरारम्भः] आरंभ रहित है, [अपरिग्रहः] अंतरंग और बहिरंग परिग्रहसे रहित है, [ज्ञानध्यानतपोरन्तः] ज्ञानाभ्यास, ध्यान और कायक्लेशादि तपमें लीन है [सः] वह [तपस्वी] गुरु [प्रशस्यते] प्रशंसनीय है॥१०॥

---

१. 'ज्ञानध्यानतपोरक्त इत्यपि' प्रसिद्धः।

विषयेषु स्रग्वनितादिष्वाशा आकांक्षा तस्या वशमधीनता। तदतीतो विषयाकांक्षारहितः। 'निरारम्भः' परित्यक्तकृष्यादिव्यापारः। 'अपरिग्रहो' बाह्याभ्यन्तर-परिग्रहरहितः। 'ज्ञानध्यानतपोरत्नः' ज्ञानध्यानतपांस्येव रत्नानि यस्य एतद्गुणविशिष्टो यः स तपस्वी गुरुः 'प्रशस्यते' श्लाघ्यते।।१०।।

टीकार्थ :—स्पर्शनादि इन्द्रियोंके विषयभूत माला तथा स्त्री आदि विषयोंकी आकांक्षा सम्बन्धी अधीनता जिनकी नष्ट हो गई है अर्थात् जिन्होंने इन्द्रिय विषयोंपर पूर्ण विजय प्राप्त कर ली है, जो खेती आदि व्यापारका परित्याग कर चुके हैं, जो बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रहसे रहित हैं तथा ज्ञान, ध्यान और तपको ही जो रत्नोंके समान श्रेष्ठ समझकर उन्हींकी प्राप्तिमें लीन रहते हैं वे ही तपस्वी अर्थात् गुरु प्रशंसनीय होते हैं।

भावार्थ :—जो संसारके कारणभूत पाँच इन्द्रियोंके विषयोंके आशाकी पराधीनता और व्यापारादि बाह्याभ्यन्तर परिग्रहोंसे रहित हैं। और आत्मकल्याणमें कारणभूत जो ज्ञान, ध्यान और तप हैं उसमें लीन है अर्थात् ज्ञान ध्यान और तप ये तीनों रत्नोंसे सहित हैं वे सत्यार्थ गुरु कहनेमें आते हैं। वे गुरु ही प्रशंसाके पात्र हैं।

विशेष

इस श्लोकमें आचार्यने पूर्वार्धमें जिसका अभाव है उसका कथन किया है, अर्थात् सच्चे गुरुमें पांच इन्द्रियोंके विषयकी इच्छायें, आरंभ और परिग्रह—इन तीनोंका अभाव दिखाया है और इसके उत्तरार्धमें जिसका सद्भाव है उसका कथन किया है, अर्थात् सच्चे गुरुमें ज्ञान, ध्यान और तप—ये तीनोंका सद्भाव दिखाया है।

जो इच्छाओंका, आरंभ और परिग्रहोंका अभाव करके ज्ञान, ध्यान और तपमें लवलीन रहते हैं वे ही 'सत्यार्थ गुरु'के नामके लिए पात्र हैं।

अज्ञानी जीव गुरुके जिन गुणोंको विचारते हैं उसमें कोई जीवाश्रित हैं तथा कोई पुद्गलाश्रित हैं, यह सब विशेषताये नहीं जाननेके कारण असमान जातीय मुनि–पर्यायमें एकत्व बुद्धिके कारण वे मिथ्यादृष्टि ही रहते हैं। सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्रकी एकतारूप मोक्षमार्ग यह ही मुनिका सच्चा लक्षण है इसको तो जानता नहीं है। जो इसको जानता है वह मिथ्यादृष्टि रह ही नहीं सकता।

इस प्रकार जीव गुरुका स्वरूप जानकर, आत्मसन्मुख होकर, सत्यार्थ सम्यग्दर्शन प्रगट करे यह इस श्लोकका आशय है।१०।

इदानीमुक्तलक्षणदेवागमगुरुविषयस्य सम्यग्दर्शनस्य निःशंकितत्वगुणस्वरूपं प्ररूपयन्नाह—

इदमेवेदृशमेव तत्त्वं नान्यन्न चान्यथा।
इत्यकम्पायसाम्भोवत्सन्मार्गेऽसंशया रुचिः ॥११॥

'रुचिः' सम्यग्दर्शनं। 'असंज्ञया' निःशंकितत्वधर्मोपेता। किंविशिष्टा सति? 'अकम्पा' निश्चला। किंवत्? 'आयसाम्भोवत्' अयसि भवमायसं तच्च तदम्भश्च पानीयं तदिव तद्वत् खड्गादिगतपानीयवदित्यर्थः क्व[1] साकम्पेत्याह–'सन्मार्गे' संसारसमुद्रोत्तरणार्थं सद्भिर्मृग्यते अन्वेष्यत इति सन्मार्ग आप्तागमगुरुप्रवाहस्तस्मिन्नकेनोल्लेखेनेत्याह– 'इदमेवाप्तागमतपस्विलक्षणं तत्त्वं। 'इदृशमेव' उक्तप्रकारेणैव लक्षणेन लक्षितं। 'नान्यत्'

अब उपरोक्त लक्षणवाले देव-आगम एवं गुरु जिसका विषय है, ऐसे सम्यग्दर्शनके निःशंकितत्व गुणका स्वरूप कहते हैं।—

श्लोक - ११
निःशंकित अंगका लक्षण

अन्वयार्थ—[तत्त्वम्] देव गुरु और शास्त्र स्वरूप तत्त्व [इदं एव] यही है [ईदृशं एव] इस प्रकार ही है [अन्यत् न] दूसरा नहीं है [च] और [अन्यथा न] दूसरे प्रकार भी नहीं है [इति] इस प्रकार [आयसाम्भोवत्] तलवार आदिके पानीकी (तीव्रधार) तरह [सन्मार्गे] देव, गुरु और शास्त्रोंकी परंपरारूप मार्गमें [असंशया] निःशंकितत्व अंग सहित श्रद्धान करना [रुचिः] सम्यग्दर्शन है॥११॥

टीकार्थ :—**'सद्भिः मृग्यते अन्विष्यते इति सन्मार्गः आप्तागम गुरुप्रवाह तस्मिन्'** इस व्युत्पत्तिके अनुसार संसारसमुद्रसे पार होनेके लिये सत्पुरुषोंके द्वारा जिसकी खोज की जाय वह सन्मार्ग है, इस तरह सन्मार्गका अर्थ आप्त, आगम और गुरुका प्रवाह है [अथवा **'संश्वासौ मार्गः सन्मार्गः'** इस व्युत्पत्तिके अनुसार मोक्षका समीचीन मार्ग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र] रुचिका अर्थ सम्यग्दर्शन अथवा श्रद्धा है क्योंकि श्रद्धा, रुचि, स्पर्श और प्रतीति ये सब सम्यग्दर्शनके नामान्तर कहे जाते हैं। जिस प्रकार तलवार आदि पर चढ़ाया हुआ लोहेका पानी अकम्प–निश्चल होता है उसी तरह सन्मार्गके विषयमें तत्त्व आप्त,

---

१. क्व सा अकम्पेत्याह घ०।

एतस्माद्भिन्नं न। 'न चान्यथा' उक्तलक्षणादन्यथा परपरिकल्पितलक्षणेन लक्षितं, 'न च' नैव तद्घटते इत्येवमुल्लेखेन॥११॥

आगम और तपस्वी अथवा जीवाजीवादिका स्वरूप यही है, ऐसा ही है, अन्य नहीं है और अन्य प्रकार नहीं है ऐसी जो अकम्प–निश्चल श्रद्धा है वही सम्यग्दर्शनका निःशङ्कितत्व गुण अथवा निःशङ्कितत्व अंग कहलाता है।

भावार्थ :—तत्त्व यही है, अन्य नहीं और अन्य प्रकारसे भी नहीं। जैसे तलवारकी धार तीक्ष्ण होती है उसी प्रकार निश्चल–संशय रहित श्रद्धान वह परमार्थः सम्यग्दर्शनका प्रथम निशंकित अंग है।

विशेष

तत्त्वार्थसूत्रमें 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' अर्थात् तत्त्वका श्रद्धान सम्यग्दर्शन कहा है। यहाँ टीकाकारने देव, आगम और गुरु इन तीनोंके परमार्थ स्वरूप तत्त्वके श्रद्धानको सम्यक्त्व कहा है यह दोनों एक ही है; क्योंकि—

''.....अरहंतादिकका श्रद्धान हुए बिना तत्त्वका श्रद्धानरूप सम्यक्त्व कभी हो ही नहीं सकता, इसलिए अरहंतादिकका श्रद्धानके अन्वयरूप कारण जानकर कारणमें कार्यका उपचार करना उस श्रद्धानको सम्यक्त्व कहा है;.....जिसको सच्चे अरहंतादिके स्वरूपका श्रद्धान होता है उसे तत्त्वका श्रद्धान अवश्य ही होता है, क्योंकि जो अरहंत आदिके स्वरूपको जानता है वह जीव–अजीव–आस्रवादिको जरूर जानता है। इस प्रकार इनमें परस्पर अविनाभाव संबंध जानकर अरहंतादिके श्रद्धानको सम्यक्त्वका कारण कहा है।''

मूल श्लोकमें 'तत्त्व' है उसका अर्थ टीकामें 'आप्तागमतपस्वि लक्षणं तत्त्वं' किया है। उसमें छः द्रव्य सात तत्त्व और नौ पदार्थका समावेश हो जाता है।' ऐसा श्लोक ४में कहा है वही बात यहाँ पर भी लागु होती है—ऐसा समझना।

'तत्त्वं' शब्द एकवचनमें है और आप्त–आगम–तपस्वी यह तीन होनेसे बहुवचन है। ऐसे ही छः द्रव्य, सात तत्त्व और नौ पदार्थ यह भी बहुवचन है। इसका तात्पर्य यह है कि जब जीव स्वयंके त्रिकाली ज्ञायक स्वरूप जीवतत्त्वके सन्मुख जाता है तब ही परमार्थ सम्यग्दर्शन होता है और तभी आप्त–आगम–तपस्वी और छः द्रव्य, सात तत्त्व और नौ पदार्थकी सच्ची श्रद्धा कही जाती है; इस कारण 'तत्त्व' शब्दको शास्त्रकार आचार्यदेवने एकवचनमें लिया है।

श्री तत्त्वार्थसूत्रके श्लोकमें तत्त्वार्थमें जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष—इस प्रकार सात नाम देकर बहुवचनके बदले एकवचन 'तत्त्वं' लिखा है। यहाँ पर

भी त्रिकाली जीव तत्त्वके सन्मुख होने पर सम्यग्दर्शन प्रगट होता है ऐसा बतानेके लिए एक वचनका प्रयोग किया है, इसी तरह यहाँ पर भी यही आशय बतानेके लिये 'तत्त्वं' एक वचनका प्रयोग किया है।

श्री प्रवचनसारमें कहा है कि—

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं॥८०॥

जो अरहंतको द्रव्यत्व, गुणत्व और पर्यायत्वरूपसे जानता है वह आत्माको जानता है और उसके मोहका नाश होता है।

''.....अरहंतादिका स्वरूप तो आत्माश्रित भावोंके साथ तत्त्व श्रद्धान होने पर ही जाननेमें आता है। इसलिए जिसको अरहंत आदिका सच्चा श्रद्धान होवे उसको तत्त्वका श्रद्धान अवश्य ही होगा ऐसा नियम है.....'' २.

''तत्त्वार्थश्रद्धानमें अरहंत देवादिका श्रद्धान भी गर्भित होता है। अथवा जिस निमित्तसे तत्त्वश्रद्धान होता है उसी निमित्तसे अरहंतदेवादिका भी श्रद्धान होता है। इसलिए सम्यग्दर्शनमें देवादिकके श्रद्धानका भी नियम है.....'' ३.

''.....सच्ची दृष्टिमें कोई एक लक्षण ग्रहण करने पर अन्य लक्षणोंका भी ग्रहण हो जाता है, तो भी मुख्य प्रयोजन अलग-अलग विचार करके अन्य-अन्य प्रकारसे लक्षण कहा है, जहाँ तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षण कहा है वहाँ तो यह प्रयोजन है कि—जो इन तत्त्वोंको जानता है वह वस्तुके यथार्थ स्वरूप और हित-अहितका श्रद्धान कर मोक्षमार्गमें प्रवर्तता है.....जहाँ देव-गुरु-धर्मका श्रद्धानरूप लक्षण कहा है, वहाँ बाह्य साधनकी प्रधानता कही है, क्योंकि अरहंतदेवादिका श्रद्धान सच्चा तत्त्वार्थश्रद्धानका कारण है.....वह बाह्य कारणकी प्रधानतासे कुदेवादिका श्रद्धान छोड़ना और सुदेवादिका श्रद्धान करानेके लिये देव-गुरु-धर्मके श्रद्धानको मुख्य लक्षण कहा है। इस प्रकार अलग-अलग प्रयोजनकी मुख्यतासे अलग-अलग लक्षण कहें हैं।'' ४.

सम्यग्दृष्टि निःशंक होते हैं अर्थात् सात भयसे रहित होते हैं, क्योंकि इन्होंने अपने आत्मतत्त्वको स्वानुभवगोचर करके आत्माको आत्मारूप और द्रव्यकर्म-नोकर्मको पौद्गलिक परभावरूप तथा भावकर्मको आस्रवरूप जाना है। परद्रव्योंसे इस जीवको लाभ-हानि या सुख-दुःख नहीं मानता है इसलिए सम्यक्दृष्टि इस बातमें निःशंक होता है कि कोई किसीको मारता नहीं और कोई किसीको जीवित रखता नहीं और कोई किसीको सुखी-दुःखी नहीं

कर सकता है। अर्थात् एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ नहीं कर सकता है; तथा वे दृढपनेसे मानते हैं। शरीर–पुत्रादि संयोगी पदार्थोंका अवश्य वियोग होता है, कोई पर पदार्थ इष्ट या अनिष्ट नहीं होता इसलिए इनमें सुख–दुःखका कारण भी नहीं है। मात्र भावकर्मरूप आस्रवभाव है वह दुःख है। इसका अभाव करनेका प्रयत्न सम्यक्दृष्टिके निरंतर चालु रहता है, एक समयमें परिपूर्ण नित्य ज्ञायकतत्त्वके दृढ़ आश्रयरूप ऐसी निःशंक मान्यता वर्तती होनेसे (१) आलोकका (२) परलोकका (३) मृत्युका (४) वेदनाका (५) अरक्षाका (६) अगुप्तिका और (७) अकस्मातका ऐसे सात प्रकारके भय कैसे हो सकते हैं? कभी नहीं हो सकते।

(१) ''इस भवमें जीवन पर्यंत अनुकूल सामग्री रहेगी या नहीं? ऐसी चिंता रहे यह आलोकका भय है। 'आगेके भवमें मेरा क्या होगा? ऐसी चिंता रहे यह परलोकका भय है। ज्ञानी जानते हैं कि एक चैतन्य ही मेरा नित्य लोक है जो सर्व काल प्रगट है। इसके सिवा दूसरा कोई लोक मेरा नहीं है। यह मेरा चैतन्यस्वरूप लोक तो किसीका बिगाड़ा बिगड़ता नहीं है। ऐसा जाननेवाले ज्ञानीको इसलोकका या परलोकका भय कैसे हो सकता है? कभी नहीं हो सकता। ज्ञानी तो स्वयंको स्वाभाविक ज्ञानरूप ही अनुभव करते हैं।

''सुख दुःखको भोगना वह वेदना है। ज्ञानीको स्वयंके एक ज्ञान मात्र स्वरूपका ही भोक्तापना है। वह पुद्गलसे होनेवाली वेदनाको वेदना जानता ही नहीं है। इसलिए ज्ञानीको वेदनाका भय नहीं होता। ज्ञानी तो सदा निर्भय रूप ही वर्तन करता हुआ ज्ञानको ही अनुभव करता है।

''सत्तास्वरूप वस्तुका कभी नाश नहीं होता है। ज्ञान (आत्मा) भी स्वयं सत्तास्वरूप वस्तु है, इसलिए ऐसा नहीं है कि दूसरा कोई रक्षा करे तो वह रहे, नहीं तो नष्ट हो जाए। ज्ञानी ऐसा जानता होनेसे उसको अरक्षाका भय नहीं होता है।

''गुप्तिका अर्थ जिसमें कोई चोर आदि प्रवेश नहीं कर सके ऐसा किला, गुफा आदि; जिसमें प्राणी निर्भय होकर रह सके। ऐसा गुप्तप्रदेश नहीं हो लेकिन खुल्ला प्रदेश हो तो उसमें रहनेवाले प्राणीको अगुप्तपनेके कारण भय रहता है। ज्ञानी जानता है कि—वस्तुके निज स्वरूपमें कोई दूसरा प्रवेश कर ही नहीं सकता, इसलिए वस्तुका स्वरूप ही वस्तुकी परमगुप्ति अर्थात् अभेद किला है। पुरुषका अर्थात् आत्माका स्वरूप ज्ञान है; उस ज्ञानस्वरूपमें रहनेवाला आत्मा गुप्त है, क्योंकि ज्ञान स्वरूपमें दूसरे किसीका प्रवेश हो ही नहीं सकता। ऐसा जाननेवाले ज्ञानीको अगुप्तिपनेका भय कहाँसे होगा?

इदानीं निष्कांक्षितत्वगुणं सम्यग्दर्शने दर्शयन्नाह—

कर्मपरवशे सान्ते दुःखैरन्तरितोदये।
पापबीजे सुखेऽनास्था श्रद्धानाकाङ्क्षणा स्मृता॥१२॥

''इन्द्रियादि प्राणोंका नाश होने पर लोग उसे मरण कहते हैं, परंतु परमार्थसे इन्द्रियादि आत्माके प्राण नहीं हैं। ज्ञान ही आत्माका प्राण है। ज्ञान अविनाशी है—उसका नाश नहीं होता है; इसलिए आत्माका मरण नहीं होता। ज्ञानी ऐसा जानते होनेके कारण उनको मरणका भय नहीं होता।

''कोई अचिंत्य अनिष्ट अचानक उत्पन्न हो जाए तो? ऐसे भयको आकस्मिक भय कहते हैं। ज्ञानी जानते हैं कि—आत्माका ज्ञान स्वयं ही सिद्ध, अनादि, अनंत अचल एक है। आत्मामें दूसरा कुछ उत्पन्न हो ही नहीं सकता है; तो फिर अचानक कुछ भी कहाँसे होगा? अर्थात् अकस्मात् कैसे होगा? ऐसा जाननेवाले ज्ञानीको अकस्मातका भय कहाँसे होगा? नहीं हो सकता'' ज्ञानी जानते हैं कि—

''जिस जीवको जिस देशमें, जिस कालमें, जिस विधानसे जन्म-मरण उपलक्षणसे दुःख-सुख-रोग-दरिद्रता आदि होना वह सर्वज्ञदेवने जाना है उस प्रकारसे नियमसे होगा और वह जिस प्रकारसे होने योग्य हैं उसी प्रकार उस प्राणीको उसी देशमें, उसी कालमें, उसी विधानसे-नियमसे होगा। उसको इन्द्र या जिनेन्द्र-तीर्थंकर देव कोई भी पलटनेमें समर्थ नहीं है।''

इसीको निःशंकितत्वादि 'गुण' कहा है। इसको त्रिकाली गुण नहीं समझना, लेकिन पर्यायमें इस प्रकारकी शुद्धताका लाभ समझना, इसको अंग-आचार-लक्षण आदि नामसे जाना जाता है। ११

अब सम्यग्दर्शनके निःकांक्षितगुणका स्वरूप कहते हैं।

श्लोक-१२
निःकांक्षित अंगका लक्षण

अन्वयार्थ—[कर्मपरवशे] कर्मोंके आधीन [सान्ते] अन्त सहित [दुःखैरन्तरितोदये] दुःखोंके साथ होनेवाले [पापबीजे] पापके मूल कारण [सुखे] विषयजन्य सुखमें [अनास्था] आस्था रहित [श्रद्धा] श्रद्धान करना [अनाकांक्षणा] निःकांक्षित अंग [स्मृता] माना गया है॥१२॥

'अनाकांक्षणा स्मृता' निष्कांक्षितत्वं निश्चितं। कासौ? 'श्रद्धा'। कथंभूता? 'अनास्था' न विद्यते आस्था शाश्वतबुद्धिर्यस्यां। अथवा न आस्था अनास्था। तस्यां तया वा श्रद्धा अनास्थाश्रद्धा सा [1]चाप्यनाकांक्षणेति स्मृता। क्व अनास्थाऽरुचिः? 'सुखे' वैषयिके। कथंभूते? 'कर्मपरवशे' कर्मायत्ते। तथा 'सान्ते' अन्तेन विनाशेन सह वर्तमाने। तथा 'दुःखैरन्तरितोदये' दुःखैर्मानसशारीरैरन्तरित उदयः प्रादुर्भावो यस्य। तथा 'पापबीजे' पापोत्पत्तिकारणे॥१२॥

टीकार्थ :—अनास्था—श्रद्धाका व्याख्यान दो प्रकारका है। **'न विद्यते आस्था शाश्वतबुद्धिर्यस्यां सा अनास्था'** जिसमें नित्यत्वकी बुद्धि नहीं है, ऐसा समासकर अनास्थाको श्रद्धाका विशेषण बनाया गया है।

इस पक्षमें अनास्था और श्रद्धा इन दोनों पदोंको असमस्त—समास रहित स्वीकृत किया गया है। और दूसरे पक्षमें **'न आस्था अनास्था अरुचिरित्यर्थः' 'तस्यां तया वा श्रद्धा अनास्थाश्रद्धा'**—अरुचिमें अथवा अरुचिके द्वारा होनेवाली श्रद्धा, ऐसा समास कर अनास्था और श्रद्धा इन दोनों पदोंको समस्त—समास सहित स्वीकृत किया है। इसका अर्थ होता है–अरुचिपूर्वक श्रद्धा। विषयसम्बन्धी सुख कर्मोंके आधीन है—कर्मोंकी उदयादि अवस्थाके अनुसार होता है, अन्तसे सहित है, इसका उदय मानसिक तथा शारीरिक दुःखोंसे मिला रहता है अथवा इसका उदय उपर्युक्त दुःखोंसे बाधित रहता है, तथा पापका कारण है—अशुभकर्मोंके बन्धका निमित्त है ऐसे सुखमें जो शाश्वत बुद्धिसे रहित श्रद्धा है वह सम्यग्दर्शनका निःकांक्षितत्व गुण है अथवा उपर्युक्त विषयसम्बन्धी सुखमें जो अरुचिपूर्ण श्रद्धा है वह सम्यग्दर्शनका निःकांक्षितत्व नामका गुण है।

भावार्थ :—इन्द्रियजनित सुख (सांसारिक सुख) कर्मके आधीन हैं, अंतसहित (नाशवंत) हैं, मानसिक और शारीरिक दुःखोंसे (अर्थात् आधि, व्याधि और उपाधिसे) व्यवधान प्राप्त और पापका मूल है, (पापबंधका कारण है।) ऐसा सुख ही वास्तवमें (सच्चा) सुख है ऐसी आस्थापूर्वक श्रद्धा नहीं करना वह निःकांक्षित अंग है।

इन्द्रियजनित सुख कर्मके उदयके आधीन है, क्योंकि इन्द्रिय सुखके साधन शाता-वेदनीय कर्मके उदयके निमित्तसे प्राप्त होते हैं। यह विषय–साधन इन्द्रधनुषवत् बिजलीकी चमककी भाँति क्षणभंगुर हैं। अशाता वेदनीय कर्मके उदय निमित्तसे उनका अल्पकालमें अंत आएगा इस कारण वह अंतसहित है।

इन्द्रियसुख अखंड धाराप्रवाहरूप नहीं होता है। इस कारण बारम्बार अनेक दुःखके

उदय सहित होता है। कोई समय रोग हो जाए, तो कभी स्त्री–पुत्रादिका वियोग हो जाए, कभी धनकी हानि हो जाए, तो कभी अनिष्ट वस्तुओंका संयोग हो जाए। इस प्रकार वह अनेक प्रकारके दुःखोंसे युक्त होता है।

इन्द्रिय सुखमें एकताबुद्धि होनेसे अज्ञानी जीव स्वयंके वास्तविक स्वरूपको भूलकर पापोंमें प्रवृत्ति करता है, जिससे अज्ञानीको पापका बंध होता है। इसलिए इन्द्रिय सुख पापका बीज है।

ऐसे पराधीन अंतसहित और दुःखरूप इन्द्रियसुखमें सम्यग्दृष्टिको वास्तविक सुखका वेदन नहीं होता जिससे उसको यह सच्चा सुख है ऐसी आस्थारूप श्रद्धा किस प्रकार हो सकती है? और श्रद्धा बिना उसकी वांछा (आकांक्षा) भी कैसे होगी? इन्द्रिय सुखके वेदनके कालमें भी आकुलता ही होती है, इससे इसमें सुख नही पर दुःख ही है।

श्री प्रवचनसार गाथा—७६में कहा है—

''जो इन्द्रियोंसे प्राप्त होता है वह सुख परके संबंधवाला, बाधा सहित, विच्छिन्न, बंधका कारण और विषम है, इस कारण वह दुःख है।''

निःकांक्षित अंगके विषयमें श्री समयसार गाथा २३०में कहा है कि—

''जो चेतयिता कर्मोंके फल प्रति और सभी धर्मोंके प्रति कांक्षा (वांछा) नहीं करता उसे निकांक्ष सम्यग्दृष्टि जानना।''

जिसको आत्माके स्वाभाविक सुखकी श्रद्धा होती है। वह सम्यग्दृष्टि होता है। केवलज्ञानी आत्मिक अनंतसुखको अनुभव करते हैं। जो ऐसे अनंत सुखको ही सुख जानते हैं, उपादेयरूप श्रद्धा करते हैं और स्वयंके आत्मिक सुखका अनुभव करते हैं वे भव्य जीव सम्यग्दृष्टि हैं। जिन जीवोंको वास्तविक सुखामृतका अनुभव होता है, उसे परद्रव्योंकी और परद्रव्योके आश्रयसे होनेवाले इन्द्रियसुखकी ओर अन्य धर्मोंकी आकांक्षा कैसे हो सकती है? कभी नहीं हो सकती।

ज्ञानी अपने-अपने स्वयंके गुणस्थान अनुसार, जो कि हेयबुद्धिसे विषय सुखका अनुभव करते हैं, फिर भी निज शुद्धात्मभावनासे उत्पन्न अतीन्द्रिय सुखको ही उपादेय मानते हैं जिससे उनकी श्रद्धामें सांसारिक सुखकी किंचित्मात्र भी आकांक्षा नहीं होती। इसलिए सम्यग्दृष्टि जीवोंको निःकांक्षित गुण होता है।

सम्प्रति निर्विचिकित्सागुणं सम्यग्दर्शनस्य प्ररूपयन्नाह—

स्वभावतोऽशुचौ काये रत्नत्रयपवित्रिते।
निर्जुगुप्सा गुणप्रीतिर्मता निर्विचिकित्सता॥१३॥

'निर्विचिकित्सता मता' अभ्युपगता। कासौ? 'निर्जुगुप्सा' विचिकित्साभावः। क्व? काये। किंविशिष्टे? 'स्वभावतोऽशुचौ' स्वरूपेणापवित्रिते। इत्थंभूतेऽपि काये 'रत्नत्रयपवित्रिते' रत्नत्रयेण पवित्रिते पूज्यतां नीते। कुतस्तथाभूते निर्जुगुप्सा भवतीत्याह— 'गुणप्रीतिः' यतो गुणेन रत्नत्रयाधारभूतमुक्तिसाधकत्वलक्षणेन प्रीतिर्मनुष्यशरीरमेवेदं

विशेष

''जो कोई ज्ञानी शुद्धात्माकी भावनासे उत्पन्न हुये परमानंद सुखमें तृप्त होकर, पंचेन्द्रियके विषयसुखके कारणभूत कर्मफलोंमें तथा सभी वस्तुओके धर्मोंमें अथवा इस लोक-परलोककी इच्छायें संबंधी, अन्य आगममें कहे गये समस्त कुधर्मोंमें इच्छा नहीं करता, वह सम्यग्दृष्टि सांसारिक सुखमें निःकांक्षित जानना।'' १२.

अब सम्यग्दर्शनके निर्विचिकित्सागुणका स्वरूप कहते हैं।

श्लोक - १३
निर्विचिकित्सा अंगका लक्षण

अन्वयार्थ—[स्वभावतः] स्वभावसे [अशुचौ] अपवित्र [रत्नत्रयपवित्रिते] परंतु रत्नत्रयसे पवित्र इस [काये] शरीरमें [निर्जुगुप्सा] ग्लानि रहित [गुणप्रीतिः] गुणोंमें प्रीति करना [निर्विचिकित्सता] निर्विचिकित्सा अंग [मता] माना गया है॥१३॥

टीकार्थ :—'निर्गता विचिकित्सा यस्मात् न निर्विचिकित्सः, तस्य भावो निर्विचिकित्सता'—इस विग्रहके अनुसार विचिकित्सा ग्लानिको कहते हैं, जो ग्लानिसे रहित है उसे निर्विचिकित्सक कहते हैं और उसका जो भाव है उसे निर्विचिकित्सता कहते हैं। मनुष्यका यह शरीर स्वभावसे ही अपवित्र है अर्थात् माता-पिताके रजवीर्यरूप अशुद्ध उपादानसे निर्मित होनेके कारण अपवित्र है। परन्तु सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रयके द्वारा पवित्रताको प्राप्त कराया जाता है—पूज्यताको प्राप्त कराया जाता है। ऐसे शरीरमें गुणके कारण अर्थात् 'यह मनुष्यका शरीर ही रत्नत्रयके आधारभूत

मोक्षसाधकं नान्यद्देवादिशरीरमित्यनुरागः। ततस्तत्र निर्जुगुप्सेति॥१३॥

मोक्षका साधक है, अन्य देवादिकका शरीर मोक्षका साधक नहीं है।' इस विशिष्ट गुणके कारण जो ग्लानि रहित प्रीति होती है वह **'निर्विचिकित्सता'** नामक गुण माना गया है।

भावार्थ :—यह निर्विचिकित्सा गुणका वर्णन है। विचिकित्साका अर्थ ग्लानि है। शरीर स्वभावसे अपवित्र है। मल, मूत्रादि दुर्गंधयुक्त पदार्थोंका घर है। इस कारण शरीर अशुचि, विनाशिक और अनेक रोगोंके रहनेका ठिकाना है, फिर भी इस कारणसे शरीर ग्लानि या द्वेष करने योग्य नहीं है।

सम्यग्दृष्टि किसी भी परद्रव्योंको भला–बुरा जानता नहीं। वस्तुस्वरूप विचारने पर कोई परद्रव्य भला–बुरा है ही नही।

परपदार्थोंमें 'यह अच्छा और यह बुरा' ऐसा द्वैत है ही नहीं। फिर भी मोहके वशीभूत जीव अच्छे बुरेका द्वैत खड़ा करता है और रुचित विषयमें राग और अरुचित विषयमें–पदार्थमें द्वेष करता है।

सम्यग्दृष्टि किसी भी जीवके दुर्गंधमय शरीरको देखकर ग्लानि नहीं करता है। भावलिंगी मुनि नग्न होते हैं। उनके शरीरको दुर्गंधवाला देखकर या शरीरकी अप्रिय (बुरी) आकृति देखकर उसके प्रति जरा भी ग्लानि नहीं करते हैं। यह शरीर तो रत्नत्रयधारी जीवोंको मुक्तिमें सहकारी कारण है। ऐसा जानकर उन्हें व्यवहार अपेक्षासे पवित्र जानते हैं और उनके प्रति ग्लानि उत्पन्न होने ही नहीं देते। यह ज्ञानीका निर्विचिकित्सा गुण है।

निश्चय अपेक्षासे पवित्र तो निश्चय सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्रकी एकता है। जैनमतमें सभी अच्छी अच्छी बातें हैं, लेकिन वस्त्रके आवरणसे रहित जो नग्नता और जल–स्नानादि क्रियाओंका अभाव यह दूषण है, ऐसे कुत्सित भावोंको विशिष्ट विवेकी ज्ञानवाले समकिती दूर करते हैं। यह भी निर्विचित्किसा गुण है।

''सम्यग्दृष्टि वस्तुके धर्मो प्रति (अर्थात् क्षुधा, तृषा, उष्णादि भावोके प्रति और विष्टा आदि मलिन द्रव्योके प्रति) जुगुप्सा (ग्लानि) नहीं करते हैं। जुगुप्सा नामकी कर्मप्रकृतिका उदय आए तो भी स्वयं वे उसके कर्ता नहीं होते। जिससे जुगुप्साकृत बंध उनके नहीं होता, परंतु प्रकृति रस देकरके खिर जाती है, इससे निर्जरा ही होती है।''

विशेष

श्री परमात्मप्रकाश अध्याय-१ गाथा २९की टीकामें लिखा है कि—

''हे जीव! तु परमात्माको जान। अर्थात् नित्यानंद वीतराग निर्विकल्प समाधिमें

अधुना सद्दर्शनस्यामूढदृष्टित्वगुणं प्रकाशयन्नाह—

कापथे पथि दुःखानां कापथस्थेऽप्यसम्मतिः।
असंपृक्तिरनुत्कीर्तिरमूढा दृष्टिरुच्यते॥१४॥

अमूढा दृष्टिरमूढत्वगुणविशिष्टं सम्यग्दर्शनं। का? 'असम्मतिः' न विद्यते मनसा सम्मतिः श्रेयःसाधनतया सम्मननं यत्र दृष्टौ। क्व? 'कापथे' कुत्सितमार्गे मिथ्यादर्शनादौ। कथंभूते? 'पथि' मार्गे। केषां? 'दुःखानां'। न केवलं तत्रैवासम्मतिरपि तु 'कापथस्थेऽपि' मिथ्यादर्शनाद्याधारेऽपि जीवे। तथा 'असंपृक्तिः' न विद्यते सम्पृक्तिः कायेन नखच्छोटिकादिना[1] अंगुलिचालनेन शिरोधूननेन वा प्रशंसा यत्र। 'अनुत्कीर्तिः' न विद्यते

रहकर अपने आत्माका ध्यान कर। शुद्धात्मासे भिन्न देह-रागादिसे तेरा क्या प्रयोजन है? कोई प्रयोजन नहीं है।''

इससे यह समझना कि देह जो कि अशुचि और विनाशिक है, फिर भी उसके प्रति द्वेष-ग्लानि या जुगुप्सा करनी न्याययुक्त है—ऐसा सम्यग्दृष्टि नहीं मानता है। तो फिर सच्चे रत्नत्रयधारी मुनिके शरीरके प्रति सम्यग्दृष्टिको जुगुप्सा कैसे हो सकती है? १३.

अब सम्यग्दर्शनके अमूढदृष्टित्वगुणका स्वरूप कहते हैं।

श्लोक-१४
अमूढदृष्टि अंगका लक्षण

अन्वयार्थ—[दुःखानाम्] दुःखोंके [पथि] मार्गरूप-कारणरूप [कापथे] खोटेमार्ग-मिथ्यादर्शनादिकमें तथा [कापथस्थे अपि] खोटे मार्गमें स्थित जीवोंके विषयमें भी ''ये हमारे परमार्थ साधनेवाले हैं'' इस बुद्धिसे [असम्मतिः] मनसे आदर नहीं करना [असंपृक्तिः] शरीरसे आदर नहीं करना [अनुत्कीर्तिः] वचनसे प्रशंसा नहीं करना [अमूढा] अमूढदृष्टि अंगसहित [दृष्टिः] सम्यग्दर्शन [उच्यते] कहलाता है॥१४॥

टीकार्थ :—**'कुत्सितः पन्थाः कापथम्'** इस व्युत्पत्तिके अनुसार कापथका अर्थ कुमार्ग होता है। मिथ्यादर्शनादिक, संसारके मार्ग होनेसे कुमार्ग कहलाते हैं, ऐसे कुमार्गमें तथा इस कुमार्गमें स्थित मिथ्यादर्शनादिके आधारभूत किसी जीवके विषयमें मनसे ऐसी सम्मत्ति नहीं करना कि यह कल्याणका मार्ग है, शरीरसे—नखोंकी चुटकी बजाकर, अङ्गुलियाँ चलाकर

१. नखच्छोटिकादिना प्रशंसा घ०।

उत्कीर्तिरुत्कीर्तनं वाचा संस्तवनं यत्र। मनोवाक्यायैर्मिथ्यादर्शनादीनां तद्वतां चाप्रशंसाकरणममूढं सम्यग्दर्शनमित्यर्थः ॥१४॥

अथोपगूहनगुणं तस्य प्रतिपादयन्नाह—

अथवा मस्तक हिलाकर उसकी प्रशंसा नहीं करना तथा वचनसे उसकी स्तुति नहीं करना अमूढ़दृष्टि गुण कहलाता है।

भावार्थ :—नरक, तिर्यंच, कुमनुष्यादि गतिके घोर दुःखके कारणभूत मिथ्यादर्शनादिरूप कुमार्गको और उनके माननेवाले व्यक्तियोंको मनसे संमति सहमती नहीं देना, कायासे सहाय एवं संपर्क नहीं करना, उसकी हाँ में हाँ या चुटकी बजाके माथा हिलाना–ढुलाना प्रशंसा नहीं करना और वचनसे उनके गुणगान या स्तवन नहीं करना वह अमूढदृष्टि अंग है।

''जो चेतयिता सर्वभावोंमें अमूढ है—यथार्थ दृष्टिवाला है वह ही वास्तवमें अमूढदृष्टि सम्यग्दृष्टि जानना।''

''सम्यग्दृष्टि सभी पदार्थोंके स्वरूपको यथार्थ जानता है उसे राग–द्वेष–मोहका अभाव होनेसे उसकी किसी भी पदार्थ पर अयथार्थ दृष्टि नहीं पड़ती। चारित्रमोहके उदयसे इष्ट–अनिष्ट भाव आते हैं, लेकिन फिर भी वह उदयको बलवान जानकरके उन भावोंका स्वयं कर्ता नहीं होता है।''

''जो आत्मा स्वयंके शुद्धात्मामें श्रद्धान, ज्ञान और आचरणरूप निश्चयरत्नत्रयस्वरूप भावनाके बलसे शुभ अशुभ कर्म जनित परिणामरूप बाह्य पदार्थोंमें सर्वथा असंमूढ होता है (अर्थात् कर्मोंके उदयसे जो दुःखरूप या बाह्य शातारूप पदार्थोंकी अवस्थाएँ होती हैं उसमें शोक–हर्ष नहीं करते हुए उसका यथार्थ स्वरूप जानकर उसके मोहपाशमें पड़कर मूर्ख नहीं बनता) वह वास्तवमें अमूढ़दृष्टि सम्यग्दृष्टि जानना।''

आत्मतत्त्व और शरीरादिक बाह्य तत्त्वोंका यथार्थ निश्चय होनेके फलस्वरूप समस्त मिथ्यात्व–रागादि शुभाशुभ संकल्प विकल्पोंमें इष्टबुद्धि, आत्मबुद्धि, उपादेयबुद्धि, हितबुद्धि और ममत्वभाव छोड़कर विशुद्ध ज्ञान–दर्शनस्वभावमें निश्चल रहना उसका नाम सच्चा अमूढ़दृष्टि गुण है।

अब सम्यग्दर्शनके उपगूहन गुणका स्वरूप कहते हैं।

स्वयं शुद्धस्य मार्गस्य बालाशक्तजनाश्रयाम्।
वाच्यतां यत्प्रमार्जन्ति तद्वदन्त्युपगूहनम्॥१५॥

'तदुपगूहनं वदन्ति' यत्प्रमार्जन्ति निराकुर्वन्ति प्रच्छादयन्तीत्यर्थः। कां? 'वाच्यतां' दोषं। कस्य? 'मार्गस्य' रत्नत्रयलक्षणस्य। किंविशिष्टस्य? 'स्वयं शुद्धस्य' स्वभावतो निर्मलस्य। कथंभूतां? 'बालाशक्तजनाश्रयां' बालोऽज्ञः, अशक्तो व्रताद्यनुष्ठानेऽसमर्थः स चासौ जनश्च स आश्रयो यस्याः। अयमर्थ—हिताहितविवेकविकलं व्रताद्यनुष्ठानेऽसमर्थजनमाश्रित्यागतस्य रत्नत्रये तद्वर्ति वा दोषस्य यत् प्रच्छादनं तदुपगूहनमिति॥१५॥

श्लोक - १५
उपगूहन अंगका लक्षण

अन्वयार्थ—[स्वयम्] स्वभावसे [शुद्धस्य] शुद्ध [मार्गस्य] रत्नत्रयरूप मोक्षमार्गकी [बालाशक्तजनाश्रयाम्] अज्ञानी अथवा व्रतादि आचरण करनेमें असमर्थ पुरुषोंसे होनेवाली [वाच्यताम्] निन्दाको [यत् प्रमार्जन्ति] जो दूर करता है [तत्] उसको [उपगूहनं] उपगूहन अंग [वदन्ति] कहते हैं॥१५॥

टीकार्थ :—रत्नत्रयरूप मोक्षका मार्ग स्वभावसे निर्मल है परन्तु कदाचित् अज्ञानी अथवा व्रतादिके आचरण करनेमें असमर्थ मनुष्योंके द्वारा उसमें यदि कोई दोष उत्पन्न होता है—लोकापवादका अवसर आता है तो सम्यग्दृष्टि जीव उनका निराकरण करते हैं अर्थात् उस दोषको छिपाते हैं, उनकी इस क्रियाको उपगूहन गुण कहते हैं। जो हित और अहितके विवेकसे रहित हैं ऐसे अज्ञानी जीवको बाल कहते हैं तथा बाल्यावस्था, वृद्धावस्था या रुग्णावस्थाके कारण जो व्रतोंका निरतिचार पालन करनेमें असमर्थ हैं उसे अशक्त कहते हैं। ऐसे बाल और अशक्त मनुष्योंके आश्रयसे रत्नत्रय और रत्नत्रयके धारक पुरुषमें आए हुए दोषका प्रच्छादन करना सम्यग्दृष्टिका कर्तव्य है।

भावार्थ :—जो हिताहितके विवेकसे रहित हैं, अज्ञानी हैं तथा जो व्रतादिक आचरण करनेमें असमर्थ हैं ऐसे पुरुषों द्वारा रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग संबंधी या मोक्षमार्गके उपासको संबंधी जो निंदा हुई हो उसे प्रगट नहीं करना (छुपाना) वह उपगूहन अंग है।

एकका दोष देखकर समस्त धर्म या सभी धर्मात्मा दूषित होंगे ऐसा जान सम्यग्दृष्टि

अथ स्थितीकरणगुणं सम्यग्दर्शनस्य दर्शयन्नाह—

दर्शनाच्चरणाद्वापि चलतां धर्मवत्सलैः।
प्रत्यवस्थापनं प्राज्ञैः स्थितीकरणमुच्यते॥१६॥

'स्थितीकरणं' अस्थितस्य दर्शनादेश्चलितस्य स्थितकरणं[1] स्थितीकरणमुच्यते। कैः?

कोई साधर्मीके दोषको प्रगट नहीं करता है। उस दोषको प्रचार करनेका हेतु ज्ञानीको नहीं होता। परंतु जो धर्मके प्रति उसकी प्रीति है उसकी निंदा ना हो यह देखना ज्ञानीका प्रधान (मुख्य) हेतु होता है।

''जो चेतयिता सिद्धकी (शुद्धात्माकी) भक्ति सहित है और पर वस्तुके सर्व धर्मोंको गोपनेवाला है (अर्थात् रागादि परभावोंमें नहीं जुड़ता) वह उपगूहनकारी सम्यग्दृष्टि जानना।''

''सम्यग्दृष्टि उपगूहन गुण सहित है। उपगूहन याने छिपाना है। यहाँ निश्चयनयको प्रधान करके कहा है कि समकिती स्वयंका उपयोग सिद्धकी भक्तिमें लगाता है और जहाँ उपयोग सिद्धकी भक्तिमें लगाया वहाँ अन्य धर्मों पर दृष्टि ही नहीं रही, इस कारण ज्ञानी सर्व अन्य धर्मोंका गोपनेवाला नहीं है परन्तु आत्मशक्तिको बढ़ानेवाला है।

इस गुणका दूसरा नाम उपबृंहण भी है। उपबृंहण मतलब बढ़ाना है। सम्यग्दृष्टि स्वयंका उपयोग सिद्धके स्वरूपमें लगानेके कारण उसकी सर्व शक्तियाँ बढ़ती हैं, आत्मा पुष्ट होती है इसका मतलब वह उपबृंहण गुणवाला है।''

अब सम्यग्दर्शनके स्थितिकरणगुणका स्वरूप कहते हैं।

श्लोक-१६
स्थितिकरण अंगका लक्षण

अन्वयार्थ—[दर्शनात् चरणात् वापि] सम्यग्दर्शन अथवा सम्यक्चारित्रसे [चलताम्] चलायमान होनेवाले पुरुषोंको जो [धर्मवत्सलैः] धर्ममें वात्सल्य रखनेवाले पुरुष [प्रत्यवस्थानम्] फिरसे स्थित करते हैं, उसको [प्राज्ञैः] पंडितजन [स्थितीकरणम्] स्थितिकरण अंग [उच्यते] कहते हैं॥१६॥

टीकार्थ :—'स्थितीकरणम्'में जो 'च्वि' प्रत्यय हुआ है वह 'अभूत तद्भाव' अर्थमें हुआ है इसलिये **('अस्थितस्य स्थितिकरणं स्थितीकरणं')** ऐसा उसका विग्रह होता है।

---

१. स्थितस्य करणं घ०।

प्राज्ञैस्तद्विचक्षणैः। किं तत्? 'प्रत्यवस्थापनं' दर्शनादौ पूर्ववत् पुनरप्यवस्थापनं। केषां? 'चलतां' कस्मात्? दर्शनाच्चरणाद्वापि। कैस्तेषां प्रत्यवस्थापनं? 'धर्मवत्सलैः' धर्मवात्सल्ययुक्तैः ॥१६॥

अथ वात्सल्यगुणस्वरूपं दर्शने प्रकटयन्नाह—

स्वयूथ्यान्प्रति सद्भावसनाथापेतकैतवा।
प्रतिपत्तिर्यथायोग्यं वात्सल्यमभिलप्यते॥१७॥

अस्थिति—दर्शन आदिसे विचलित होते हुए पुरुषका फिरसे स्थित कर देना स्थितीकरण है। कोई जीव बाह्य आचरणका यथायोग्य पालन करता हुआ भी दर्शन—श्रद्धासे भ्रष्ट है, कोई जीव श्रद्धासे दृढ़ होता हुआ भी शारीरिक अशक्ति या प्रमादके कारण बाह्य आचरणसे भ्रष्ट है और कोई जीव कर्मोदयकी तीव्रताके कारण श्रद्धा और आचरण दोनोंसे भ्रष्ट है। इन तीनों प्रकारके जनोंका, धर्मसे स्नेह रखनेवाला पुरुषोंके द्वारा फिरसे उसी धर्ममें स्थित किया जाना स्थितीकरणगुण कहलाता है।

भावार्थ :—रोग, दरिद्रता, चमत्कार, प्रलोभन, मिथ्या उपदेशादि कारणोंसे सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रसे डिगते या चलित जीवोंको योग्य उपदेश देकर धर्म-प्रेमीयों द्वारा फिरसे धर्ममें लगाना (स्थिर करना), इसको विद्वान स्थितिकरण गुण–अंग कहते हैं।

''जो चेतयिता उन्मार्ग पर जाते स्वयंके आत्माको भी मार्गमें स्थिर करता है वह स्थितिकरण युक्त सम्यग्दृष्टि जानना''

''यह स्थितिकरण, स्व और परके भेदसे दो प्रकारका है। इसमें जो स्वयंकी भूलको स्वयं परिणामोंकी शुद्धता द्वारा सुधारते हैं, उनको निश्चयसे स्वस्थितिकरण कहते हैं। तथा अपनेसे भिन्न व्यक्तिको सम्यग्दर्शन व सम्यक्चारित्रसे पतित होता हुआ जानकर उसको धर्मोपदेश द्वारा शंका–समाधान पूर्वक फिरसे सम्यक्दर्शन व सम्यक्चारित्रमें स्थिर करनेके भावको व्यवहारसे पर स्थितिकरण कहा है।''

अब सम्यग्दर्शनके वात्सल्यगुणका स्वरूप कहते हैं।

श्लोक - १७
वात्सल्य अंगका लक्षण

अन्वयार्थ—[स्वयूथ्यान् प्रति] अपने धर्म-जैनधर्मवाले लोगोंका [अपेतकैतवा] छलकपट रहित [सद्भावसनाथा] अच्छेभावोंसे युक्त [यथायोग्यम्] यथायोग्य [प्रतिपत्तिः]

'वात्सल्यं' सधर्मिणि स्नेहः। 'अभिलप्यते' प्रतिपाद्यते। कासौ? 'प्रतिपत्तिः' पूजाप्रशंसादिरूपा। कथं? 'यथायोग्यं' योग्यानतिक्रमेण अञ्जलिकरणाभिमुखगमन प्रशंसावचनोपकरणसम्प्रदानादिलक्षणा। कान् प्रति? 'स्वयूथ्यान्' जैनान् प्रति। कथंभूता? 'सद्भावसनाथा' सद्भावेनावक्रतया सहिता चित्तपूर्विकेत्यर्थः। अत एव 'अपेतकैतवा' अपेतं विनष्टं कैतवं माया यस्याः॥१७॥

अथ प्रभावनागुणस्वरूपं दर्शनस्य निरूपयन्नाह—

आदर सत्कार करनेको [वात्सल्यम्] वात्सल्य अंग [अभिलप्यते] कहते हैं॥१७॥

टीकार्थ :—**'स्वयूथे भवाः स्वयूथ्यास्तान्'** इस व्युत्पत्तिके अनुसार अपने सहधर्मी भाईयोंके समूहमें जो रहते हैं उन्हें स्वयूथ्य कहते हैं। ऐसे लोगोंके प्रति सद्भावसे सहित अर्थात् सरलतासे सहित—मनोयोग पूर्वक और मायाचारसे रहित उनकी योग्यताके अनुसार जो प्रतिपत्ति होती है–हाथ जोड़ना, सन्मुख जाना, प्रशंसाके वचन कहना तथा उपकरण आदिके देने रूप जो प्रवृत्ति होती है वह वात्सल्यगुण कहलाता है। **'वत्सलस्य भावो वात्सल्यं'** इस व्युत्पत्तिके अनुसार वात्सल्यका अर्थ सहधर्मी भाईयोंके प्रति धार्मिक स्नेहका होना है।

भावार्थ :—स्वयंके सहधर्मी भाईयोंको विनयपूर्वक, अच्छे भावसहित, कपट रहित–साफ दिलसे, यथायोग्य नमस्कार, विनय, स्तुति, दान, प्रशंसा और उपकरण आदि द्वारा आदर–सत्कार करना वह वात्सल्य अंग है।

''जो चेतयिता मोक्षमार्गमें रहनेवाले सम्यग्दर्शन–ज्ञान—चारित्ररूपी तीन साधकों–साधनोंके प्रति (अथवा व्यवहारसे आचार्य–उपाध्याय और मुनि–इन तीनों साधुओंके प्रति) वात्सल्य करता है, वह वात्सल्यभावयुक्त (वात्सल्यभाव सहित) सम्यग्दृष्टि जानना।''

स्थितिकरण अंगके समान वात्सल्य अंग भी स्व और परके भेदसे दो प्रकारका है। परिषह–उपसर्गादि द्वारा पीड़ित होने पर भी कोई शुभ आचरणमें ज्ञान और ध्यानमें शिथिलता नहीं आने देना वह स्वात्मसंबंधी वात्सल्य है और अन्य संयमीओ ऊपर घोर परिषह उपसर्गादिक आ जाए तो उनकी बाधा दूर करनेका भाव होना वह पर वात्सल्य है।''

अब सम्यग्दर्शनके प्रभावनागुणका स्वरूप कहते हैं।

अज्ञानतिमिरव्याप्तिमपाकृत्य यथायथम्।
जिनशासनमाहात्म्यप्रकाशः स्यात्प्रभावना ॥१८॥

'प्रभावना' स्यात्। कासौ? 'जिनशासनमाहात्म्यप्रकाशः'। ★जिनशासनस्य माहात्म्यप्रकाशस्तु[1] ★तपोज्ञानाद्यतिशयप्रकटीकरणं। कथं? 'यथायथं' स्नपनदानपूजा-विधानतपोमंत्रतंत्रादिविषये आत्मशक्त्यनतिक्रमेण। किं कृत्वा? 'अपाकृत्य' निराकृत्य। कां? 'अज्ञानतिमिरव्याप्तिं'★ जिनमतात्परेषां यत्स्नपनदानादिविषयेऽज्ञानमेव तिमिरमन्धकारं तस्य व्याप्तिं ★प्रसरम् ॥१८॥

इदानीमुक्तनिःशंकितत्वाद्यष्टगुणानां मध्ये कः केन गुणेन प्रधानतया प्रकटित इति प्रदर्शयन् श्लोकद्वयमाह—

श्लोक - १८
प्रभावना अंगका लक्षण

अन्वयार्थ—[अज्ञानतिमिरव्याप्तिम्] अज्ञानरूपी अन्धकारके प्रसारको [अपाकृत्य] दूर करके [यथायथम्] यथाशक्ति [जिनशासनमाहात्म्यप्रकाशः] जिनधर्मके महत्वको प्रगट करना [प्रभावना] प्रभावना अंग [स्यात्] है॥१८॥

टीकार्थ :—जैनधर्मके अतिरिक्त अन्य धर्मावलम्बियोंमें, अभिषेक, दान, पूजाविधान, तप, मन्त्र तथा तन्त्र आदिके विषयमें जो अज्ञानरूप अन्धकार फैल रहा है उसे अपनी शक्तिका उल्लंघन न कर दूर करते हुए, जिनशासनकी महिमा प्रकट करना—उसके तप तथा ज्ञान आदिका अतिशय बतलाना प्रभावना अंग है।

भावार्थ :—जैनधर्म संबंधी फैली हुई अज्ञानताको अपनी शक्ति अनुसार विद्या, दान, पूजाविधान, तप, मंत्र, तंत्रादि द्वारा दूर करके जैन धर्मकी महिमा प्रगट करना उसे प्रभावना अंग कहते हैं।

"जो चेतयिता विद्यारूपी रथमें आरूढ़ होकर मनरूपी रथ-पंथमें (अर्थात् ज्ञानरूपी जो रथको चलनेका मार्ग उसमें) भ्रमण करता है वह जिनेश्वरके ज्ञानकी प्रभावना करनेवाला सम्यग्दृष्टि जानना।"

अब कहे हुए निःशंकितत्त्वादि आठ गुणोंमें कौन किस गुणके कारण प्रधानतासे प्रसिद्ध हुए हैं यह दर्शानेवाले दो श्लोक कहते हैं।

★. ध पुस्तके 'तु' नास्ति। सम्पादनादिलक्षणा ख। ★ पुष्पमध्यगतः पाठः क-पुस्तके नास्ति।

तावदञ्जनचौरोऽङ्गे ततोऽनन्तमतिः स्मृता।
उद्दायनस्तृतीयेऽपि तुरीये रेवती मता॥१९॥
ततो जिनेन्द्रभक्तोऽन्यो वारिषेणस्ततः परः।
विष्णुश्च वज्रनामा च शैषयोर्लक्ष्यतां गताः॥२०॥

तावच्छब्दः क्रमवाची, सम्यग्दर्शनस्य हि निःशंकितत्वादीन्यष्टांगान्युक्तानि तेषु मध्ये प्रथमे निःशंकितत्वेऽगस्वरूपे तावल्लक्ष्यतां दृष्टान्ततां गतोऽञ्जनचोरः स्मृतो निश्चितः। द्वितीयेऽगे निष्कांक्षितत्वे ततोऽञ्जनचोरादन्यानन्तमतिर्लक्ष्यतां गता मता। तृतीयेऽगे निर्विचिकित्सत्वे उद्दायनो लक्ष्यतां गतो मतः। तुरीये चतुर्थेऽङ्गे अमूढदृष्टित्वे रेवती लक्ष्यतां गता मता। ततस्तेभ्यश्चतुर्थेभ्योऽन्यो जिनेन्द्रभक्तश्रेष्ठी उपगूहने लक्ष्यतां गतो मतः। ततो जिनेन्द्रभक्तात् परो वारिषेणः स्थितीकरणे लक्ष्यतां गतो मतः। विष्णुश्च विष्णुकुमारो वज्रनामा। च वज्रकुमारः शेषयोर्वात्सल्यप्रभावनयोर्लक्ष्यतां गतौ मतौ। गता इति

श्लोक-१६-२०
प्रत्येक अंगमें प्रसिद्ध होनेवाले नाम

अन्वयार्थ—[तावत् अंगे] पहिले अंगमें [अंजनचौरः] अंजनचोर [स्मृतः] समझना चाहिए [ततः] उसके आगे दूसरे अंगमें [अनन्तमतिः] अनन्तमती [स्मृता] स्मरण की जाती है [तृतीये] तीसरे अंगमें [उद्दायनः] उद्दायन [मतः] प्रसिद्ध हुआ [तुरीये] चौथे अंगमें [रेवती] रेवती [मता] प्रसिद्ध हुई [ततः अन्यः जिनेन्द्रभक्तः] उसके आगे पांचवें अंगमें जिनेन्द्रभक्त [लक्ष्यतां गतः] प्रसिद्ध हुआ [ततः परः वारिषेणः] उसके आगे छठवें अंगमें वारिषेण [लक्ष्यतां गतः] प्रसिद्ध हुआ [विष्णुः च वज्रनामा] विष्णुकुमार और वज्रकुमार ये [शेषयोः लक्ष्यतां गतौ] बाकीके सातवें और आठवें अंगमें क्रमसे प्रसिद्ध हुए॥१९-२०॥

टीकार्थ :—सम्यग्दर्शनके जो निःशंङ्कितत्त्व आदि आठ अंग कहे गये हैं उनमेंसे पहले निःशंकित अंगमें अंजनचोर, दूसरे निःकांङ्क्षितत्त्व अंगमें अनन्तमती रानी, तीसरे निर्विचिकित्सत्व अंगमें उद्दायन राजा, चौथे अमूढदृष्टित्वअंगमें रेवती रानी, पाँचवें उपगूहन अंगमें जिनेन्द्रभक्त सेठ, छठवें स्थितीकरण अंगमें वारिषेण, सातवें वात्सल्य अंगमें विष्णुकुमार मुनि और आठवें प्रभावना अंगमें वज्रकुमार मुनि प्रसिद्धिको प्राप्त हुए हैं।

बहुवचननिर्देशो दृष्टान्तभूतोक्तात्मव्यक्तिबहुत्वापेक्षया[1]।

भावार्थ :—सामान्यतः सम्यक्दृष्टिको अविनाभावसे आठों आठ सम्यग्दर्शनके अंग होते हैं, परंतु कोई-कोई अंगमें स्वयंके धार्मिक जीवनकी बाह्य विशेषताओंको लेकर लोकमें वह प्रसिद्धि पाता है। ऐसे प्रसिद्धि पानेवाले व्यक्तियोके नाम निम्नानुसार है :—

अंग	प्रसिद्ध व्यक्ति
(१) निःशंकित	अंजन चोर
(२) निःकांक्षित	अनंतमती रानी
(३) निर्विचिकित्सा	उद्दायन राजा
(४) अमूढदृष्टि	रेवती रानी
(५) उपगूहन	जिनेन्द्रभक्त शेठ
(६) स्थितीकरण	वारिषेण (श्रेणिक राजाका पुत्र)
(७) वात्सल्य	विष्णुकुमार मुनि
(८) प्रभावना	वज्रकुमार मुनि

उपरोक्त अंगोंमें प्रसिद्ध होनेवाले व्यक्तियोंकी कथाएँ हैं, वह प्रथमानुयोगका विषय है। इसका अर्थ निम्नानुसार समझना चाहिये।

पुनश्च ''प्रथमानुयोगमें उपचाररूप कोई धर्म-अंगके होनेसे यहाँ संपूर्ण धर्म हुआ कहते हैं। जो जीव को शंका-कांक्षादि नहीं होती उसको सम्यक्त्व होता है ऐसा कहनेमें आता है, लेकिन कोई कार्यमें शंका-कांक्षा नहीं करने मात्रसे तो सम्यक्त्व नहीं होता। सम्यक्त्त्व तो तत्त्वश्रद्धान होने पर ही होता है; परन्तु यहाँ तो निश्चय सम्यक्त्वका व्यवहार सम्यक्त्वमें उपचार किया है तथा व्यवहार सम्यक्त्वके कोई एक अंगमें सम्पूर्ण व्यवहार सम्यक्त्वका उपचार किया है। इस कारण उसको उपचारसे सम्यक्त्व प्राप्त हुआ कहा जाता है।''

जिसको सम्यक्त्व हुआ हो उसीको ही यह उपचार लागु पड़ता है। लेकिन मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी जो बादमें सम्यग्दर्शन प्रगट न करे उसको यह उपचार लागु नहीं होता ऐसा समझना।

१. दृष्टान्तभूतोक्तत्वाद् व्यक्ति घ० ।

तत्र निःशंकितत्वेऽजनचोरो दृष्टान्ततां गतोऽस्य कथा।

यथा—धन्वंतरिविश्वलोमौ [१]सुकृतकर्मवशादमितप्रभविद्युत्प्रभदेवौ संजातौ चान्योन्यस्य धर्मपरीक्षणार्थमत्रायातौ। तो [२]यमदग्निस्ताभ्यां तपसश्चालितः। मगधदेशे राजगृहनगरे जिनदत्तश्रेष्ठी कृतोपवासः कृष्णचतुर्दश्यां रात्रौ स्मशाने कायोत्सर्गेण स्थितो दृष्टः। ततोऽमितप्रभदेवेनोक्तं दूरे तिष्ठंतु मदीया मुनयोऽमुं गृहस्थं ध्यानाच्चालयेति, ततो विद्युत्प्रभदेवेनानेकधा कृतोपसर्गोपि न चलितो ध्यानात्। ततः प्रभाते मायामुपसंहृत्य प्रशस्य

विशेष

सम्यग्दर्शन, प्रतीति, रुचि, श्रद्धा और श्रद्धान–ये सम्यक्त्वके पर्यायवाचक शब्द हैं। सम्यग्दर्शनके आठ अंग हैं। अंग शब्दका अर्थ अवयव है। सम्यग्दर्शन अंगी है–अवयवी है और निःशंकित आदि वे उसके अंग-अवयव हैं।

अंगका अर्थ लक्षण-चिह्न भी होता है। जिसको सम्यग्दर्शन होता है उसे निःशंकितादि चिह्न अवश्य होते हैं।

सम्यग्दर्शनके आठ अंगोंमें पहले चार अंग निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा और अमूढ़दृष्टि--यह निषेधरूप है और बाकीके चार अंग--उपगूहन, स्थितीकरण, वात्सल्य और प्रभावना यह विधेयरूप है।

सूचना—अब टीकाकार आठों अंगमें प्रसिद्ध हुई व्यक्तियोंकी क्रमसे कथा कहेंगे।

इसमें निःशंकितपनेमें अंजनचोरका दृष्टांत आता है। (यह आठ अंगमें निःशंकित अंगमें अंजनचोरका उदाहरण प्रसिद्ध है)। उसकी यह कथा है।

कथा-१ : अञ्जन चोरकी कथा

धन्वन्तरि और विश्वलोमा पुण्यकर्मके प्रभावसे अमितप्रभ और विद्युत्प्रभ नामके देव हुए। और एक दूसरेके धर्मकी परीक्षा करनेके लिए पृथ्विलोक पर आये। तदनन्तर उन्होंने यमदग्नि ऋषिको तपसे विचलित किया। मगध देशके राजगृह नगरमें जिनदत्त नामका सेठ उपवासका नियम लेकर कृष्ण पक्षकी चतुर्दशीकी रात्रिको स्मशानमें कायोत्सर्गसे स्थित था। उसे देखकर अमितप्रभ देवने विद्युत्प्रभसे कहा कि हमारे मुनि दूर रहें, इस गृहस्थको ही तुम ध्यानसे विचलित करो। तदनन्तर विद्युत्प्रभ देवने उसपर अनेक प्रकारके उपसर्ग किये, फिर

१. स्वकृत घ०। २. जमदग्नि घ०।

चाकाशगामिनी विद्या दत्ता तस्मै,[३] कथितं च तवेयं सिद्धाऽन्यस्य च पंच-नमस्कारार्चनाराधनविधिना सेत्स्यतीति। सोमदत्तपुष्पबटुकेन चैकदा जिनदत्तश्रेष्ठी पृष्टः—क्व भवान् प्रातरेवोत्थाय व्रजतीति। तेनोक्तमकृत्रिमचैत्यालयवंदनाभक्तिं कर्तुं व्रजामि। ममेत्थं विद्यालाभः संजात इति कथिते तेनोक्तं मम विद्यां देहि, येन त्वया सह पुष्पादिकं गृहीत्वा वंदनाभक्तिं करोमीति। ततः श्रेष्ठिना तस्योपदेशो दत्तः। तेन च कृष्णचतुर्दश्यां स्मशाने वटवृक्षपूर्वशाखायामष्टोत्तरशतपादं दर्भशिक्यं बन्धयित्वा तस्य तले तीक्ष्णसर्वशस्त्राण्यूर्ध्वमुखानि धृत्वा गंधपुष्पादिकं दत्वा शिक्यमध्ये प्रविश्य षष्ठोपवासेन पंचनमस्कारानुच्चार्यं छुरिकयैकैकं पादं छिंतदाऽधो जाज्वल्यमानप्रहरणसमूहमालोक्य भीतेन तेन संचिंतितं—यदि श्रेष्ठिनो वचनमसत्यं भवति तदा मरणं भवतीति शंकितमना वारंवारं चटनोत्तरणं करोति। एतस्मिन् प्रस्तावे प्रजापालस्य राज्ञः कनकाराज्ञीहारं दृष्ट्वांजनसुंदर्या

भी वह ध्यानसे विचलित नहीं हुआ। तदनन्तर प्रातःकाल अपनी मायाको समेटकर विद्युतप्रभने उसकी बहुत प्रशंसा की और उसे आकाशगामिनी विद्या दी। विद्या प्रदान करते समय उससे कहा कि तुम्हें यह विद्या सिद्ध हो चुकी है, दूसरेके लिए पञ्चनमस्कार मन्त्रकी अर्चना और आराधनाकी विधिसे सिद्ध होगी। जिनदत्तके यहाँ सोमदत्त नामका एक बटुक रहता था, एक दिन उसने जिनदत्त सेठसे पूछा कि आप प्रातः काल ही उठकर कहाँ जाते हैं? सेठने कहा कि मैं अकृत्रिम चैत्यालयोंकी वन्दनाभक्ति करनेके लिये जाता हूँ। 'मुझे इस प्रकारसे आकाशगामिनी विद्याका लाभ हुआ है' सेठके ऐसा कहनेपर सोमदत्त बटुकने कहा कि मुझे भी यह विद्या देओ, जिससे मैं भी तुम्हारे साथ पुष्पादिक लेकर वन्दना भक्ति करूँगा। तदनन्तर सेठने उसके लिए विद्या सिद्ध करनेकी विधि बतलाई।

सोमदत्त बटुकने कृष्णपक्षकी चतुर्दशीकी रात्रिको स्मशानमें वटवृक्षकी पूर्व दिशावाली शाखापर एकसौ साठ रस्सियोंका एक मूँजका सींका बाँधा, उसके नीचे सब प्रकारके पैने शस्त्र ऊपरकी ओर मुखकर रक्खे। पश्चात् गन्ध, पुष्प आदि लेकर सीकेके बीच प्रविष्ट हो उसने (बटुकने) वेला—दो दिनके उपवासका नियम लिया। फिर पञ्चनमस्कार मन्त्रका उच्चारणकर छुरीसे सींकेकी एक एक रस्सीको काटनेके लिए तैयार हुआ। परन्तु नीचे चमकते हुए शस्त्रोंके समूहको देखकर वह डर गया तथा विचार करने लगा कि यदि सेठके वचन असत्य हुए तो मरण हो जावेगा। इस प्रकार शङ्कित चित्त होकर वह सींके पर बार-बार चढ़ने और उतरने लगा।

उसी समय राजगृही नगरीमें एक अञ्जन सुन्दरी नामकी वेश्या रहती थी। एक दिन उसने

---

३. तस्मै नास्ति ध पुस्तके।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ - ३६४२५०

विलासिन्या रागावागर्तोजनचोरो भणितः। यदि मे कनकाराज्ञ्या हारं ददासि तदा भर्त्ता त्वं नान्यथेति। ततो गत्वा रात्रौ हारं चोरयित्वांऽजनचोर आगच्छन् हारोद्योतेन ज्ञातोंऽगरक्षैः कोट्टपालैश्च [1]ध्रियमाणो हारं त्यक्त्वा प्रणश्य गतः, वटतले बटुकं दृष्ट्वा तस्मान्मंत्रं गृहीत्वा निःशंकितेन तेन विधिनैकवारेण सर्वशिक्यं छिन्नं शस्त्रोपरि पतितः सिद्धया विद्यया भणितं—ममादेशं देहीति। तेनोक्तं—जिनदत्तश्रेष्ठिपार्श्वे मां नयेति। ततः सुदर्शनमेरुचैत्यालये जिनदत्तस्याग्रे नीत्वा स्थितः[2]। पूर्ववृत्तांतं कथयित्वा तेन भणितं—यथेयं सिद्धा भवदुपदेशेन तथा परलोकसिद्धावप्युपदेहीति। ततश्चारणमुनिसन्निधौ तपो गृहीत्वा कैलासे केवलमुत्पाद्य मोक्षं गतः॥१॥

निःकांक्षितत्त्वेऽनंतमतीदृष्टांतोऽस्याः कथा।

अंगदेशे चंपानगर्यां राजा वसुवर्धनो राज्ञी लक्ष्मीमती। श्रेष्ठी प्रियदत्तस्तद्भार्या

प्रजापाल राजाकी कनकारानीका हार देखा। रात्रिको जब अञ्जन चोर उस वेश्याके यहाँ गया तब उसने कहा कि यदि तुम मुझे कनकारानीका हार लाकर दे सकते हो तो मेरे भर्ता बन सकते हो अन्यथा नहीं। तदनन्तर अञ्जन चोर रात्रिमें हार चुराकर आ रहा था कि हारके प्रकाशसे वह जान लिया गया। अंगरक्षको और कोटपालने उसे पकड़ना चाहा परन्तु वह हार छोड़कर भाग गया। वटवृक्षके नीचे सोमदत्त बटुकको देखकर उसने उससे सब समाचार पूछा तथा उससे मन्त्र लेकर वह सींकेपर चढ़ गया। उसने निःशंङ्कित होकर उस विधिसे एक ही बारमें सींकेकी सब रस्सियाँ काट दीं। ज्यों ही वह शस्त्रोंके ऊपर गिरने लगा त्यों ही विद्या सिद्ध हो गई।

सिद्ध हुई विद्याने उससे कहा कि मुझे आज्ञा दो। अञ्जन चोरने कहा कि मुझे जिनदत्त सेठके पास ले चलो। उस समय जिनदत्त सेठ सुदर्शन मेरुके चैत्यालयमें स्थित था। विद्याने अञ्जन चोरको ले जाकर सेठके आगे खड़ा कर दिया। अपना पिछला वृत्तान्त कह कर अञ्जनचोरने सेठसे कहा कि आपके उपदेशसे मुझे जिस प्रकार यह विद्या सिद्ध हुई है उसी प्रकार परलोककी सिद्धिके लिये भी आप मुझे उपदेश दीजिये। तदनन्तर चारण ऋद्धिधारी मुनिराजके पास दीक्षा लेकर उसने कैलासपर्वत पर तप किया केवलज्ञान प्राप्तकर वहींसे मोक्ष प्राप्त किया।

कथा-२ : अनन्तमतीकी कथा

अंग देशकी चंपानगरीमें राजा वसुवर्धन रहते थे। उनकी रानीका नाम लक्ष्मीमती था।

---

१. गृहीष्यमाणः इति पाठांतरम्। २. धृत इत्यन्यत्र।

Shri Digambar Jain Swadhyay Mandir Trust, Songadh - 364250

अंगवती पुत्र्यनंतमती। नंदीश्वराष्टम्यां श्रेष्ठिना धर्मकीर्त्याचार्यपादमूलेऽष्टदिनानि ब्रह्मचर्यं गृहीतं। क्रीडयाऽनंतमती च ग्राहिता। अन्यदा संप्रदानकालेऽनंतमत्योक्तं–तात! मम त्वया ब्रह्मचर्यं दापितमतः किं विवाहेन? श्रेष्ठिनोक्तं क्रीडया मया ते ब्रह्मचर्यं दापितं। ननु तात! धर्मे व्रते का क्रीडा। ननु पुत्रि! नंदीश्वराष्टदिनान्येव व्रतं तव न सर्वदा दत्तं। सोवाच ननु तात! तथा भट्टारकैरविवक्षितत्वादिति। इह जन्मनि परिणयने मम निवृत्तिरस्तीत्युक्त्वा सकलकलाविज्ञानशिक्षां कुर्वती स्थिता। यौवनभरे चैत्रे निजोद्याने आंदोलयंती विजयार्धदक्षिणश्रेणिकन्नरपुरविद्याधरराजेन कुंडलमंडितनाम्ना सुकेशीनिजभार्यया सह गगनतले गच्छता दृष्टा। किमनया विना जीवितेनेति संचित्य भार्यां गृहे धृत्वा शीघ्रमागत्य विलपंती तेन सा नीता। आकाशे गच्छता भार्यां दृष्ट्वा भीतेन पर्णलघुविद्याः[9] समर्प्य महाटव्यां

वहीं प्रियदत्त नामका सेठ था, उसकी स्त्रीका नाम अंगवती था और दोनोंके अनन्तमती नामकी पुत्री थी। एकबार नन्दीश्वर–अष्टाह्निक पर्वकी अष्टमीके दिन सेठने धर्मकीर्ति आचार्यके पादमूलमें आठ दिन तकका ब्रह्मचर्य व्रत लिया। सेठने क्रीडावश अनन्तमतीको भी ब्रह्मचर्य व्रत लिवा दिया।

जब अनन्तमतीके विवाहका अवसर आया तब उसने कहा कि पिताजी! आपने तो मुझे ब्रह्मचर्यव्रत दिलाया था, इसलिये विवाहसे क्या प्रयोजन है? सेठने कहा—मैंने तो तुझे क्रीड़ावश ब्रह्मचर्य दिलाया था। अनन्तमतीने कहा कि व्रतरूप धर्मके विषयमें क्रीड़ा क्या वस्तु है? सेठने कहा—पुत्री! नन्दीश्वर पर्वके आठ दिनके लिये ही तुझे ब्रह्मचर्य व्रत दिलाया था, न कि सदा के लिये। अनन्तमतीने कहा कि पिताजी! भट्टारक महाराजने तो वैसा नहीं कहा था। इस जन्ममें मेरा विवाह त्याग है। ऐसा कहकर वह समस्त कलाओंके विज्ञानकी शिक्षा लेती हुई रहने लगी।

एक बार जब वह पूर्ण यौवनवती हो गई तब चैत्र मासमें अपने घरके उद्यानमें झूला झूल रही थी। उसी समय विजयार्ध पर्वतकी दक्षिण श्रेणीमें स्थित किन्नरपुर नगरमें रहनेवाला कुण्डलमण्डित नामक विद्याधरोंका राजा अपनी सुकेशी नामक स्त्रीके साथ आकाशमें जा रहा था। उसने उस अनन्तमतीको देखा। देखते ही विचार करने लगा कि इसके बिना जीवित रहनेसे क्या प्रयोजन है? ऐसा विचारकर वह अपनी स्त्रीको तो घर छोड़ आया और शीघ्र ही आकर विलाप करती हुई अनन्तमतीको हर ले गया। जब वह आकाशमें जा रहा था तब उसने अपनी स्त्री सुकेशीको वापिस आती देखा। देखते ही वह भयभीत हो गया और उसने पर्णलघु विद्या देकर अनन्तमतीको महाअटवीमें छोड़ दिया। वहाँ उसे रोती देख भीम नामक

१. विद्यायाः घ०।

मुक्ता। तत्र च तां रुदन्तीमालोक्य भीमनाम्ना भिल्लराजेन निजपल्लिकायां नीत्वा प्रधानराज्ञीपदं तव ददामि मामिच्छेति भणित्वा रात्रावनिच्छतीं भोक्तुमारब्धा। व्रतमाहात्म्येन वनदेवतया तस्य ताडनाद्युपसर्गः कृतः। देवता काचिदियमिति भीतेन तेनावासितसार्थ-पुष्पकनाम्नः सार्थवाहस्य समर्पिता। सार्थवाहो लोभं दर्शयित्वा परिणेतुकामो न तया वाञ्छितः। तेन चानीयायोध्यायां कामसेनाकुट्टिन्याः समर्पिता, कथमपि वेश्या न जाता। ततस्तया सिंहराजस्य राज्ञो दर्शिता तेन च रात्रौ हठात् सेवितुमारब्धा। नगरदेवतया तद्व्रतमाहात्म्येन तस्योपवर्गः कृतः। तेन च भीतेन गृहान्निः सारिता। रुदती सखेदं सा कमलश्रीक्षांतिकया[9] श्राविकेति मत्वाऽतिगौरवेण धृता। अथानंतमतीशोकविस्मरणार्थं प्रियदत्तश्रेष्ठी बहुसहायो वंदनाभक्तिं कुर्वन्नयोध्यायां गतो निजश्यालकजिनदत्तश्रेष्ठिनो गृहे संध्यासमये प्रविष्टो रात्रौ पुत्रीहरणवार्तां कथितवान्। प्रभाते तस्मिन् वंदनाभक्तिं कर्तुं गते

भीलोंका राजा अपनी वसतिमें ले गया और 'मैं तुम्हें प्रधान रानीका पद देता हूँ तुम मुझे चाहो' ऐसा कहकर रात्रिके समय उसके न चाहनेपर भी उपभोग करनेके लिए उद्यत हुआ। व्रतके माहात्म्यसे वन देवताने उस भीलोंके राजाकी अच्छी पिटाई की। 'यह कोई देवी है' ऐसा समझकर भीलोंका राजा डर गया और उसने वह अनन्तमती बहुतसे बनिजारोंके साथ ठहरे हुए पुष्पक नामक प्रमुख बनिजारेके लिये दे दी। प्रमुख बनिजारेने लोभ दिखाकर विवाह करनेकी इच्छा की, परन्तु अनन्तमतीने उसे स्वीकृत नहीं किया। तदनन्तर वह बनिजारा उसे लाकर अयोध्याकी कामसेना नामकी वेश्याको सौंप गया। कामसेनाने उसे वेश्या बनाना चाहा पर वह किसी भी तरह वेश्या नहीं हुई। तदनन्तर उस वेश्याने सिंहराज नामक राजाके लिये वह अनन्तमती दिखलाई और वह राजा रात्रिमें उसे बलपूर्वक सेवन करनेके लिये उद्यत हुआ, परन्तु उसके व्रतके माहात्म्यसे नगर देवताने राजाके ऊपर उपसर्ग किया, जिससे डरकर उसने उसे घरसे निकाल दिया।

खेदके कारण अनन्तमती रोती हुई बैठी थी कि कमलश्री नामकी आर्यिकाने 'यह श्राविका है' ऐसा मानकर बड़े सम्मानके साथ उसे अपने पास रख लिया। तदनन्तर अनन्तमतीका शोक भुलानेके लिये प्रियदत्त सेठ बहुतसे लोगोंके साथ वन्दना भक्ति करता हुआ अयोध्या गया, और अपने साले जिनदत्त सेठके घर संध्याके समय पहुँचा। वहाँ उसने रात्रिके समय पुत्रीके हरणका समाचार कहा। प्रातःकाल होनेपर सेठ प्रियदत्त तो वन्दना भक्ति करनेके लिये गया। इधर जिनदत्त सेठकी स्त्रीने अत्यन्त गौरवशाली पाहुनेके निमित्त उत्तम भोजन बनाने और घरमें चौक पूरनेके लिये कमलश्री आर्यिकासे कह श्राविकाको बुलवा

अतिगौरवितप्राधूर्णकनिमित्तं रसवतीं कर्तुं गृहे चतुष्कं दातुं कुशला कमलश्रीक्षांतिका[1] श्राविका जिनदत्तभार्या आकारिता। सा च सर्वं कृत्वा वसतिकां गता। वंदनाभक्तिं कृत्वा आगतेन प्रियदत्तश्रेष्ठिना चतुष्कमालोक्यानंतमतीं स्मृत्वा गद्गरितहृदयेन गद्गदितवचनेनाश्रुपातं कुर्वता भणितं—यया गृहमंडनं कृतं तां मे दर्शयेति। ततः सा आनीता तयोश्च मेलापके जाते जिनदत्तश्रेष्ठिना च महोत्सवः कृतः। अनंतमत्या चोक्तं तात! इदानीं मे तपो दापय, दृष्टमेकस्मिन्नेव भवे संसारवैचित्र्यमिति। ततः कमलश्रीक्षांतिकापार्श्वे[2] तपो गृहीत्वा बहुना कालेन विधिना मृत्वा तदात्मा सहस्रारकल्पे देवो जातः ॥२॥

निर्विचिकित्सिते उद्दायनो दृष्टांतोऽस्य कथा।

एकदा सौधर्मेन्द्रेण जिनसभायां सम्यक्त्वगुणं व्यावर्णयता भरते [3]वत्सदेशे रौरकपुरे उद्दायनमहाराजस्य निर्विचिकित्सितगुणः प्रशंस्तिस्तं परीक्षितुं वासवदेव उदुंबरकुष्ठकुथितं मुनिरूपं विकृत्य तस्यैव हस्तेन विधिना स्थित्वा सर्वमाहारं जलं च मायया भक्षयित्वातिदुर्गंधं

लिया। वह श्राविका सब काम करके अपनी वसतिकामें चली गई। वन्दना भक्ति करके जब प्रियदत्त सेठ वापिस आये तब चौक देखकर उन्हें अनन्तमती का स्मरण हो आया, उनके हृदय पर गहरी चोट लगी। गद्गद् वचनोंसे अश्रुपात करते हुए उन्होंने कहा कि जिसने यह चौक पूरा है उसे मुझे दिखलाओ। तदनन्तर वह श्राविका बुलाई गई। पिता और पुत्रीका मेल होनेपर जिनदत्त सेठने बहुत भारी उत्सव किया। अनन्तमतीने कहा कि पिताजी! अब मुझे तप दिला दो, मैंने एक ही भवमें संसारकी विचित्रता देख ली है। तदनन्तर कमलश्री आर्यिकाके पास दीक्षा लेकर उसने बहुत काल तक तप किया। अन्तमें संन्यासपूर्वक मरणकर उसकी आत्मा सहस्त्रार स्वर्गमें देव हुई।

कथा-३ : उद्दायन राजाकी कथा

एकबार अपनी सभामें सम्यग्दर्शनके गुणोंका वर्णन करते हुए सौधर्मेन्द्रने वत्स देशके रौरकपुर नगरके राजा उद्दायन महाराजके निर्विचिकित्सित गुणकी बहुत प्रशंसा की। उसकी परीक्षा करनेके लिये एक वासव नामका देव आया। उसने विक्रियासे एक ऐसे मुनिका रूप बनाया जिसका शरीर उदुम्बर कुष्टसे गलित हो रहा था। उस मुनिने विधिपूर्वक खड़े होकर उसी राजा उद्दायनके हाथसे दिया हुआ समस्त आहार और जल मायासे ग्रहण किया। पश्चात्

१–२ कंतिका घ०। ३. कच्छदेशे क, ग, घ०।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ - ३६४२५०

बहुवमनं कृतवान्। दुर्गंधभयान्नष्टे परिजने प्रतीच्छतो राज्ञस्तद्देव्याश्च प्रभावत्या उपरि छर्दितं, हाहा! विरुद्ध आहारो दत्तो मयेत्यात्मानं निंदयतस्तं च प्रक्षालयतो मायां परिहृत्य प्रकटीकृत्य पूर्ववृत्तान्तं कथयित्वा प्रशस्य च तं, स्वर्गं गतः। उद्दायनमहाराजो वर्धमानस्वामिपादमूले तपोगृहीत्वा मुक्तिं गतः। प्रभावती च तपसा ब्रह्मस्वर्गे देवो बभूव॥३॥

अमूढदृष्टित्वे रेवती दृष्टान्तोऽस्य कथा।

विजयार्धदक्षिणश्रेण्यां मेघकूटे नगरे राजा चन्द्रप्रभः। चन्द्रशेखरपुत्राय राज्यं दत्वा परोपकारार्थं वन्दनाभक्त्यर्थं च कियतीर्विद्या दधानो दक्षिणमथुरायां गत्वा गुप्ताचार्यसमीपे क्षुल्लको जातः। तेनैकदा वन्दनाभक्त्यर्थमुत्तरमथुरायां चलितेन गुप्ताचार्यः पृष्टः किं कस्य कथ्यते[1]? भगवतोक्तं सुव्रतमुनेर्वन्दना वरुणराजमहाराज्ञीरेवत्या आशीर्वादश्च कथनीयः। त्रिपृष्टेनापि[2] तेन एतावदेवोक्तं। ततः क्षुल्लकेनोक्तं। भव्यसेनाचार्यस्यैकादशांगधारिणोऽन्येषां

अत्यन्त दुर्गन्धित वमन कर दिया। दुर्गन्धके भयसे परिवारके सब लोग भाग गये, परन्तु राजा उद्दायन अपनी रानी प्रभावतीके साथ मुनिकी परिचर्या करता रहा। मुनिने उस दोनोंके ऊपर वमन कर दिया। 'हाय-हाय मेरे द्वारा विरुद्ध आहार दिया गया है' इस प्रकार अपनी निन्दा करते हुए राजाने मुनिका प्रक्षालन किया। अन्तमें देव अपनी मायाको समेटकर असली रूपमें प्रकट हुआ और पहलेका सब समाचार कहकर तथा राजाकी प्रशंसा कर स्वर्ग चला गया। उद्दायन महाराज वर्धमान स्वामीके पादमूलमें तप ग्रहण कर मोक्ष गये और रानी प्रभावती तपके प्रभावसे ब्रह्मस्वर्गमें देव हुई। ३.

कथा-४ : रेवती रानीकी कथा

विजयार्ध पर्वतकी दक्षिण श्रेणी सम्बन्धी मेघकूट नगरका राजा चन्द्रप्रभ, अपने चन्द्रशेखर पुत्रको राज्य देकर, परोपकार तथा वन्दना-भक्तिके लिये कुछ विद्याओंको धारण करता हुआ दक्षिण मथुरा गया और वहाँ गुप्ताचार्यके समीप क्षुल्लक हो गया। एक दिन वह क्षुल्लक, वन्दना-भक्तिके लिये उत्तर मथुराकी ओर जाने लगा। जाते समय उसने गुप्ताचार्यसे पूछा कि क्या किसीसे कुछ कहना है। भगवान गुप्ताचार्यने कहा कि सुव्रत मुनिको वन्दना और वरुणराजकी महारानी रेवतीके लिये आशीर्वाद कहनेके योग्य है। क्षुल्लकने तीन बार पूछा फिर भी उन्होंने इतना ही कहा। तदनन्तर क्षुल्लकने कहा कि वहाँ ग्यारह अंगके धारक भव्यसेनाचार्य

---

१. कथते ख।

२. त्रिःपृष्टेनाप्येतावदेनोक्तं ध०।

Shri Digambar Jain Swadhyay Mandir Trust, Songadh - 364250

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ - ३६४२५०

च नामापि भगवान् न गृह्णाति तत्र किंचित्कारणं भविष्यतीति सम्प्रधार्य तत्र गत्वा सुव्रतमुनेर्भट्टारकीयां वन्दनां कथयित्वा तदीयं च विशिष्टं वात्सल्यं दृष्ट्वा भव्यसेनवसतिकां गतः। तत्र गतस्य च[३] भव्यसेनेन संभाषणमपि न कृतं। कुण्डिकां गृहीत्वा, भव्यसेनेन सह बहिर्भूमिं गत्वा विकुर्वणया हरितकोमलतृणांकुरच्छन्नो मार्गोऽग्रे दर्शितः। तं दृष्ट्वा ''आगमे किलैते जीवाः कथ्यन्ते'' इति भणित्वा तत्रारुचिं[१] कृत्वा तृणोपरि गतः शौचसमये कुण्डिकायां जलं नास्ति तथा विकृतिश्च क्वापि न दृश्यतेऽतोऽत्र स्वच्छसरोवरे प्रशस्तमृत्तिकया शौचं कृतवान्। ततस्तं मिथ्यादृष्टिं ज्ञात्वा भव्यसेनस्याभव्यसेननाम कृतं। ततोऽन्यस्मिन् दिने पूर्वस्यां दिशि पद्मासनस्थं चतुर्मुखं यज्ञोपवीताद्युपेतं देवासुरवन्द्यमानं ब्रह्मरूपं दर्शितं। तत्र राजादयो भव्यसेनादयश्च जना गताः। रेवती तु कोऽयं ब्रह्मनाम देवः इति भणित्वा लोकैः प्रेर्यमाणापि न गता। एवं दक्षिणस्यां दिशि गरुडारूढं चतुर्भुजं च

तथा अन्य धर्मात्मा लोग भी रहते हैं उनका आप नाम भी नहीं लेते हैं। उसमें कुछ कारण अवश्य होगा ऐसा विचार कर क्षुल्लक उत्तर मथुरा गया। वहाँ जाकर उसने सुव्रत मुनिके लिए भट्टारककी वन्दना कही। सुव्रत मुनिने परम वात्सल्य भाव दिखलाया। उसे देखकर वह भव्यसेनकी वसतिकामें गया। क्षुल्लकके वहाँ पहुंचनेपर भव्यसेनने उससे संभाषण भी नहीं किया। भव्यसेन, शौचके लिये बाहर जा रहे थे सो क्षुल्लक उनका कमण्डल लेकर उनके साथ बाह्य भूमिमें गया और विक्रियासे उसने आगे ऐसा मार्ग दिखाया जो कि हरे हरे कोमल तृणोंके अंकुरोंसे आच्छादित था। उस मार्गको देखकर क्षुल्लकने कहा भी कि 'आगममें ये सब जीव कहे गये हैं।' भव्यसेन आगमपर अरुचि–अश्रद्धा दिखाते हुए तृणोंपर चले गये। क्षुल्लकने विक्रियासे कमण्डलका पानी सुखा दिया। जब शुद्धिका समय आया तब कमण्डलुमें पानी नहीं है तथा कहीं कोई विक्रिया भी नहीं दिखाई देती है यह देख वे आश्चर्यमें पड़ गये। तदनन्तर उन्होंने स्वच्छ सरोवरमें उत्तम मिट्टीसे शुद्धि की। इन सब क्रियाओंसे उन्हें मिथ्यादृष्टि जानकर क्षुल्लकने भव्यसेनका अभव्यसेन नाम रख दिया।

तदनन्तर दूसरे दिन पूर्व दिशामें पद्मासनपर स्थित, चारमुखोंसे सहित, यज्ञोपवीत आदिसे युक्त तथा देव और दानवोंसे वन्दित ब्रह्माका रूप दिखाया। राजा तथा भव्यसेन आदि लोग वहाँ गये परन्तु रेवतीरानी लोगोंसे प्रेरित होने पर भी नहीं गई। वह यही कहती रही कि यह ब्रह्म नामका देव कौन है? इसी प्रकार दक्षिण दिशामें गरुड़के ऊपर आरूढ़, चार भुजाओंसे सहित तथा गदा शंख आदि के धारक नारायणका रूप दिखाया। पश्चिम दिशामें बैलपर

---

३. 'च' नास्ति घ पुस्तके। १. आगमे।

Shri Digambar Jain Swadhyay Mandir Trust, Songadh - 364250

गदाशंखादिधारकं वासुदेवरूपं। पश्चिमायां दिशि वृषभारूढं सार्धचंद्रजटाजूटगौरीगणोपेतं शंकररूपं। उत्तरस्यां दिशि समवसरणमध्ये प्रातिहार्याष्टकोपेतं सुरनरविद्याधरमुनिवृन्दवन्द्यमानं पर्यंकस्थितं तीर्थंकरदेवरूपं दर्शितं। तत्र च सर्वलोका गताः। रेवती तु लोकैः प्रेर्यमाणापि न गता नवैव वासुदेवाः, एकादशैव रुद्राः, चतुर्विंशतिरेव तीर्थंकरा जिनागमे कथिताः। ते चातीताः कोऽप्ययं मायावीत्युक्त्वा स्थिता। अन्यदिने चर्यावेलायां व्याधिक्षीणशरीर-क्षुल्लकरूपेण रेवतीगृहप्रतोलीसमीपमार्गे मायामूर्च्छया पतितः। रेवत्या तमाकर्ण्य भक्त्योत्थाप्य नीत्वोपचारं कृत्वा पथ्यं कारयितुमारब्धः। तेन च सर्वमाहारं भुक्त्वा दुर्गन्धवमनं कृतं। तदपनीय हा! विरूपकं मयाऽपथ्यं दत्तमिति रेवत्या वचनमाकर्ण्य तोषान्मायामुपसंहृत्य तां देवीं वन्दयित्वा गुरोराशीर्वादं पूर्ववृत्तान्तं कथयित्वा लोकमध्ये तु अमूढदृष्टित्वं तस्या उच्चैः प्रशस्य स्वस्थाने गतः। वरुणो राजा शिवकीर्तीपुत्राय राज्यं दत्वा तपो गृहीत्वा माहेन्द्रस्वर्गे देवो जातः। रेवत्यपि तपः कृत्वा ब्रह्मस्वर्गे देवो बभूव।

आरूढ़ तथा अर्धचन्द्र, जटाजूट, पार्वती और गणोंसे सहित शंकरका रूप दिखाया। उत्तर दिशामें समवसरणके मध्यमें आठ प्रातिहार्योंसे सहित, सुर, नर, विद्याधर और मुनियोंके समूहसे वन्द्यमान, पर्यंकासनसे स्थित तीर्थंकर देवका रूप दिखाया। वहाँ सब लोग गये, परन्तु रेवती रानी लोगोंके द्वारा प्रेरणाकी जानेपर भी नहीं गई। वह यही कहती रही कि नारायण नौ ही होते हैं, रुद्र ग्यारह ही होते हैं और तीर्थंकर चौबीस होते हैं ऐसा जिनागममें कहा गया है। और वे सब हो चुके हैं यह तो कोई मायावी है।

दूसरे दिन चर्याके समय उसने एक ऐसे क्षुल्लकका रूप बनाया, जिसका शरीर बीमारीसे क्षीण हो गया था। वह रेवती रानीके घरके समीपवर्ती मार्गमें मायामयी मूर्च्छामें पड़ रहा। रेवती रानीने जब यह समाचार सुना तब वह भक्तिपूर्वक उठाकर ले गई, उसका उपचार किया और पथ्य करानेके लिये उद्यत हुई। उस क्षुल्लकने सब आहार कर दुर्गन्धसे युक्त वमन कर दिया। रानीने वमनको दूरकर कहा कि हाय मैंने प्रकृतिके विरुद्ध अपथ्य आहार दिया। रेवती रानीके उक्त वचन सुनकर क्षुल्लकने संतोषसे सब मायाको संकोच कर उसे गुप्ताचार्यको परोक्ष वन्दना कराकर उनका आशीर्वाद कहा और लोगोंके बीच उसकी अमूढदृष्टिताकी खूब प्रशंसा की। यह सब कर क्षुल्लक अपने स्थानपर चला गया। राजा वरुण शिवकीर्ति पुत्रके लिये राज्य देकर तथा तप ग्रहणकर माहेन्द्र स्वर्गमें देव हुआ तथा रेवती रानी भी तपकर ब्रह्म स्वर्गमें देव हुई।

उपगूहने जिनेन्द्रभक्तो दृष्टान्तोऽस्य कथा

सुराष्ट्रदेशे पाटलिपुत्रनगरे राजा यशोधरो[1] राज्ञी सुसीमा पुत्रः सुवीरः सप्तव्यसनाभिभूतस्तथाभूततस्करपुरुषसेवितः। पूर्वदेशे गौडविषये ताम्रलिप्तनगर्यां जिनेन्द्र-भक्तश्रेष्ठिनः सप्ततलप्रासादोपरि बहुरक्षकोपयुक्तपार्श्वनाथप्रतिमाछत्रत्रयोपरि विशिष्टतरानर्घ्य-वैडूर्यमणिं पारंपर्येणाकर्ण्य लोभात्तेन सुवीरेण निजपुरुषाः पृष्टाः तं मणिं किं कोऽप्यानेतुं शक्तोऽस्तीति। इन्द्रमुकुटमणिमप्यहमानयामीति गलगर्जितं कृत्वा सूर्यनामा चौरः कपटेन क्षुल्लको भूत्वा अतिकायक्लेशेन ग्रामनगरक्षोभं कुर्वाणाः क्रमेण ताम्रलिप्तनगरीं गतः तमाकर्ण्य गत्वाऽलोक्य बन्दित्वा संभाष्य प्रशस्य च क्षुभितेन जिनेन्द्रभक्तश्रेष्ठिना नीत्वा पार्श्वनाथदेवं दर्शयित्वा मायया अनिच्छन्नपि स तत्र मणिरक्षको धृतः। एकदा क्षुल्लकं पृष्ट्वा श्रेष्ठी समुद्रयात्रायां चलितो नगराद्बहिर्निर्गत्य स्थितः। स चौरक्षुल्लको गृहजनमुपकरण-नयनव्यग्रं ज्ञात्वा अर्धरात्रे तं मणिं गृहीत्वा चलितः। मणितेजसा मार्गे कोट्टपालैर्दृष्टो

कथा-५ : जिनेन्द्रभक्त सेठकी कथा

सुराष्ट्र देशके पाटलिपुत्र नगरमें राजा यशोधर रहता था। उसकी रानीका नाम सुसीमा था। उन दोनोंके सुवीर नामका पुत्र था। सुवीर सप्तव्यसनोंसे अभिभूत था तथा ऐसे ही चोर पुरुष उसकी सेवा करते थे। उसने कानों कान सुना कि पूर्व गौड़देशकी ताम्रलिप्त नगरीमें जिनेन्द्रभक्त सेठके सतखण्डा महलके ऊपर अनेक रक्षकोंसे सहित श्रीपार्श्वनाथ भगवानकी प्रतिमाके ऊपर जो छत्रत्रय लगा है उसपर एक विशेष प्रकारका अमूल्य वैडूर्यमणि संलग्न है। लोभवश उस सुवीरने अपने पुरुषोंसे पूछा कि क्या कोई उस मणिको लानेके लिये समर्थ है? सूर्य नामक चोरने गला फाड़कर कहा कि यह तो क्या है मैं इन्द्रके मुकुटका मणि भी ला सकता हूँ। इतना कहकर वह कपटसे क्षुल्लक बन गया और अत्यधिक कायक्लेशसे ग्राम तथा नगरोंमें क्षोभ करता हुआ क्रमसे ताम्रलिप्त नगरी पहुँच गया। प्रशंसासे क्षोभको प्राप्त हुए जिनेन्द्रभक्त सेठने जब सुना तब वह जाकर दर्शन कर, वन्दनाकर तथा वार्तालापकर उस क्षुल्लकको अपने घर ले आया। उसने पार्श्वनाथ देवके उसे दर्शन कराये और मायासे न चाहते हुए भी उसे मणिका रक्षक बनाकर वहीं रख लिया।

एक दिन क्षुल्लकसे पूछकर सेठ समुद्र यात्राके लिये चला और नगरसे बाहर निकलकर ठहर गया। वह चोर क्षुल्लक घरके लोगोंको समान ले जानेमें व्यग्र जानकर आधीरातके समय

---

१. यशोध्वजो घ०।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ - ३६४२५०

धर्तुमारब्धः। तेभ्यः पलायितुमसमर्थः श्रेष्ठिन एव शरणं प्रविष्टो मां रक्ष रक्षेति चोक्तवान्। कोट्टपालानां कलकलामाकर्ण्य पर्यालोच्य तं चौरं ज्ञात्वा दर्शनोपहासप्रच्छादनार्थं भणितं श्रेष्ठिना मद्वचनेन रत्नमनेनानीतमिति विरूपकं भवद्भिः कृतं यदस्य महातपस्विनश्चौरोद्घोषणा कृता। ततस्ते तस्य वचनं [1]प्रमाणं कृत्वा गताः। स च श्रेष्ठिना रात्रौ निर्धाटितः। एवमन्येनापि सम्यग्दृष्टिना असमर्थाज्ञानपुरुषादागतदर्शनदोषस्य प्रच्छादनं कर्तव्यं।

स्थितीकरणे वारिषेणो दृष्टान्तोऽस्य कथा

मगधदेशे राजगृहनगरे राजा श्रेणिको राज्ञी चेलिनी पुत्रो वारिषेणः उत्तमश्रावकः चतुर्दश्यां रात्रौ कृतोपवासः स्मशाने कायोत्सर्गेण स्थितः। तस्मिन्नेव दिने उद्यानिकायां गतया मगधसुन्दरीविलासिन्या श्रीकीर्तिश्रेष्ठिन्या[2] परिहितो दिव्यो हारो दृष्टः। ततस्तं दृष्ट्वा किमनेनालङ्कारेण विना जीवितेनेति संचिन्त्य शय्यायां पतित्वा सा स्थिता। रात्रौ समागतेन

उस मणिको लेकर चलता बना। मणिके तेजसे मार्गमें कोतवालोंने उसे देख लिया और पकड़नेके लिये उसका पीछा किया। कोतवालोंसे बचकर भागनेमें असमर्थ हुआ वह चोर क्षुल्लक सेठकी ही शरणमें जाकर कहने लगा कि मेरी रक्षा करो रक्षा करो। कोतवालोंका कल-कल शब्द सुनकर तथा पूर्वापर विचारकर सेठने जान लिया कि यह चोर है परन्तु धर्मका उपहास बचानेके लिये उसने कहा कि यह मेरे कहनेसे ही रत्न लाया है, आप लोगोंने अच्छा नहीं किया जो इस महा तपस्वीको चोर घोषित किया। तदनन्तर सेठके वचनको प्रमाण मानकर कोतवाल चले गये और सेठने उसे रात्रिके समय निकाल दिया। इसी प्रकार अन्य सम्यग्दृष्टिको भी असमर्थ और अज्ञानी जनोंसे आये हुए धर्मके दोषका आच्छादन करना चाहिये।

कथा-६ : वारिषेणकी कथा

मगध देशके राजगृह नगरमें राजा श्रेणिक रहता था। उसकी रानीका नाम चेलिनी था। उन दोनोंके वारिषेण नामका पुत्र था। वारिषेण उत्तम श्रावक था। एकबार वह उपवास धारणकर चतुर्दशीकी रात्रिमें स्मशानमें कायोत्सर्गसे खड़ा था। उसी दिन बगीचेमें गई हुई मगधसुन्दरी नामक वेश्याने श्रीकीर्तिसेठानीके द्वारा पहिना हुआ हार देखा। तदनन्तर उस हारको देखकर 'इस आभूषणके बिना मुझे जीवनसे क्या प्रयोजन है' ऐसा विचारकर वह शय्यापर

---

१. तस्य प्रणामं कृत्वा घ०।

२. ज्येष्ठिना घ०।

Shri Digambar Jain Swadhyay Mandir Trust, Songadh - 364250

तदासक्तेन विद्युच्चोरेणोक्तं प्रिये! किमेवं स्थितासीति। तयोक्तं श्रीकीर्तिश्रेष्ठिन्या[1] हारं यदि मे ददासि तदा जीवामि त्वं च मे भर्ता नान्यथेति श्रुत्वा तां समुदीर्य अर्धरात्रे गत्वा निजकौशलेन तं हारं चोरयित्वा निर्गतः। तदुद्योतेन चौरोऽयमिति ज्ञात्वा गृहरक्षकैः कोट्टपालैश्च ध्रियमाणो पलायितुमसमर्थो वारिषेणकुमारस्याग्रे तं हारं धृत्वाऽदृश्यो भूत्वा स्थितः। कोट्टपालैश्च तं तथालोक्य श्रेणिकस्य कथितं देव! वारिषेणश्चौर इति। तं श्रुत्वा तेनोक्तं मूर्खस्यास्य मस्तकं गृह्यतामिति। मातंगेन योऽसिः शिरोग्रहणार्थं वाहितः स कण्ठे तस्य पुष्पमाला बभूव। तमतिशयमाकर्ण्य श्रेणिकेन गत्वा वारिषेणः क्षमां कारितः। लब्ध्वाभयप्रदानेन विद्युच्चौरेण राज्ञो निजवृत्तान्ते कथिते वारिषेणो गृहे नेतुमारब्धः। तेन चोक्तं मया पाणिपात्रे भोक्तव्यमिति। ततोऽसौ सूरसेन[2] मुनिसमीपे मुनिरभूत्। एकदा राजगृहसमीपे पलाशकूटग्रामे चर्यायां स प्रविष्टः। तत्र श्रेणिकस्य, योऽग्निभूतिमंत्री तत्पुत्रेण पुष्पडालेन स्थापितं, चर्यां कारयित्वा स सोमिल्लां निजभार्यां पृष्ट्वा[3]

पड़ रही। उस वेश्यामें आसक्त विद्युच्चोर जब रात्रिके समय उसके घर आया तब उसे शय्या पर पड़ी देख बोला कि प्रिये इस तरह क्यों पड़ी हो? वेश्याने कहा कि 'यदि श्री कीर्ति सेठानीका हार मुझे देते हो तो मैं जीवित रहूँगी और तुम मेरे पति होओगे अन्यथा नहीं।' वेश्याके यह वचन सुनकर तथा उसे आश्वासन देकर विद्युच्चोर आधीरातके समय श्रीकीर्ति सेठानीके घर गया और अपनी चतुराईसे हार चुराकर बाहर निकल आया। हारके प्रकाशसे 'यह चोर है' ऐसा जानकर गृहके रक्षकों तथा कोतवालोंने उसे पकड़ना चाहा। जब वह चोर भागनेमें असमर्थ हो गया तब वारिषेण कुमारके आगे उस हारको डालकर छिपकर बैठ गया। कोतवालोंने उस हारको वारिषेणके आगे पड़ा देखकर राजा श्रेणिकसे कह दिया कि राजन्! वारिषेण चोर है। यह सुनकर राजाने कहा कि इस मूर्खका मस्तक छेदकर लाओ। चाण्डालने वारिषेणका मस्तक काटनेके लिये जो तलवार चलाई वह उसके गलेमें फूलोंकी माला बन गई। उस अतिशयको सुनकर राजा श्रेणिकने जाकर वारिषेणसे क्षमा मागी। विद्युच्चोरने अभयदान पाकर राजासे जब अपना सब वृत्तान्त कहा तब वह वारिषेणको घर ले जानेके लिये उद्यत हुआ। परन्तु वारिषेणने कहा कि अब तो मैं पाणिपात्रमें भोजन करूँगा अर्थात् दिगम्बर मुनि बनूँगा। तदनन्तर वह सूरसेनमुनिके समीप मुनि हो गया।

एक दिन वह मुनि राजगृहके समीपवर्ती पलाशकूट ग्राममें चर्याके लिये प्रविष्ट हुए। वहाँ राजा श्रेणिकके अग्निभूति मंत्रीके पुत्र पुष्पडालने उन्हें पड़गाहा। चर्या करानेके बाद वह

---

१. श्रेष्ठिनो हारं घ०। २. सूरदेवमुनि घ०। ३. दृष्ट्वा घ०।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ - ३६४२५०

प्रभुपुत्रत्वाद्बालसखित्वाच्च स्तोकं मार्गानुव्रजनं कर्तुं वारिषेणेन सह निर्गतः। आत्मनो व्याघुटनार्थं क्षीरवृक्षादिकं दर्शयन् मुहुर्मुहुर्वन्दनां कुर्वन् हस्ते धृत्वा नीतो विशिष्टधर्मश्रवणं कृत्वा वैराग्यं नीत्वा तपो ग्राहितोऽपि सोमिल्लां न विस्मरति। तौ द्वावपि द्वादशवर्षाणि तीर्थयात्रां कृत्वा वर्धमानस्वामिसमवसरणं गतौ। तत्र वर्धमानस्वामिनः पृथिव्याश्च सम्बन्धगीतं देवैर्गीयमानं पुष्पडालेन[२] श्रुतं। यथा

"मइलकुचेली दुम्मनी नहिं[३] पविसियएण।
कह जीवेसइ धणिय, घर [४]उज्झंते हियएण॥"

एतदात्मनः सोमिल्लायाश्च संयोज्य उत्कण्ठितश्चलितः। स वारिषेणेन ज्ञात्वा स्थिरीकरणार्थं निजनगरं नीतः। चेलिन्या तौ दृष्ट्वा वारिषेणः किं चारित्राच्चलितः

अपनी सोमिल्ला नामक स्त्रीसे पूछकर स्वामीका पुत्र तथा बाल्यकालका मित्र होनेके कारण कुछ दूर तक भेजनेके लिए वारिषेणके साथ चला गया। अपने लौटनेके अभिप्रायसे वह क्षीरवृक्ष आदिको दिखाता तथा बारबार मुनिको वन्दना करता था। परन्तु मुनि हाथ पकड़कर उसे साथ ले गये और धर्मका विशिष्ट उपदेश सुनाकर तथा वैराग्य उपजाकर उन्होंने उसे तप ग्रहण करा दिया। तप धारण करने पर भी वह सोमिल्ला स्त्रीको नहीं भूलता था।

पुष्पडाल और वारिषेण दोनों ही मुनि बारह वर्ष तक तीर्थयात्राकर भगवान वर्धमान स्वामीके समवसरणमें पहुंचे। वहाँ वर्धमान स्वामी और पृथ्वीसे सम्बन्ध रखने वाला एक गीत देवोंके द्वारा गाया जा रहा था उसे पुष्पडालने सुना।

"मइलकुचेली दुम्मनी नहिं पविसियएण।
कह जीवेसइ धणिय, घर उज्झंते हियएण॥"

गीतका भाव यह था कि जब पति प्रवासको जाता है तब स्त्री खिन्न चित्त होकर मैली कुचैली रहती है परन्तु जब वह घर छोड़कर ही चल देता है तब वह कैसे जीवित रह सकती है।

पुष्पडालने यह गीत अपने तथा सोमिल्लाके सम्बन्धमें लगा लिया इसलिये वह उत्कण्ठित होकर चलने लगा। वारिषेण मुनि यह जानकर उसका स्थितीकरण करनेके लिये उसे अपने नगर ले गये। चेलिनीने उन दोनों मुनियोंको देखकर विचार किया कि वारिषेण क्या चारित्रसे विचलित होकर आ रहा है? परीक्षा करनेके लिये उसने दो आसन दिये—एक सराग

---

२. पुष्प लाडेन ख। ३. नाहेर वसियएण ख। ४. डज्झंगी घ०।

Shri Digambar Jain Swadhyay Mandir Trust, Songadh - 364250

आगच्छतीति संचिन्त्य परीक्षणार्थं सरागवीतरागे द्वे आसने दत्ते। वीतरागासने वारिषेणेनोपविश्योक्तं मदीयमन्तःपुरमानीयतां। ततश्चेलिन्या महादेव्या द्वात्रिंशद्भार्याः सालङ्कारा आनीता। ततः पुष्पडालो वारिषेणेन भणितः स्त्रियो मदीयं युवराजपदं च त्वं गृहाण। तच्छुत्वा पुष्पडालो अतीव लज्जितः परं वैराग्यं गतः। परमार्थेन तपः कर्तुं लग्न इति।[1]

वात्सल्ये विष्णुकुमारो दृष्टान्तोऽस्य कथा

अवन्तिदेशे उज्जयिन्यां [2]श्रीवर्मा राजा, तस्य[3] बलिर्बृहस्पतिः प्रल्हादो नमुचिश्चेति चत्वारो मंत्रिणः। तत्रैंकदा समस्तश्रुताधारो दिव्यज्ञानी सप्तशतमुनिसमन्वितोऽ[4]कम्पनाचार्य[5] आगत्योद्यानके स्थितः[6]। समस्तसंघश्च वारितः [7]राजादिकेऽप्यायते केनापि जल्पनं न कर्तव्यमन्यथा समस्तसंघस्य नाशो भविष्यतीति। राज्ञा च [8]धवलगृहास्थितेन पूजाहस्तं

और दूसरा वीतराग। वारिषेणने वीतराग आसनपर बैठकर कहा कि हमारा अन्तःपुर बुलाया जावे। महारानी चेलिनीने आभूषणोंसे सजी हुई उसकी बत्तीस स्त्रियाँ बुलाकर खड़ी कर दीं। तदनन्तर वारिषेणने पुष्पडालसे कहा कि ये स्त्रियाँ और मेरा युवराज पद तुम ग्रहण करो। यह सुनकर पुष्पडाल अत्यन्त लज्जित होता हुआ उत्कृष्ट वैराग्यको प्राप्त हुआ। परमार्थसे तप करने लगा।

कथा-७ : विष्णुकुमार मुनिकी कथा

अवन्ति देशकी उज्जयिनी नगरीमें श्रीवर्मा राजा राज्य करता था। उसके बलि, बृहस्पति, प्रह्लाद और नमुचि ये चार मन्त्री थे। वहाँ एक समय शास्त्रोंके आचार, दिव्यज्ञानी तथा सात सौ मुनियोंसे सहित अकम्पनाचार्य आकर उद्यानमें ठहर गये। अकम्पनाचार्यने समस्त संघको मनाकर दिया कि राजादिकके आने पर किसीके साथ वार्तालाप न किया जावे, अन्यथा समस्त संघका नाश हो जायेगा।

राजा अपने धवलगृह पर बैठा था, वहाँसे उसने पूजाकी सामग्री हाथमें लेकर जाते हुए नागरिकोंको देखकर मन्त्रियोंसे पूछा कि ये लोग कहाँ जा रहे हैं, वह यात्राका समय तो

---

१. इतोग्रे 'घ' पुस्तके अधिकः पाठः 'ततो वारिषेणमुनिः मुक्तिं गतः पुष्पडालश्च स्वर्गे देवो जातः।'

२. श्रीधर्मो घ०। ३. तस्य राज्ञी श्रीमतिः घ०। ४. समन्विता घ०। ५. अकम्पनामार्याः घ०।

६. स्थिताः घ०। ७. राजन्यकेऽप्यायाते घ०। ८. धवलगृहस्थितेन घ०।

नगरीजनं गच्छन्तं दृष्ट्वा मंत्रिणः पृष्टाः क्वायं लोकोऽकालयात्रायां गच्छतीति। तैरुक्तं क्षपणका बहवो बहिरुद्याने आयातास्तत्रायं जनो याति। वयमपि तान् द्रष्टुं गच्छाम इति भणित्वा राजापि तत्र मंत्रिसमन्वितो गतः। प्रत्येके सर्वे वन्दिताः। न च केनापि आशीर्वादो दत्तः। दिव्यानुष्ठानेनातिनिस्पृहास्तिष्ठन्तीति संचिन्त्य व्याघुटिते राज्ञि मंत्रिभिर्दुष्टाभिप्रायैरुपहासः कृतः बलीवर्दा एते न किंचिदपि जानन्ति मूर्खा दम्भमौनेन स्थिताः। एवं ब्रुवाणैर्गच्छद्भिरग्रे चर्यां कृत्वा श्रुतसागरमुनिमागच्छन्तमालोक्योक्तं ''अयं तरुणबलीवर्दः पूर्णकुक्षिरागच्छति।'' एतदाकर्ण्य तेन ते राजाग्रेऽनेकान्तवादेन जिताः। अकम्पनाचार्यस्य चागत्य वार्ता कथिता। तेनोक्तं सर्वसंघस्वया मारितः। यदि वादस्थाने गत्वा रात्रौ त्वमेकाकी तिष्ठसि तदा संघस्य जीवितव्यं तव शुद्धिश्च भवति। ततोऽसौ तत्र गत्वा कायोत्सर्गेण स्थितः। मंत्रिभिश्चातिलज्जितैः क्रुद्धै रात्रौ संघं मारयितुं गच्छद्भिस्तमेकं मुनिमालोक्य येन परिभवः कृतः स एव हंतव्य इति पर्यालोच्य तद्वधार्थं युगपच्चतुर्भिः खड्गा उद्गूर्णाः।

है नहीं। मन्त्रियोंने कहा कि नगरके बाहिर उद्यानमें बहुतसे नग्न साधु आये हैं वहीं ये लोग जा रहे हैं। राजाने कहा कि हम भी उन्हें देखनेके लिए चलते हैं। ऐसा कहकर राजा मन्त्रियों सहित वहाँ गया। एक एक कर समस्त मुनियोंकी वन्दना राजाने की, परन्तु किसीने भी आशीर्वाद नहीं दिया। 'दिव्य अनुष्ठानके कारण ये साधु अत्यन्त निःस्पृह हैं' ऐसा विचारकर जब राजा लौटा तो खोटा अभिप्राय रखनेवाले मन्त्रियोंने यह कह कर उन मुनियोंका उपहास किया कि ये बैल हैं, कुछ भी नहीं जानते हैं, मूर्ख हैं' इसीलिये छलसे मौन लेकर बैठे हैं। ऐसा कहते हुए मन्त्री राजाके साथ जा रहे थे कि उन्होंने आगे चर्याकर आते हुए श्रुतसागर मुनिको देखा। देखकर कहा कि 'यह तरुण बैल पेटभर कर आ रहा है।' यह सुनकर उन मुनिने राजाके मन्त्रियोंसे शास्त्रार्थकर उन्हें हरा दिया। वापिस आकर मुनिने यह सब समाचार अकम्पनाचार्यसे कहा। अकम्पनाचार्यने कहा कि तुमने समस्त संघको मरवा दिया। यदि शास्त्रार्थके स्थान पर जाकर तुम रात्रिको अकेले खड़े रहते हो तो संघ जीवित रह सकता है और तुम्हारे अपराधकी शुद्धि हो सकती है। तदनन्तर श्रुतसागर मुनि वहाँ जाकर कायोत्सर्गसे स्थित हो गये।

अत्यन्त लज्जित और क्रोध से भरे हुए मंत्री रात्रिमें समस्त संघको मारनेके लिये जा रहे थे कि उन्होंने कायोत्सर्गसे खड़े हुए उन मुनिको देखकर विचार किया कि जिसने हम लोगोंका पराभव किया है वही मारनेके योग्य है। ऐसा विचार कर चारों मन्त्रियोंने मुनिको मारनेके लिए एक साथ खड्ग ऊपर उठाये। परन्तु जिसका आसन कम्पित हुआ था ऐसे

कंपितनगरदेवतया तथैव ते कीलिताः। प्रभाते तथैव ते सर्वलोकैर्दृष्टाः। रुष्टेन राज्ञा क्रमागता इति न मारिता गर्दभारोहणादिकं कारयित्वा देशान्निर्घाटिताः। अथ कुरुजांगलदेशे हस्ति नागपुरे राजा महापद्मो राज्ञी लक्ष्मीमती पुत्रौ पद्मो विष्णुश्च। स एकदा पद्माय राज्य दत्वा महापद्मो विष्णुना सह श्रुतसागरचंद्राचार्यस्य समीपे मुनिर्जातः। ते च बलिप्रभृतय आगत्य पद्मराजस्य मंत्रिणो जाताः। कुम्भपुरदुर्गे च सिंहबलो राजा दुर्गबलात् पद्ममण्डलस्योपद्रवं करोति। तद्ग्रहणचिन्तया पद्मं दुर्बलमालोक्य बलिनोक्तं किं देव! दौर्बल्ये कारणमिति। कथितं च राज्ञा। तच्छ्रुत्वा आदेशं याचायित्वा तत्र गत्वा बुद्धिमाहात्म्येन दुर्गं भंक्त्त्वा सिंहबलं गृहीत्वा व्याघुट्यागतः। तेन पद्मस्यासौ समर्पितः। देव! सोऽयं सिंहबल इति। तुष्टेन तेनोक्तं वांछितं वरं प्रार्थयेति। बलिनोक्तं यदा प्रार्थयिष्यामि तदा दीयतामिति। अथ कतिपयदिनेषु विहरन्तस्तेऽकम्पनाचार्यादयः सप्तशतयतस्तत्रागताः। पुरक्षोभाद्बलि-प्रभृतिभिस्तान् परिज्ञाय राजा एतद्भक्त इति पर्यालोच्य भयात्तन्मारणार्थं पद्मः पूर्वपरं प्रार्थितः

नगरदेवताने आकर उन सबको उसी अवस्थामें कील दिया। प्रातःकाल सब लोगोंने उन मन्त्रियोंको उसी प्रकार कीलित देखा। मन्त्रियोंकी इस कुचेष्टासे राजा बहुत क्रुद्ध हुआ, परन्तु ये मंत्री वंशपरम्परासे चले आ रहे हैं यह विचार कर उन्हें मारा तो नहीं सिर्फ गर्दभारोहण आदि कराकर निकाल दिया।

तदनन्तर कुरुजांगलदेशके हस्तिनापुर नगरमें राजा महापद्म राज्य करते थे। उनकी रानीका नाम लक्ष्मीमती था, उनके दो पुत्र थे–पद्म और विष्णु। एक दिन राजा महापद्म, पद्मनामक पुत्रको राज्य देकर विष्णु नामक पुत्रके साथ श्रुतसागरचन्द्र नामक आचार्यके पास मुनि हो गये। वे बलि आदिक, आकर पद्मराजाके मन्त्री बन गये। उसी समय कुम्भपुरके दुर्गमें राजा सिंहबल रहता था। वह अपने दुर्गके बलसे राजा पद्मके देशमें उपद्रव करता था। राजा पद्म उसे पकड़नेकी चिन्तामें दुर्बल होता जाता था। उसे दुर्बल देख एक दिन बलिने कहा कि देव! दुर्बलताका क्या कारण है? राजाने उसे दुर्बलताका कारण बताया। उसे सुनकर तथा आज्ञा प्राप्त कर बलि वहाँ गया और अपनी बुद्धिके माहात्म्यसे दुर्गको तोड़कर तथा सिंहबलको लेकर वापिस आ गया। उसने राजा पद्मको यह कहकर सिंहबलको सौंप दिया कि यह वही सिंहबल है। राजा पद्मने संतुष्ट होकर कहा कि तुम अपना वाञ्छित वर माँगो। बलिने कहा कि जब मागूँगा तब दिया जावे।

तदनन्तर कुछ दिनोंमें विहार करते हुए वे अकम्पनाचार्य आदि सात सौ मुनि उसी हस्तिनागपुरमें आये। उनके आते ही नगरमें हलचल मच गई। बलि आदि मन्त्रियोंने उन्हें

सप्तदिनान्यस्माकं राज्यं देहीति। ततोऽसौ सप्तदिनानि राज्यं दत्वाऽन्तः पुरे प्रविश्य स्थितः। बलिना च आतपनगिरौ कायोत्सर्गेण स्थितान् मुनीन् वृत्यावेष्ट्य मण्डपं कृत्वा यज्ञः कर्तुमारब्धः। उच्छिष्टसरावच्छागादिजीवकलेवरैर्धूमैश्च मुनीनां मारणार्थमुपसर्गः कृतः। मुनियश्च द्विविधसंन्यासेन स्थिताः। अथ मिथिलानगर्यामर्धरात्रे बहिर्विनिर्गत-श्रुतसागरचन्द्राचार्येण आकाशे श्रवणनक्षत्रं कम्पमानमालोक्यावधिज्ञानेन ज्ञात्वा भणितं महामुनीनां महानुपसर्गो वर्तते। तच्छ्रुत्वा पुष्पधरनाम्ना विद्याधरश्रुल्लकेन पृष्टं भगवन्! क्व केषां मुनीनां महानुपसर्गो वर्तते? हस्तिनापुरे अकम्पनाचार्यादीनां सप्तशतयतीनां। उपसर्गः कथं नश्यति? धरणिभूषणगिरौ विष्णुकुमारमुनिर्विक्रियर्द्धिसम्पन्नस्तिष्ठति स नाशयति। एतदाकर्ण्य तत्समीपे गत्वा क्षुल्लकेन विष्णुकुमारस्य सर्वस्मिन् वृत्तान्ते कथिते मम किं विक्रिया ऋद्धिरस्तीति संचिन्त्य तत्परीक्षार्थं हस्तः प्रसारितः। स गिरिं भित्त्वा दूरे गतः। ततस्तां निर्णीय तत्र गत्वा पद्मराजो भणितः। किं त्वया मुनीनामुपसर्गः कारितः। भवत्कुले

पहिचान कर विचार किया कि राजा इनका भक्त है। इस भयसे उन्होंने उन मुनियोंको मारनेके लिये राजा पद्मसे अपना पहलेका वर माँगा कि हमलोगोंको सात दिनका राज्य दिया जावे। तदनन्तर राजा पद्म उन्हें सात दिनका राज्य देकर अन्तःपुरमें चला गया। इधर बलिने आतापनगिरि पर कायोत्सर्गसे खड़े हुए मुनियोंको बाड़ीसे वेष्टित कर मण्डप लगा यज्ञ करना शुरू किया। जूँठे सकोरे, बकरा आदि जीवोंके कलेवर तथा धूम आदिके द्वारा मुनियोंको मारनेके लिये बहुत भारी उपसर्ग किया। मुनि दोनों प्रकारका संन्यास लेकर स्थिर हो गये।

तदनन्तर मिथिलानगरीमें आधीरातके समय बाहिर निकले हुए श्रुतसागरचन्द्र आचार्यने आकाशमें काँपते हुए श्रवण नक्षत्रको देखकर अवधिज्ञानसे जानकर कहा कि, महामुनियोंके ऊपर महान् उपसर्ग हो रहा है। यह सुनकर पुष्पधर नामक विद्याधर क्षुल्लकने पूछा कि कहाँ किनपर महान् उपसर्ग हो रहा है? उन्होंने कहा कि हस्तिनापुरमें अकम्पनाचार्य आदि सात सौ मुनियों पर। 'उपसर्ग कैसे नष्ट हो सकता है' ऐसा क्षुल्लक द्वारा पूछे जाने पर कहा कि धरणिभूषण पर्वत पर विक्रिया ऋद्धिके धारक विष्णुकुमार मुनि स्थित हैं, वे उपसर्गको नष्ट कर सकते हैं। यह सुन क्षुल्लकने उनके पास जाकर सब समाचार कहा। मुझे विक्रियाऋद्धि है क्या? ऐसा विचारकर विष्णुकुमार मुनिने अपना हाथ पसारा तो वह पर्वतके भेदकर दूर तक चला गया। तदनन्तर विक्रियाका निर्णय कर उन्होंने हस्तिनापुर जाकर राजा पद्मसे कहा कि तुमने मुनियोंपर उपसर्ग क्यों कराया? अपने कुलमें ऐसा कार्य किसीने नहीं किया। राजा पद्मने कहा कि क्या करूँ? मैंने पहले इसे वर दे दिया था।

केनापीदृशं न कृतं। तेनोक्तं किं करोमि मया पूर्वमस्य वरो दत्त इति। तत विष्णुकुमारमुनिना वामनब्राह्मणरूपं धृत्वा दिव्यध्वनिना प्राध्ययनं कृतं। बलिनोक्तं किं तुभ्यं दीयते। तेनोक्तं भूमेः पादत्रयं देहि। ग्रहिलब्राह्मण बहुतरमन्यत् प्रार्थयेति वारं वारं लोकैर्भण्यमानोऽपि तावदेव याचते। ततो हस्तोदकादिविधिना भूमिपादत्रये दत्ते तेनैकपादो मेरौ दत्तो द्वितीयो मानुषोत्तरगिरौ तृतीयपादेन देवविमानादीनां क्षोभं कृत्वा बलिपृष्ठे तं पादं दत्वा बलिं वद्ध्वा मुनीनामुपसर्गो निवारितः। ततस्ते चत्वारोऽपि[1] मंत्रिणः पद्मस्य भयादागत्य विष्णुकुमारमुनेरकम्पनाचार्यादीनां च पादेषु लग्नाः। ते मंत्रिणः श्रावकाश्च जाता इति।[2]

प्रभावनायां वज्रकुमारो दृष्टान्तोऽस्य कथा

हस्तिनागपुरे बलराजस्य पुरोहितो गरुडस्तत्पुत्रः सोमदत्तः तेन सकलशास्त्राणि पठित्वा अहिच्छत्रपुरे निजमामसुभूतिपार्श्वे गत्वा भणितं। माम! मां दुर्मुखराजस्य दर्शयेत्[3]।

तदनन्तर विष्णुकुमार मुनिने एक बौने ब्राह्मणका रूप बनाकर उत्तम शब्दों द्वारा वेदपाठ करना शुरू किया। बलिने कहा कि तुम्हें क्या दिया जावे? बौने ब्राह्मणने कहा कि तीन डग भूमि देओ। 'पगले ब्राह्मण! देनेको बहुत है और कुछ माँग' इस प्रकार बार-बार लोगोंके कहे जाने पर भी वह तीन डग भूमि ही माँगता रहा। तदनन्तर हाथमें संकल्पका जल लेकर जब उसे विधिपूर्वक तीन डग भूमि दे दी गई तब उसने एक पैर मेरु पर रक्खा, दूसरा पैर मानुषोत्तर पर्वत पर रक्खा और तीसरे पैरके द्वारा देवविमानों आदिमें क्षोभ उत्पन्न कर उसे बलिकी पीठपर रक्खा तथा बलिको बाँधकर मुनियोंका उपसर्ग दूर किया। तदनन्तर वे चारों मन्त्री राजा पद्मके भयसे आकर विष्णुकुमार मुनि तथा अकम्पनाचार्य आदि मुनियोंके चरणोंमें संलग्न हुए—चरणोंसे गिरकर क्षमा माँगने लगे। वे मन्त्री श्रावक बन गये। ७.

प्रभावना अंगमें वज्रकुमारका दृष्टांत है उनकी कथा :—

कथा-८ : वज्रकुमार मुनिकी कथा

हस्तिनापुरमें बल नामक राजा रहता था। उसके पुरोहितका नाम गरुड़ था। गरुड़के एक सोमदत्त नामका पुत्र था। उसने समस्त शास्त्रोंका अध्ययनकर अहिच्छत्रपुरमें रहनेवाले अपने मामा सुभूतिके पास जाकर कहा कि मामा जी! मुझे दुर्मुखराजाके दर्शन करा दो। परन्तु

---

१. चत्वारो मंत्रिणः पद्मश्च। २. ध पुस्तके इतोऽग्रेधिकः पाठः 'व्यन्तरदैवैः सुघोषवीणात्रयं दत्तं विष्णुकुमारपादपूजार्थं। ३. दर्शमते ख, ग, दर्शय घ०।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ - ३६४२५०

न[1] च गर्वितेन तेन दर्शितः। ततो ग्रहिलो भूत्वा सभायां स्वयमेव तं दृष्ट्वा आशीर्वादं दत्वा सर्वशास्त्रकुशलत्वं प्रकाश्य मंत्रिपदं लब्धवान्। तं तथाभूतमालोक्य सुभूतिमामो यज्ञदत्तां पुत्रीं परिणेतुं दत्तवान्। एकदा तस्या गर्भिण्या[2] वर्षाकाले आम्रफलभक्षणे दोहलको जातः। ततः सोमदत्तेन तान्युद्यानवने अन्वेषयता यत्राम्रवृक्षे सुमित्राचार्यो योगं गृहीतवांस्तं नानाफलैः फलितं दृष्ट्वा तस्मात्तान्यादाय पुरुषहस्ते प्रेषितवान्। स्वयं च धर्मं श्रुत्वा निर्विण्णस्तपो गृहीत्वा आगममधीत्य परिणतो भूत्वा नाभिगिरौ आतपनेन स्थितः। यज्ञदत्ता च पुत्रं प्रसूता तं वृत्तान्तं[3] श्रुत्वा बंधुसमीपं गता। तस्य शुद्धिं ज्ञात्वा बन्धुभिः सह नाभिगिरिं गत्वा तमातपनस्थमालोक्यातिकोपात्तत्पादोपरि बालकं धृत्वा दुर्वचनानि दत्वा गृहं गता। अत्र प्रस्तावे दिवाकरदेवनामा विद्याधरोऽमरावतीपुर्याः पुरन्दरनाम्ना लघुभ्रात्रा राज्यान्निर्घाटितः।

गर्वसे भरे हुए सुभूतिने उसे राजाके दर्शन नहीं कराये। तदनन्तर हठधर्मी होकर वह स्वयं ही राजसभामें चला गया। वहाँ उसने राजाके दर्शन कर आशीर्वाद दिया और समस्त शास्त्रों की निपुणताको प्रकटकर मन्त्रिपद प्राप्त कर लिया। उसे वैसा देख सुभूति मामाने अपनी यज्ञदत्ता नामकी पुत्री विवाहनेके लिये दे दी।

एक दिन वह यज्ञदत्ता जब गर्भिणी हुई तब उसे वर्षाकालमें आम्रफल खानेका दोहला हुआ। तदनन्तर बाग-बगीचोंमें आम्रफलोंको खोजते हुए सोमदत्तने देखा कि जिस आम्रवृक्षके नीचे सुमित्राचार्यने योग ग्रहण किया है वह वृक्ष नानाफलोंसे फला हुआ है। उसने उस वृक्षसे फल लेकर आदमीके साथ घर भेज दिये और स्वयं धर्म श्रवण कर संसारसे विरक्त हो गया तथा तप धारणकर आगमका अध्ययन करने लगा। जब वह अध्ययन कर परिपक्व हो गया तब नाभिगिरि पर्वत पर आतापन योगसे स्थित हो गया।

इधर यज्ञदत्ताने पुत्रको जन्म दिया। पतिके मुनि होनेका समाचार सुनकर वह अपने भाईके पास चली गई। पुत्रकी शुद्धिको जानकर वह अपने भाइयोंके साथ नाभिगिरि पर्वत पर गई। वहाँ आतापनयोगमें स्थित सोमदत्त मुनिको देखकर अत्यधिक क्रोधके कारण उसने वह बालक उनके पैरोंके ऊपर रख दिया और गालियाँ देकर स्वयं घर चली गई।

उसी समय अमरावती नगरीका रहनेवाला दिवाकरदेव नामका विद्याधर जो कि अपने पुरन्दर नामक छोटे भाईके द्वारा राज्यसे निकाल दिया गया था, अपनी स्त्रीके साथ मुनिकी

---

१ न, ख, ग, तेन च गर्वितेन न दर्शितः घ०।

२. गुर्विण्याः मूलपाठः। ३. तं ख, ग,।

Shri Digambar Jain Swadhyay Mandir Trust, Songadh - 364250

सकलत्रो मुनि वन्दितुमायातः। तं बालं गृहीत्वा निजभार्यायाः समर्प्य व्रजकुमार इति नाम कृत्वा गतः। स च व्रजकुमारः कनकनगरे[1] विमलवाहननिजमैथुनिकसमीपे सर्वविद्यापारगो युवा च क्रमेण जातः। अथ गरुडवेगाङ्गवत्योः पुत्री पवनवेगा हेमन्तपर्वते प्रज्ञप्तिं विद्यां महाश्रमेण साधयन्ती पवनाकम्पितबदरीवज्रकंटकेन लोचने विद्धा। ततस्तत्पीडया चलचित्ताया विद्या न सिद्ध्यति। ततो वज्रकुमारेण च तां तथा दृष्ट्वा विज्ञानेन कण्टक उद्धृतः। ततः स्थिरचित्तायास्तस्या विद्या सिद्धा। उक्तं च तथा भवत्प्रसादेन एषा विद्या सिद्धा, त्वमेव मे भर्त्तेत्युक्त्वा परिणीतः। व्रजकुमारेणोक्तं तात! अहं कस्य पुत्र इति सत्यं कथय, तस्मिन् कथिते मे भोजनादौ प्रवृत्तिरिति। ततस्तेन पूर्ववृत्तान्तः सर्वः सत्य एव कथितः। तमाकर्ण्य निजगुरुं द्रष्टुं बन्धुभिः सह मथुरायां क्षत्रियगुहायां गतः। तत्र च सोमदत्तगुरोर्दिवाकरदेवेन बंदनां कृत्वा वृत्तान्तः कथितः। समस्तबन्धून् महता कष्टेन विसृज्य वज्रकुमारो मुनिर्जातः। अत्रान्तरे मथुरायामन्या कथा—राजा पूतिगन्धो राज्ञी उर्विला[2]। सा च सम्यग्दृष्टिरतीव

वन्दना करनेके लिये आया था। वह उस बालकको लेकर, अपनी स्त्रीको सौंपकर तथा उसका वज्रकुमार नाम रखकर चला गया। वह वज्रकुमार कनकनगरमें विमलवाहन नामक अपने मामाके समीप समस्त विद्याओंमें पारगामी होकर क्रम-क्रमसे तरुण हो गया।

तदनन्तर गरुड़वेग और अङ्गवतीकी पुत्री पवनवेगा हेमन्त पर्वत पर बड़े श्रमसे प्रज्ञप्ति नामकी विद्या सिद्ध कर रही थी। उसी समय वायुसे कम्पित बेरीका एक पैना काँटा उसकी आँखमें जा लगा। उसकी पीड़ासे चित्त चञ्चल हो जानेसे विद्या उसे सिद्ध नहीं हो रही थी। तदनन्तर वज्रकुमारने उसे वैसा देख कुशलतापूर्वक वह काँटा निकाल दिया। काँटा निकल जानेसे उसका चित्त स्थिर हो गया तथा विद्या सिद्ध हो गई। विद्या सिद्ध होने पर उसने कहा कि आपके प्रसादसे यह विद्या सिद्ध हुई है इसलिये आपही मेरे भर्त्ता हैं। ऐसा कहकर उसने वज्रकुमारसे विवाह कर लिया।

एक दिन वज्रकुमारने दिवाकरदेव विद्याधरसे कहा कि तात! मैं किसका पुत्र हूँ सत्य कहिये, उसके कहने पर ही मेरी भोजनादिमें प्रवृत्ति होगी। तदनन्तर दिवाकरदेवने पहलेका सब वृत्तान्त सच-सच कह दिया। उसे सुनकर वह अपने पिताके दर्शन करनेके लिये भाइयोंके साथ मथुरा नगरीकी दक्षिण गुहामें गया। वहाँ दिवाकरदेवने वन्दना कर वज्रकुमारके पिता सोमदत्तको सब समाचार कह दिया। समस्त भाइयोंको बड़े कष्टसे विदाकर वज्रकुमार मुनि हो गया।

इसी बीचमें मथुरामें एक दूसरी कथा घटी। वहाँ पूतिगन्ध राजा राज्य करता था।

---

१. गिरौ, ख, ग कनकगिरे घ०। २. ऊर्वी, ग।

जिनधर्मप्रभावनायां रता। नन्दीश्वराष्टदिनानि प्रतिवर्षं जिनेन्द्ररथयात्रां त्रीन् वारान् कारयति। तत्रैव नगर्यां श्रेष्ठी सागरदत्तः श्रेष्ठिनी समुद्रदत्ता पुत्री दरिद्रा। मृते सागरदत्ते दरिद्र परगृहे निक्षिप्तसिक्थानि भक्षयन्ती चर्यां प्रविष्टेन मुनिद्वयेन दृष्टां ततो लघुमुनिनोक्तं हा! वराकी महता कष्टेन जीवतीति। तदाकर्ण्य ज्येष्ठमुनिनोक्तं अत्रैवास्य राज्ञः पट्टराज्ञी वल्लभा भविष्यतीति। भिक्षां भ्रमता धर्मश्रीवंदकेन तद्वचनमाकर्ण्य नान्यथा मुनिभाषितमिति संचिन्त्य स्वविहारे तां नीत्वा मृष्टाहारैः[1] पोषिता। एकदा यौवनभरे चैत्रमासे आन्दोलयन्तीं तां राजा दृष्ट्वा अतीव विरहावस्थां गतः। ततो मंत्रिभिस्तां तदर्थं वंदको याचितः। तेनोक्तं यदि मदीयं धर्मं राजा गृह्णाति तदा ददामीति। तत्सर्वं कृत्वा परिणीता। पट्टमहादेवी तस्य सातिवल्लभा जाता। फाल्गुननन्दीश्वरयात्रायामुर्विला रथयात्रामहारोपं दृष्ट्वा तया भणितं देव! मदीयो बुद्धरथोऽधुना पुर्यां प्रथमं भ्रमतु। राज्ञा चोक्तमेवं भवत्विति। तत उर्विला वदति

उसकी स्त्रीका नाम उर्विला था। उर्विला सम्यग्दृष्टि तथा जिनधर्मकी प्रभावनामें अत्यन्त लीन थी। वह प्रतिवर्ष अष्टाह्निका पर्वमें तीन बार जिनेन्द्र देवकी रथयात्रा निकालती थी। उसी नगरीमें एक सागरदत्त शेठ रहता था, उसकी सेठानीका नाम समुद्रदत्ता था। उन दोनोंके एक दरिद्रा नामकी पुत्री हुई। सागरदत्तके मर जाने पर एक दिन दरिद्रा दूसरेके घरमें फेंके हुए भातके दाने खा रही थी। उसी समय चर्याके लिये प्रविष्ट हुए दो मुनियोंने उसे वैसा करते हुए देखा। तदनन्तर छोटे मुनिने बड़े मुनिसे कहा कि हाय बेचारी बड़े कष्टसे जीवन बिता रही है। यह सुनकर बड़े मुनिने कहा कि यह इसी नगरीमें राजाकी प्रिय पट्टरानी होगी। भिक्षाके लिये भ्रमण करते हुए एक धर्मश्रीवंदकेन (बौद्धसाधुने) मुनिराजके वचन सुनकर विचार किया कि मुनिका कथन अन्यथा नहीं होगा, इसलिये वह उसे अपने विहारमें ले गया और वहाँ अच्छे आहारसे उसका पालनपोषण करने लगा।

एक दिन भरी जवानीमें वह चैत्रमासके समय झूला झूल रही थी कि उसे देखकर राजा अत्यन्त विरहावस्था को प्राप्त हो गया। तदनन्तर मन्त्रियोंने उसके लिये बौद्ध साधुसे याचना की। उसने कहा कि यदि राजा हमारे धर्मको ग्रहण करें तो मैं इसे दे दूँगा। राजाने वह सब स्वीकृत कर उसके साथ विवाह कर लिया। और वह उसकी अत्यन्त प्रिय पट्टरानी बन गई।

फाल्गुन मासकी नन्दीश्वर यात्रामें उर्विलाने रथयात्राकी तैयारी की। उसे देख, उस पट्टरानीने राजासे कहा कि देव! मेरा बुद्ध भगवानका रथ इस समय नगरमें पहले घूमे। राजाने कह दिया कि ऐसा ही होगा। तदनन्तर उर्विलाने कहा कि यदि मेरा रथ पहले घूमता है तो

---

१. मिष्टाहारैः घ०।

मदीयो रथो यदि प्रथमं भ्रमति तदाहारे मम प्रवृत्तिरन्यथा निवृत्तिरिति प्रतिज्ञां गृहीत्वा क्षत्रियगुहायां सोमदत्ताचार्यपार्श्वे गता। तस्मिन् प्रस्तावे वज्रकुमारमुनेर्वन्दनाभक्त्यर्थमायाता दिवाकरदेवादयो विद्याधरास्तदीयवृत्तान्तं च श्रुत्वा वज्रकुमारमुनिना ते भणिताः। उर्विलयाः प्रतिज्ञारूढाया रथयात्रा भवद्भिः कर्तव्येति। ततस्तैर्बुद्धदासी रथं भङ्क्त्वा नानाविभूत्या उर्विलाया रथयात्रा कारिता। तमतिशयं दृष्ट्वा प्रतिबुद्धा बुद्धदासी अन्ये च जना जिनधर्मरता जाता इति॥२०॥

मेरी आहारमें प्रवृत्ति होगी, अन्यथा नहीं। ऐसी प्रतिज्ञा कर वह क्षत्रियगुहामें सोमदत्त आचार्यके पास गई। उसी समय वज्रकुमार मुनिकी वन्दना–भक्तिके लिये दिवाकरदेव आदि विद्याधर आये थे। वज्रकुमार मुनिने यह सब वृत्तान्त सुनकर उनसे कहा कि आप लोगोंको प्रतिज्ञापर आरूढ़ उर्विलाकी रथयात्रा कराना चाहिये। तदनन्तर उन्होंने बुद्धदासीका रथ तोड़ कर बड़ी विभूतिके साथ उर्विलाकी रथयात्रा कराई। उस अतिशयको देखकर प्रतिबोधको प्राप्त हुई बुद्धदासी तथा अन्य लोग जैनधर्ममें लीन हो गये।।८।।

विशेष

सम्यग्दर्शनके निःशंकितादि आठ अंग है। अंगका अर्थ अवयव, साधन, करण और लक्षण या चिह्न होता है। सम्यग्दर्शन अंगी है और निःशंकितादि आठ अंग हैं। सम्यग्दर्शन साध्य है और निःशंकितादि साधन हैं। जो सम्यग्दृष्टि होता है उसे निःशंकितादि आठ चिह्न अवश्य होते हैं।

आठ अंगोंमें प्रथम निःशंकितादि चार अंग निषेधरूप है और बाकीके उपगूहन चार अंग विधेयरूप है।

''....कोई कार्यमें शंका-कांक्षा नहीं करनेमात्रसे तो सम्यक्त्व नहीं होता। सम्यक्त्व तो तत्त्वश्रद्धान होने पर ही होता है। परंतु यहाँ निश्चय सम्यक्त्वका तो व्यवहार सम्यक्त्वमें उपचार किया है। तथा व्यवहार सम्यक्त्वके कोई एक अंगमें संपूर्ण व्यवहार सम्यक्त्वका उपचार किया, इस प्रकार उसे उपचारसे सम्यक्त्व हुआ कहा जाता है...''

जिसे सम्यक्त्व प्रगट हुआ है उसे यह उपचार लागू पड़ता है मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगीको यह उपचार लागू नहीं पड़ता क्योंकि उसे सम्यक्त्व नहीं हुआ है।

सम्यक्त्वके अंग संबंधी जो आठ दृष्टांत (कथारूप) दिये है उनको इस दृष्टिकोणसे समझना।१६-२०।

ननु सम्यग्दर्शनस्याष्टभिरङ्गैः प्ररूपितैः किं प्रयोजनं? तद्विलस्याप्यस्य संसारोच्छेदनसामर्थ्यसंभवादित्याशंक्याह—

नांगहीनमलं छेत्तुं दर्शनं जन्मसन्ततिम्।
न हि मन्त्रोऽक्षरन्यूनो निहन्ति विषवेदनां॥२१॥

'दर्शनं' कर्तृ। 'जन्मसन्ततिं' संसारप्रबन्धं। 'छेत्तुं' उच्छेदयितुं 'नालं' न समर्थं। कथंभूतं सत्, 'अंगहीनं' अंगैर्निःशंकितत्वादिस्वरूपैर्हीनं विकलं। अस्यैवार्थस्य समर्थनार्थं दृष्टान्तमाह—'न ही'त्यादि। सर्पादिदष्टस्य प्रसृतसर्वांगविषवेदनस्य तदपहरणार्थं प्रयुक्तो मंत्रोऽक्षरेणापि न्यूनो हीनो 'न हि' नैव 'निहन्ति' स्फोटयति[1] विषवेदनां ततः सम्यग्दर्शनस्य

सम्यग्दर्शनके आठ अंगोंका प्ररूपण करनेका क्या प्रयोजन है? क्योंकि इसके बिना भी सम्यग्दर्शनमें संसारका नाश करनेका सामर्थ्य संभव है। ऐसी आशंका करके कहते हैं :—

श्लोक-२१
अंगहीन सम्यग्दर्शनकी असमर्थता

अन्वयार्थ—[यथा] जिस तरह [अक्षरन्यूनः] अक्षर रहित [मन्त्रः] मंत्र [विषवेदनां] विषके दुःखको [न निहन्ति] नष्ट नहीं करता है [तथा] उसी प्रकार [अंगहीनम्] अंग रहित [दर्शनम्] दर्शन [जन्मसंततिम्] जन्मपरंपराको [छेत्तुम्] नाश करनेके लिए [अलं न] समर्थ नहीं होता है॥२१॥

टीकार्थ—ऊपर जिन निःशङ्कितत्वादि अङ्गोंका वर्णन किया गया है उनसे हीन सम्यग्दर्शन संसारकी सन्तति—जन्म-मरणकी सन्ततिको नष्ट करनेके लिये समर्थ नहीं है। इसी अर्थका समर्थन करनेके लिये मन्त्रका दृष्टान्त दिया है। जैसे किसी मनुष्यको सर्पने काटा और विषकी वेदना उसके समस्त शरीरमें फैल गई। उस विष वेदनाको दूर करनेके लिये मन्त्रवादी मन्त्रका प्रयोग करता है परन्तु उस मन्त्रमें एक अक्षर कम बोलता है तो ऐसे मन्त्रसे विषकी वेदना दूर नहीं होती। विषकी वेदना दूर करनेके लिये पूर्ण मन्त्र ही समर्थ होता है। इसी प्रकार संसारका उच्छेद करनेके लिये आठ अंगोंसे पूर्ण सम्यग्दर्शन ही समर्थ है, एक दो अङ्गोंसे विकल सम्यग्दर्शन नहीं।

---

१. स्फेटयति घ०।

संसारोच्छेदसाधनेऽष्टाङ्गोपेतत्वं युक्तमेव, त्रिमूढापोढत्ववत्।

कानि पुनस्तानि त्रीणि मूढानि यदमूढत्वं तस्य संसारोच्छेदसाधनं स्यादिति चेदुच्यते, लोकदेवतापाखंडिमूढभेदात् त्रीणि मूढानि भवन्ति। तत्र लोकमूढं तावद्दर्शयन्नाह—

आपगासागरस्नानमुच्चयः सिकताश्मनाम्।
गिरिपातोऽग्निपातश्च लोकमूढं निगद्यते॥२२॥

'लोकमूढं' लोकमूढत्वं। किं? 'आपगासागरस्नानं' आपगा नदी सागरः समुद्रः तत्र श्रेयःसाधनाभिप्रायेण यत्स्नानं न पुनः शरीरप्रक्षालनाभिप्रायेण। तथा 'उच्चयः' स्तूपविधानं। केषां? 'सिकताश्मनां' सिकता वालुका, अश्मानः पाषाणास्तेषां। तथा 'गिरिपातो'

भावार्थ :—जैसे एक भी अक्षरहीन मंत्र विषकी वेदनाको दूर नहीं कर सकता। उसी प्रकार आठ अंग रहित सम्यग्दर्शन जन्म-मरणकी परंपराका नाश नहीं कर सकता है। अर्थात् अंग रहित सम्यग्दर्शनसे संसारका नाश नहीं हो सकता; आठ अंग सहित सम्यग्दर्शन ही संसारका नाश कर सकता है।

प्रश्न : वह कौनसी तीन मूढ़ता है कि जिनके अभावसे सम्यग्दर्शन संसार उच्छेदका साधन होता है ?

उत्तर : तीन मूढ़ता इस प्रकार हैं : लोकमूढ़ता, देवमूढ़ता एवं पाखंडी मूढ़ता। वहाँ पहले लोकमूढ़ताका स्वरूप कहते हैं।

श्लोक-२२
लोकमूढ़ताका स्वरूप

अन्वयार्थ—[आपगासागरस्नानम्] नदी और समुद्रमें ''इससे कल्याण होगा'' इस बुद्धिसे स्नान करना [सिकताश्मनाम्] बालू और पत्थरके [उच्चयः] ढिग लगाना [गिरिपातः] पहाड ऊपरसे पड़ना [च] और [अग्निपातः] अग्निमें पड़ना [लोकमूढ़म्] लोकमूढ़ता [निगद्यते] कहलाती है॥२२॥

टीकार्थ—लौकिक कार्योंमें मूढ़ता—मूर्खतावश प्रवृत्ति करना लोकमूढ़ता कहलाती है। जैसे कल्याणका साधन समझकर समुद्र और गंगा, यमुना, नर्मदा आदि नदियोंमें स्नान करना, बालू और पर्वतोंके ढेर लगाकर स्तूप बनाना, हिमालय आदि पर्वतोंसे भृगुपात करना

भृगुपातादिः। 'अग्निपातश्च' अग्निप्रवेशः। एवमादि सर्वं लोकमूढं 'निगद्यते' प्रतिपाद्यते॥२२॥

देवतामूढं व्याख्यातुमाह—

वरोपलिप्सयाशावान् रागद्वेषमलीमसाः।
देवता यदुपासीत देवतामूढमुच्यते॥२३॥

★—

अर्थात् उनकी ऊँची चोटी से लुढककर आत्मघात करना, और पतिके मर जाने पर सती बननेके लिये जीवित ही अग्निमें प्रवेश करना इत्यादि कार्य लोकमूढ़ता कहलाते हैं।

भावार्थ :—धर्म समझकर नदी और समुद्रमें स्नान करना, रेती और पत्थरोंके ढग करके उसे देव मानकर पूजना, स्वर्ग मिलेगा ऐसा मानकर पर्वत परसे गिरना और सती होनेके अभिप्रायसे अग्निमें झंपापात करना आदि—यह सब धर्म समझकर करना उसे लोकमूढ़ता कहते हैं।

देवमूढ़ताका व्याख्यान किया जाता है—

श्लोक - २३
देवमूढ़ताका स्वरूप

अन्वयार्थ—[आशावान्] ऐहिक सुखकी इच्छा करना [वरोपलिप्सया] वर–इच्छितफलकी इच्छासे [राग-द्वेषमलीमसाः] राग और द्वेषसे मलिन [देवताः] देवोंकी [यत् उपासीत] जो उपासना करता है [तत् देवतामूढं] उसको देवमूढ़ता [उच्यते] कहते हैं॥२३॥

विशेष

जिसमें सच्चे देवके लक्षण : वीतरागता, सर्वज्ञता और हितोपदेशीपना–नहीं हो वे अदेव हैं–कुदेव हैं। वें किसी भी प्रकारसे जीवको हितकर्ता नहीं होने पर भी भ्रमसे हितकर्ता मानकर उनका सेवन करना वह मिथ्यात्व है।

मिथ्यादृष्टि जीव तीन प्रकारके प्रयोजनसे इनकी उपासना करते हैं। कोई इनकी

★ यह श्लोककी संस्कृत टीका आगमयुक्त नहीं है, ऐसा शेठ माणिकचंदजी ग्रंथमाळा पुष्प नं. २४ प्रस्तावना पृष्ठ नं. ६९में स्पष्ट लिखा है। उसका कथन सही है इसलिए वह ली नहीं गई है। (श्री रामजीभाई माणेकचंद वकील, सोनगढ़)

उपासना करनेसे मोक्षकी प्राप्ति होगी इसलिए सेवा करते हैं। लेकिन इनसे मोक्ष नहीं होता क्योंकि मिथ्याभावयुक्त उपासना मोक्षका कारण कैसे हो सकती है?

कितने जीव परलोकमें 'सुख होगा–दुःख नहीं' ऐसे प्रयोजनसे कुदेवको मानते हैं, पर इनकी सिद्धि तो पुण्यके उदयसे और पापके उदय नहीं होनेसे होती है। लेकिन स्वयं तो पाप करता है और कहता है कि– ''ईश्वर मेरा भला करता है।'' लेकिन यह तो इसका भ्रम है, क्योंकि जीव जैसा परिणाम करता है वैसा फल मिलता है। इसलिए कोई किसीका भला-बुरा करनेवाला ईश्वर है ही नहीं; इसलिए कुदेवोंके सेवनादिसे परलोकमें भला-बुरा नहीं होता है।

''बहुतसे जीव शत्रुओंके नाशके लिए, रोगादि नाशके लिए, धनादिकी प्राप्तिके लिए तथा पुत्रादिककी प्राप्ति आदि इस पर्याय संबंधी दुःख मिटानेके लिये या सुख पानेके लिए अनेक प्रयोजनपूर्वक कुदेवादिका सेवन करते हैं। हनुमानादिक, भैरव, देवीयाँ–शीतला, दहाड़ी, भूत, पितृ, व्यंतरादिक, सूर्य–चन्द्र, शनिश्चरादिक, ज्योतिषीओंको, पीर–पेगंबरादिक देवोंको, गाय–घोड़ादि तिर्यंचोंको, अग्नि–जलादिकको तथा शस्त्रादिकको पूजते हैं। अधिक क्या कहें? रोड़ा इत्यादिकको पूजते हैं; परन्तु ऐसे कुदेवोका सेवन मिथ्यादृष्टि ही करता है, क्योंकि प्रथम तो जिनका सेवन करता है उसमेंसे कितने तो कल्पना मात्र देव ही हैं, इसलिए उनका सेवन किस प्रकार कार्यकारी होगा? कोई व्यंतरादिक हैं लेकिन वह किसीका भला–बुरा करनेमें समर्थ नहीं हैं। अगर जो समर्थ होवे तो वह स्वयं कर्ता ठहरे, पर उनका किया कुछ दिखता नही; वह प्रसन्न होकर धनादिक दे सकता नहीं, तथा द्वेषी होकर बुरा कर सकता नहीं.....'' लेकिन जीवके पुण्य–पापसे सुख–दुःख होता है, इसलिए इनको मानने–पूजनेसे उल्टा राग होता है, लेकिन कोई कार्यसिद्धि नहीं होती.....।

''स्वयंको जब पापका उदय होता है तो व्यंतरादिक सुख नहीं दे सकते तथा पुण्यका उदय हो तो दुःख नहीं दे सकते। इसलिए उनको (कुदेवोंको) पूजनेसे कोई पुण्यबंध नहीं होता, लेकिन रागादिकी वृद्धि होती है और उल्टा पापका बंध होता है; इसलिए कुदेवोंको मानना–पूजना कार्यकारी नहीं है, लेकिन बुरा करनेवाला है.....''

प्रश्न :—क्षेत्रपाल दहाड़ी और पद्मावती आदि देवी तथा यक्ष–यक्षिणी आदि जो कि जैनमतका अनुसरण करते हैं, उनका पूजनादि करनेमें तो कोई दोष नहीं?

उत्तर :—जैनमतमें तो संयम धारण करनेवाले ही पूज्यनीय होते है। अब देवोंको तो संयम होता ही नहीं है। अगर उनको सम्यक्त्वी मानकर पूजें तो भवनत्रिक देवोंमें सम्यक्त्वकी भी मुख्यता नहीं है; यदि सम्यक्त्व द्वारा ही पूजें तो सर्वार्थसिद्धि और लोंकातिक

इदानीं सद्दर्शनस्वरूपे पाषण्डिमूढस्वरूपं दर्शयन्नाह—

सग्रन्थारम्भहिंसानां संसारावर्तवर्त्तिनाम्।
पाषण्डिनां पुरस्कारो ज्ञेयं पाषण्डिमोहनम्॥२४॥

देवोंको भी क्यो नहीं पूजते? आप कहोगे कि 'इनको (क्षेत्रपालादिको) जिनभक्ति विशेष है,' लेकिन भक्तिकी विशेषता तो सौधर्म इन्द्रको भी होती है तथा वह तो सम्यक्दृष्टि भी है, तो फिर इन्द्रको छोड़कर क्षेत्रपालादिको किस कारणसे पूजते हो?.....तीव्र मिथ्यात्व-भावसे जैनमतमें भी ऐसी विपरीत प्रवृत्तिरूप मान्यता होती है। इसलिए क्षेत्रपालादिक पूजने योग्य नहीं है।

''गाय–सर्पादिक तिर्यंच जो कि स्वयंसे प्रत्यक्ष हीन भासते हैं, इनका तिरस्कारादिक भी हम करते हैं और इनकी निंद्य दशा प्रत्यक्ष दिखनेमें आ रही है। वृक्ष, अग्नि, जलादिक स्थावर हैं, वे तो तिर्यंचोंसे भी अत्यंत हीन अवस्थाको प्राप्त दिख रहे हैं तथा शस्त्रादिक तो अचेतन जड़ ही हैं। सर्व शक्तिसे हीन प्रत्यक्ष ही दिखते हैं। इनमें पूज्यपनेका उपचार भी संभव नहीं है। इसलिए उनको पूजना वह महा मिथ्यात्वभाव है। इनको पूजनेसे प्रत्यक्ष या अनुमानसे भी कोई फलकी प्राप्ति भासित नहीं होती, इसलिए वे भी पूजने योग्य नहीं हैं।''

''जो इष्ट–अनिष्ट करना इनके (व्यंतरादि देवके) आधीन हो तो जो इनको पूजे उनका इष्ट ही होना चाहिए तथा जो इनको नहीं पूजे उनका अनिष्ट ही होना चाहिए, लेकिन ऐसा दिखता ही नहीं है, क्योंकि शीतलाको बहुत मानने पर भी किसीके यहाँ पुत्रादि मरते हुए दिखते हैं। तथा किसीके नहीं मानते हुए भी जीवित दिख रहे हैं। इसलिए शीतलाको मानना किसी भी प्रकारसे कार्यकारी नहीं है। इस प्रकार सभी कुदेवोंको मानना किसी भी प्रकारसे हितकारी (कार्यकारी) नहीं है।''

अब सम्यग्दर्शनके स्वरूपमें पाखंडिमूढ़ताका स्वरूप दर्शाया जाता है।

श्लोक-२४
पारवंडिमूढ़ता [गुरुमूढ़ता] का स्वरूप

अन्वयार्थ—[सग्रंथारम्भहिंसानाम्] परिग्रह, आरंभ और हिंसासहित तथा [संसारावर्त्तवर्तिनाम्] संसाररूपी भोरेमें फिरनेवाले [पाषण्डिनां] पाखंडी साधुओंका [पुरस्कारः] आदर सत्कार करना [पाषण्डिमोहनम्] गुरुमूढ़ता [ज्ञेयम्] जानना चाहिए॥२४॥

१०

'पाषण्डिमोहनं'। 'ज्ञेयं' ज्ञातव्यं। कोऽसौ? 'पुरस्कारः' प्रशंसा। केषां? 'पाषण्डिनां' मिथ्यादृष्टिलिंगिनां। किंविशिष्टानां? 'सग्रन्थारंभहिंसानां' ग्रन्थाश्च दासीदासादयः, आरंभाञ्च कृष्यादयः हिंसाश्च अनेकविधाः प्राणिवधाः सह ताभिर्बर्तन्त इत्येवं ये तेषां। तथा 'संसारावर्तवर्तिनां' संसारे आवर्तो भ्रमणं येभ्यो विवाहादिकर्मभ्यस्तेषु वर्तते इत्येवं शीलास्तेषां। एतैस्त्रिभिर्मूढैरपोढत्वसम्पन्नं सम्यग्दर्शनं संसारोच्छित्तिकारणं अस्मयत्वसम्पन्नवत् ॥२४॥

टीकार्थ—जो दासी–दास आदि परिग्रह, खेती आदि आरम्भ और अनेक प्रकारके प्राणीवधरूप हिंसासे सहित हैं तथा संसारमें आवर्त—भ्रमण करानेवाले विवाह आदि कार्योंमें संलग्न हैं ऐसे अन्य साधुओंकी प्रशंसा करना तथा उन्हें धार्मिक कार्योंमें अग्रेसर करना पाषण्डिमूढ़ता जानना चाहिए। पाषण्डीका अर्थ गुरु होता है और मूढ़ताका अर्थ अविवेक है। गुरुविषयक जो अविवेक है वह पाषण्डिमूढ़ता है। उपर्युक्त तीन मूढ़ताओंसे रहित सम्यग्दर्शन ही संसारके उच्छेदका कारण है, जैसा कि आठपदोंसे रहित सम्यग्दर्शन संसारके उच्छेदका कारण है।

भावार्थ :—आरंभ, परिग्रह और हिंसा सहित कुलिंगधारी पाखंडी गुरु—जो विवाहादि संसारी कार्योंमें मग्न हैं, उनका आदर–सत्कार करना उनकी प्रशंसा करना उसे पाखंडिमूढ़ता अर्थात् गुरुमूढ़ता कहते हैं।

इस ग्रंथके श्लोक १०में दर्शाया है कि सच्चे गुरुके लक्षणोंसे विपरीत लक्षणवाले सभी गुरु पाखंडी–कुगुरु हैं, वह सत्कार–प्रशंसाके पात्र नहीं हैं।

''जो जीव विषय–कषायादिक अधर्मरूप तो परिणमन करता है और मानादिकसे स्वयंको धर्मात्मा कहलाता है–मनवाता है, धर्मात्मा योग्य नमस्कारादिक क्रिया करवाता है, किंचित् धर्मका कोई अंग धारकर महान धर्मात्मा कहलाते हैं तथा महान धर्मात्मा योग्य क्रिया कराता है—और धर्मके आश्रयसे स्वयंको महान मनवाता है, उन सभीको कुगुरु जानना क्योंकि धर्म पद्धतिमें तो विषय–कषायादि छूटनेसे धर्म और उसी प्रकार ही स्वयंका पद मानने योग्य है।''

''कोई शास्त्रमें निरूपण किया हुआ कठिन मार्ग तो स्वयंसे सधता नहीं और स्वयंका नाम उँच्चा धराये बिना लोग मानते भी नहीं। इस अभिप्रायसे यति, मुनि, आचार्य, उपाध्याय, साधु, भट्टारक, संन्यासी, योगी, तपस्वी और नग्न इत्यादि नाम तो उच्च धराता है, लेकिन उनके आचरणको साध नहीं सकता है, और कितने तो स्वयंकी इच्छानुसार ही नवीन नाम धारण करते हैं और इच्छानुसार नाना प्रकारके वेश धारण करते हैं और ऐसे अनेक वेश धारण करनेसे स्वयंमें गुरुपना मानते हैं; लेकिन यह मिथ्या है।''

कः पुनरयं स्मयः कतिप्रकारश्चेत्याह—

ज्ञानं पूजां कुलं जातिं बलमृद्धिं तपो वपुः।
अष्टावाश्रित्य मानित्वं स्मयमाहुर्गतस्मयाः॥२५॥

''.....उच्च धर्मात्मा नाम धारकर नीची क्रिया करता है वह तो महापापी ही होगा।'' श्री कुंदकुंदाचार्यदेव षट्पाहुड़में गाथा-१८में कहते हैं—

''मुनिपद है वह यथाजात् रूप सदृश है, जैसा जन्मके समय होता है वैसा नग्न हो वह मुनि है, धनवस्त्रादि वस्तुको तिलतुषमात्र ग्रहण करते नहीं। कभी किसी ने थोड़ा बहुत भी ग्रहण किया तो वह निगोदमें जाएगा।''

''देखो, गृहस्थपनेमें बहुत परिग्रह रखकर कुछ प्रमाण करता है, तो भी वह स्वर्ग-मोक्षका अधिकारी होता है, लेकिन मुनिपनेमें किंचित् परिग्रह अंगीकार करे तो वह निगोदगामी होता है, इसलिए उच्च नाम धारकर नीच प्रवृत्ति करना योग्य नहीं है।''

''मुनिका स्वरूप तो ऐसा है जहाँ बाह्याभ्यंतर परिग्रहका संबंध नहीं; केवल स्वयंकी आत्माको ही अपनेरूप अनुभव करता है, शुभाशुभ भावोंसे भी जो उदासीन होता है.....''

श्री कुंदकुंदाचार्यदेवने षट्पाहुड़में (दर्शनपाहुड़में) कहा है कि—

''सम्यग्दर्शन जिसका मूल है, ऐसे जिनवर द्वारा उपदेशित धर्म सुनकर हे पुरुषो! तुम ऐसा मानो कि सम्यक्त्व रहित जीव वंदन योग्य नहीं। जो स्वयं कुगुरु है और कुगुरुके श्रद्धान सहित है वह सम्यग्दृष्टि कैसे होगा? इसलिए सम्यक्त्व बिना अन्य धर्म भी नहीं होता तो फिर कुगुरु धर्म बिना वंदन योग्य कहाँसे होगा?''

इसी तरह लिंगपाहुड़में भी कहा है कि—''जो मुनिलिंग धारकर हिंसा, आरंभ, यंत्र-मंत्रादि करते हैं उनका बहुत निषेध किया है।'' (मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ-१८५)

कहा है कि—''हे जीव! जो मुनिलिंग धारकर इष्ट परिग्रहको ग्रहण करता है वह उल्टी करके वही उल्टीको वापिस ग्रहण करता है, अर्थात् वह निंदनीय है।''२४।

पुनश्च यह मद क्या हैं? उनके कितने प्रकार हैं यह कहा जाता है।

श्लोक-२५
अष्ट मदोंके नाम

अन्वयार्थ—[गतस्मयाः] गर्वसे रहित सर्वज्ञदेव [ज्ञानम्] ज्ञान [पूजाम्] पूजा [कुलम्]

'आहु'र्ब्रुवन्ति[1]। कं? 'स्मयं'। के ते? 'गतस्मयाः' नष्टमदाः[2] जिनाः। किं तत्? 'मानित्वं' गर्वित्वं। किं कृत्वा? 'अष्टावाश्रित्य'। तथा[3] हि। ज्ञानमाश्रित्य ज्ञानमदो भवति। एवं पूजां कुलं जातिं बलं ऋद्धिमैश्वर्यं तपो वपुः शरीरसौन्दर्यमाश्रित्य पूजादिमदो भवति। ननु शिल्पमदस्य नवमस्य प्रसक्तेरष्टाविति संख्यानुपपन्ना[4] इत्यप्ययुक्तं तस्य ज्ञाने एवान्तर्भावात् ॥२५॥

अनेनाष्टविधमदेन चेष्टमानस्य दोषं दर्शयन्नाह—

कुल [जातिं] जाति [बलम्] शक्ति [ऋद्धिम्] ऋद्धि [तपः] तप और [वपुः] शरीर इन [अष्टौ] आठका [आश्रित्य] आश्रय करके [मानित्वम्] मान करनेको [स्मयम्] मद [आहुः] कहते हैं॥२५॥

टीकार्थ—जिनका स्मय—मद नष्ट हो गया है ऐसे जिनेन्द्रदेव ज्ञानादिक आठ वस्तुओंका आश्रय लेकर गर्व करनेको स्मय या मद कहते हैं। अपने क्षायोपशमिकज्ञानका अहङ्कार करना ज्ञानमद है। इसी प्रकार अपनी पूजा–प्रतिष्ठा लौकिक सम्मानका गर्व करना पूजामद है। पिताके वंशको कुल और माताके वंशको जाति कहते हैं, इनका अहंकार करना सो कुलमद और जातिमद है। शारीरिक शक्तिको बल कहते हैं, इसका गर्व करना सो बलमद है। बुद्धि आदि ऋद्धियोंको अथवा गृहस्थकी अपेक्षा धन आदिके वैभवको ऋद्धि कहते हैं, इसके अहंकारको ऋद्धिमद कहते हैं। अनशनादि तपोंको तप कहते हैं, इसका गर्व करना तो तपोमद है और स्वस्थ तथा सुन्दर शरीरका गर्व करना सो शरीरमद है। यहाँ कोई प्रश्न करता है कि शिल्प—कलाकौशलका भी तो मद होता है। इसलिए नौ मद होनेपर मदकी आठ संख्या सिद्ध नहीं होती? इसके उत्तरमें टीकाकार कहते हैं कि शिल्पका मद ज्ञानमदमें ही अन्तर्गत हो जाता है इसलिए नौवाँ मद जाननेकी आवश्यकता नहीं है।

भावार्थ :—ज्ञान, प्रतिष्ठा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप और शरीर—यह आठके आश्रयसे अभिमान करना उसे मद कहते हैं। इसके आठ प्रकार ज्ञानमद, पूजामद, कुलमद (पितृपक्ष) जातिमद (माता पक्ष), बलमद, ऋद्धिमद, तपमद और शरीरकी सुंदरताका मद। ज्ञानमदमें शिल्पमद (कारीगरीका मद) गर्भित है।२५।

यह आठ प्रकारके मदकी प्रवृत्ति करनेवालोंके दोष बताते हैं :—

---

१. वदन्ति घ०। २. नष्टमोहा घ०।

३. तथा विज्ञानमाश्रित्य घ०। ४. नुत्पत्तिरित्यप्युक्तं घ०।

स्मयेन योऽन्यानत्येति धर्मस्थान् गर्विताशयः।
सोऽत्येति धर्ममात्मीयं न धर्मो धार्मिकैर्विना॥२६॥

'स्मयेन' उक्तप्रकारेण। 'गर्विताशयो' दर्पितचित्तः[1]। 'यो' जीवः। 'धर्मस्थान' रत्नत्रयोपेतानन्यान्। 'अत्येति' अवधीरयति अवज्ञयातिक्रामतीत्यर्थः। 'सोऽत्येति' अवधीरयति। कं? 'धर्मं' रत्नत्रयं। कथंभूतं? आत्मीयं' जिनपतिप्रणीतं। यतो धर्मो 'धार्मिकैः' रत्नत्रयानुष्ठायिभिर्विना न विद्यते॥२६॥

[2]ननु कुलैश्वर्यादिसम्पन्नैः स्मयः कथं निषेद्धुं शक्य इत्याह—

श्लोक-२६
गर्व करनेका फल

अन्वयार्थ—[गार्विताशयः] गर्वित चित्तवाला [यः] जो [स्मयेन] अभिमानसे [अन्यान्] दूसरे [धर्मस्थान्] सम्यग्दर्शन आदि धर्म सहित जीवोंका [अत्येति] तिरस्कार करता है अथवा उल्लंधन करता है [सः] वह [आत्मीयम्] अपने [धर्मम्] धर्मका अर्थात् आत्मस्वभावका [अत्येति] तिरस्कार करता है क्योंकि [धर्मः] धर्म [धार्मिकैःविना] धर्मात्मा पुरुषोंके विना [न] नहीं हो सकता है॥२६॥

टीकार्थ—ऊपर जिन ज्ञान, पूजा आदि आठ प्रकारके मदोंका वर्णन किया गया है उनसे गर्वितचित्त होता हुआ जो पुरुष रत्नत्रयरूप धर्ममें स्थित अन्य धर्मात्माओंका तिरस्कार करता है,–अवज्ञाके द्वारा उनका उल्लंघन करता है वह जिनेन्द्रप्रणीत अपने ही रत्नत्रय धर्मका तिरस्कार करता है क्योंकि रत्नत्रयका पालन करनेवाले धर्मात्माओंके बिना धर्म नहीं रहता है।

भावार्थ :—जो अभिमानी (गर्वित) पुरुष, गर्वके कारण अन्य धार्मिक पुरुषोंकी अवगणना करता है, वह स्वयंके रत्नत्रयरूप धर्मकी अवगणना करता है, क्योंकि धार्मिक पुरुषोंके बिना धर्म होता ही नहीं (इसलिए धार्मिक पुरुषोंका तिरस्कार करनेसे स्वयंके धर्मका तिरस्कार होता है। धर्म और धर्मीमें अविनाभाव संबंध है।)

कुल, ऐश्वर्यादियुक्त पुरुषों द्वारा गर्वका निषेध करना किस प्रकार संभवित है, यह कहते हैं—

---

१. दर्पिष्ठचित्तः घ०।

२. ननु कुलबलैश्वर्यसम्पत्तौ घ०।

यदि पापनिरोधोऽन्यसम्पदा किं प्रयोजनम्।
अथ पापास्रवोऽस्त्यन्यसम्पदा किं प्रयोजनम्॥२७॥

'पापं' ज्ञानावरणाद्यशुभं कर्म निरुद्ध्यते येनासौ 'पापनिरोधो' रत्नत्रयसद्भावः स यद्यस्ति तदा 'अन्यसम्पदा' अन्यस्य कुलैश्वर्यादेः सम्पदा सम्पत्त्या किं प्रयोजनं? न किमपि प्रयोजनं तन्निरोधेऽतोऽप्यधिकाया विशिष्टतरायास्तत्सम्पदः सद्भावमवबुद्ध्यमानस्य तन्निबन्धनस्मयस्यानुत्पत्तेः। 'अथ पापास्रवोऽस्ति' पापस्याशुभकर्मणः आस्रवो मिथ्यात्वाविरत्यादिरस्ति तथाप्यन्यसंपदा किं प्रयोजनं। अग्रे दुर्गतिगमनादिकं अवबुद्ध्यमानस्य तत्सम्पदा प्रयोजनाभावतस्तत्स्मयस्य कर्तुमनुचितत्वात्॥२७॥

श्लोक - २७
धार्मिक पुरुषका तिरस्कार अनुचित

अन्वयार्थ—[यदि] यदि [पापनिरोधः] पापरूप ज्ञानावरणादिक कर्म रुकते हैं जिससे ऐसे रत्नत्रयका सद्भाव है तो [अन्यसम्पदा] दूसरी राज्यादिक सम्पतिसे [किम्] क्या [प्रयोजनं] प्रयोजन है। [अथ] और यदि [पापास्रवः] मिथ्यात्व आदि अशुभकर्मका आस्रव [अस्ति] है तो [अन्यसम्पदा] दूसरी सम्पत्तिसे [किं प्रयोजनम्] क्या प्रयोजन है॥२७॥

टीकार्थ—प्रश्न यह उठाया गया था कि कुल, ऐश्वर्य आदिसे सम्पन्न मनुष्य मदको किस प्रकार रोक सकते हैं? इसके उत्तरमें कहा गया है कि विवेकी जीवको सदा ऐसा विचार करना चाहिए कि यदि मेरे ज्ञानावरणादि अशुभकर्मरूपी पापको रोकनेवाला रत्नत्रयधर्म विद्यमान है तो मुझे कुल ऐश्वर्य आदि अन्य सम्पत्तिसे क्या प्रयोजन है। क्योंकि उससे श्रेष्ठतम सम्पत्तिरूप रत्नत्रयधर्म मेरे पास विद्यमान है। और इसके विपरीत यदि ज्ञानावरणादि अशुभकर्मरूप पापका आस्रव होता है—मिथ्यात्व, अविरति आदि आस्रव भाव विद्यमान हैं तो अन्य सम्पदासे क्या प्रयोजन है? क्योंकि उस आस्रवसे दुर्गतिगमन आदि फलकी प्राप्ति नियमसे होगी। ऐसा विचार करनेसे कुल, ऐश्वर्य आदिका गर्व दूर हो जाता है।

भावार्थ :—मिथ्यात्वके अभावमें सम्यग्दृष्टि अन्य क्षणस्थायी विभूतिओंसे लाभ मानता नहीं, इस कारण वह इनमें गर्व नहीं करता। मिथ्यादृष्टि पूर्वोपार्जित विभूतिओंसे लाभ मानता है वह मिथ्यात्वके कारण इनमें गर्व करता है और इसीमें रचा–पचा रहता है; इस कारण वहीं विभूति उसे लाभदायक नहीं होकर दुर्गति–गमनमें कारण बन जाती है।

अमुमेवार्थं प्रदर्शयन्नाह—

सम्यग्दर्शनसम्पन्नामपि मातङ्गदेहजम्।
देवा देवं विदुर्भस्मगूढांगारान्तरौजसम्॥२८॥

'देवं' आराध्यं। 'विदु'र्मन्यन्ते। के ते? 'देवा' ''देवा[1] वि तस्स णमंति जस्स धम्मे सया मणो'' इत्याभिधानात्। कमपि? 'मातंगदेहजमपि' चांडालमपि। कथंभूतं? 'सम्यग्दर्शनसम्पन्नं' सम्यग्दर्शनेन सम्पन्नं युक्तं। अतएव 'भस्मगूढाङ्गारान्तरौजसं' भस्मना गूढः प्रच्छादितः स चासावङ्गारश्च तस्य अन्तरं मध्यं तत्रैव ओजः प्रकाशो निर्मलता यस्य॥२८॥

इसी अर्थको कहनेवाला श्लोक कहते हैं—

श्लोक - २८
सम्यग्दर्शनकी महिमा

अन्वयार्थ—[देवाः] जिनेन्द्र भगवान [सम्यग्दर्शनसम्पन्नं] सम्यग्दर्शन सहित [भस्मगूढांगारान्तरौजसम्] राखसे ढके हुए अंगारेके भीतर प्रकाशके समान [मातंगदेहजं अपि] चाण्डाल देहधारी पुरुषको भी [देवम्] देव द्वारा-पूजा करनेके योग्य [विदुः] मानते हैं॥२८॥

टीकार्थ—चाण्डाल कुलमें उत्पन्न होनेपर भी यदि कोई पुरुष सम्यग्दर्शनसे संपन्न है तो उसे गणधरादिक देव, आदरके योग्य मानते हैं क्योंकि 'देवावि तस्स णमंति जस्स धम्मे सया मणो'—जिसका मन सदा धर्ममें रहता है उसे देव भी नमस्कार करते हैं, ऐसा कहा गया है। ऐसे पुरुषका तेज भस्मसे आच्छादित अङ्गारके भीतरी तेजके समान होता है।

भावार्थ :—यहाँ उपमा-उपमेय भावसे कथन है। भस्मसमान चांडालका शरीर है, अंगार (अग्नि) समान जीव है, और प्रकाश समान सम्यग्दर्शन है। भस्म, अंगार और प्रकाश यह उपमा है और शरीर, जीव और सम्यग्दर्शन वह उपमेय हैं। भस्मसे आच्छादित अग्निके तेजसमान सम्यग्दर्शनयुक्त चांडालके देहधारी जीवको भी 'देव' कहते हैं; क्योंकि उसको सच्चे सम्यग्दर्शनरूप दिव्यशक्ति प्रगट हुई है।

एकस्य धर्मस्य विविधं फलं प्रकाश्येदानीमुभयोर्धर्माधर्मयोर्यथाक्रमं फलं दर्शयन्नाह—

श्वापि देवोऽपि देवः श्वा जायते धर्मकिल्विषात् ।
कापि नाम भवेदन्या सम्पद्धर्माच्छरीरिणाम् ॥२९॥

'श्वापि' कुक्करोऽपि 'देवो' जायते। 'देवोऽपि' देवः 'श्वा' जायते। कस्मात्? 'धर्मकिल्विषात्' धर्ममाहात्म्यात् खलु श्वापि देवो भवति। किल्विषात् पापोदयात् पुनर्देवोऽपि श्वा भवति यत एवं, ततः 'कापि' वाचामगोचरा। 'नाम' स्फुटं। 'अन्या' अपूर्वाऽद्वितीया। 'सम्पद्' विभूतिविशेषो। 'भवेत्'। कस्मात्? धर्मात्। केषां? 'शरीरिणां' संसारिणां। यत एवं, ततो धर्म एव प्रेक्षावतानुष्ठातव्यः॥२९॥

(अब तक सम्यग्दृष्टिके) एक धर्मका विविध फल कहकर अब धर्म एवं अधर्म दोनोंका यथाक्रमसे फल बताते हुए कहते हैं—

श्लोक - २९

धर्म - अधर्मका फल

अन्वयार्थ—[धर्मकिल्विषात्] धर्म और पापसे [श्वा अपि] कुत्ता भी [देवः] देव और [देवः अपि] देव भी [श्वा] कुत्ता [जायते] होता है [धर्मात्] धर्मसे [शरीरिणाम्] जीव धारियोंके [कापिनामअन्या] कोई एक अनिर्वचनीय [सम्पत्] ऐश्वर्य [भवेत्] होता है॥२९॥

टीकार्थ—सम्यग्दर्शनादिरूप धर्मकी महिमासे कुत्ता भी देव हो जाता है और मिथ्यादर्शनादि अधर्मकी महिमासे देव भी कुत्ता हो जाता है। रत्नत्रयरूप धर्मके प्रभावसे प्राणियोंको ऐसी सम्पत्तिकी प्राप्ति होती है जो वचनोंके द्वारा कही नहीं जा सकती तथा अप्राप्तपूर्व होती है।

भावार्थ :—सम्यग्दृष्टि जीवको अंशतः शुद्धता होती है उससे संवर-निर्जरा होती है और साथमें जितनी अशुद्धता है, उससे आस्रव–बंध होता है।

सम्यग्दृष्टि तो शुभभाव और उसके फलमें राचता नहीं लेकिन उसका अभाव करके शुद्धभावमें रहनेका पुरुषार्थ ही करता है।

मिथ्यादृष्टिका शुभभाव उत्तरोत्तर अधोगतिका कारण है, क्योंकि शुभभाव और उसके

तथानुतिष्ठता दर्शनम्लानता मूलतोऽपि न कर्तव्येत्याह—

भयाशास्नेहलोभाच्च कुदेवागमलिंगिनाम्।
प्रणामं विनयं चैव न कुर्युः शुद्धदृष्टयः॥३०॥

'शुद्धदृष्टयो' निर्मलसम्यक्त्वाः न कुर्युः। कं? 'प्रणामं' उत्तमाङ्गेनोपनतिं। 'विनयं चैव' करमुकुलप्रशंसादिलक्षणं। केषां? कुदेवागमलिंगिनां। कस्मादपि? 'भयाशास्नेह-लोभाच्च' भयं राजादिजनितं, आशा च भाविनोऽर्थस्य प्राप्त्याकांक्षा, स्नेहश्च मित्रानुरागः, लोभश्च वर्तमानकालेऽर्थप्राप्तिगृद्धिः, भयाशास्नेहलोभं तस्मादपि। च शब्दोऽप्यर्थः॥३०॥

फलमें वह इतना बंधा हुआ रचा पचा–आसक्त रहता है कि उसके तीव्र पापबंध अवश्य होता है। जिसके फलस्वरूप उसको नीच गति ही प्राप्त होती है।

सम्यग्दृष्टिको शुभभाव आते हैं, लेकिन उसका आदर नहीं है; उसमें उसकी हेयबुद्धि है। वह उन भावोंको चारित्रमें कलंक समान मानता है। अशुभ वंचनार्थसे (हेयबुद्धि होनेसे) ऐसे शुभभाव सम्यग्दृष्टिको साधकदशामें आते हैं और उससे अल्पबंध भी होता है, परंतु मिथ्यादृष्टिको जैसा तीव्र बंध होता है वैसा बंध ज्ञानीको नहीं होता।

सम्यग्दर्शनका पालन करनेवाले जीवको प्रारंभसे ही सम्यग्दर्शनमें मलिनताका प्रवेश नहीं होना चाहिये—

श्लोक - ३०

सम्यग्दृष्टिके त्यागने योग्य कार्य

अन्वयार्थ—[शुद्धदृष्टयः] सम्यग्दृष्टि जीवोंने [भयाशास्नेहलोभात् च] राजादिकके भयसे, आगे सम्पत्ति आदिकी इच्छासे, स्नेहसे और लोभके कारण भी [कुदेवागमलिंगिनाम्] खोटे देव, खोटे शास्त्र, खोटे गुरुको [प्रणामम्] नमस्कार [विनयं चैव] और विनय [न कुर्युः] नहीं करना चाहिए॥३०॥

टीकार्थ—राजा आदिसे उत्पन्न हुए आतंकको भय कहते हैं, आगामी पदार्थकी इच्छा करना आशा है, मित्रोंके अनुरागको स्नेह कहते हैं और वर्तमान कालमें धन प्राप्तिकी जो गृद्धता है उसे लोभ कहते हैं। शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव इन चारों कारणोंसे कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरुको न तो प्रणाम करे, न मस्तक झुकाकर नमस्कार करे और न उनकी विनय करे—हाथ जोड़े तथा प्रशंसा आदिके वचन कहे।

भावार्थ :—शुद्ध (निर्मल) पच्चीस दोषरहित, सम्यग्दृष्टि जीवको राजादिके भयके कारण, कोई आर्थिक आशाके कारण, मित्रादिके प्रति स्नेहके कारण या पैसेके अतिलोभके कारण भी कुदेव, कुशास्त्र और कुलिंगीयोंको (खोटे वेशधारी गुरुओंको) प्रणाम नहीं करना चाहिये; न उनका विनय–सत्कार करना चाहिये।

विशेष

मोक्षपाहुड़ गाथा ९२में कहा है कि—

''जो कोई लज्जा, भय और बड़ाईसे भी कुत्सित देव–धर्म–लिंगको वंदन करता है वह मिथ्यादृष्टि है।

''.....जो मिथ्यात्वका त्याग करनेकी इच्छा रखता है, वह पहलेसे ही कुदेव–कुधर्म और कुगुरुओंको त्यागता है। सम्यक्त्वके पच्चीस मलदोषोंका त्याग भी मूढ़दृष्टि और छः अनायतनमें भी जिसका त्याग कराया है उसका उसे त्याग अवश्य करना चाहिए।''

''कुदेवादिसेवनसे जो मिथ्यात्वभाव होता है, वह हिंसादि पापोंसे भी महान पाप है, क्योंकि इसके फलमें निगोद–नरकादि पर्याय प्राप्त होती है। वहाँ अनंत काल तक महा संकटको पाता है तथा सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति भी महादुर्लभ हो जाती है।''

''इसलिए हे भव्य! किंचित् मात्र लोभ या भयसे भी कुदेवादिका सेवन नहीं करना, क्योंकि उससे अनंत काल तक महा दुःख सहन करना पड़ता है, इसलिए ऐसा मिथ्यात्व भाव करना योग्य नहीं। जैन धर्ममें तो ऐसी आम्नाय है कि पहले बड़ा पाप छुड़ाते हैं फिर छोटा पाप छुड़ाते हैं इसलिए मिथ्यात्वको सात व्यसनादिसे भी महान पाप जानकर पहले (प्रथम) छुड़ाया है।''

''अतः जो जीव पापके फलसे डरता हो तथा निज आत्माको दुःख-समुद्रमें डुबानेकी इच्छा न रखता हो, तो इस मिथ्यात्व पापको अवश्य छोडो। निंदा–प्रशंसादिके विचारसे शिथिल होना योग्य नहीं है।''

प्रश्न :—तत्त्वश्रद्धानीको इन कुगुरु–सेवनसे किस प्रकार मिथ्यात्व होता है?

उत्तर :—जैसे शीलवती स्त्री स्वयंके पतिके समान ही पर पुरुषके साथ भी रमण क्रिया सर्वथा नहीं (कभी नहीं) करती है, उसी प्रकार तत्त्वश्रद्धानी पुरुष सुगुरुके समान ही कुगुरुको भी नमस्कारादि क्रिया सर्वथा नहीं (कभी नहीं) करता है, क्योंकि वह जीवादि तत्त्वोंका श्रद्धानी हुआ है, जिनसे वह रागादिका निषेध करनेकी श्रद्धा करता है। वीतराग भावको श्रेष्ठ मानता है; इसलिए जिसमें वीतरागता हो ऐसे गुरुको ही उत्तम जानकर

ननु मोक्षमार्गस्य रत्नत्रयरूपत्वात् कस्माद्दर्शनस्यैव प्रथमतः स्वरूपाभिधानं कृतमित्याह—

दर्शनं ज्ञानचारित्रात्साधिमानमुपाश्नुते।
दर्शनं कर्णधारं तन्मोक्षमार्गे प्रचक्षते॥३१॥

'दर्शनं' कर्तु 'उपाश्नुते' प्राप्नोति। कं? 'साधिमानं' साधुत्वमुत्कृष्टत्वं वा।

नमस्कारादि करता है लेकिन जिसमें रागादिक हो उसे निषेध्य जानकर कभी भी नमस्कार नहीं करता।''

भावार्थ :—मिथ्यात्व मूल पाप है। मिथ्यात्वके प्रभावसे दूसरे स्वर्गके देव एकेन्द्रियमें जन्म लेते हैं और अनंतानंतकाल त्रस-स्थावरोंमें परिभ्रमण करते रहते हैं।

बारहवें स्वर्गके देव भी मिथ्यात्वके प्रभावसे पंचेन्द्रिय तिर्यंचोंमें जन्म लेते हैं।

इसलिए मिथ्यात्वभाव महा अनर्थकारी जानकर सम्यक्त्वमें ही यत्न करना योग्य है।
(सदासुखदासजी कृत टीका, पेज नं. ५८ सस्ती ग्रंथमाला)

गाथा—२८, सम्यग्दर्शनके माहात्म्यकी है, उसके अनुसंधानमें गाथा—२९ सम्यग्दृष्टिके शुभभावकी है। उसके बादकी गाथा-३०से ४१ तक सभी गाथायें सम्यग्दर्शनकी महिमा बताती हैं। सम्यग्दृष्टिको उसकी भूमिका (अनुसार) शुद्धिके साथ अशुद्धि होती है और उस अशुद्धिमें शुभभावकी ही मुख्यता होती है।३०।

मोक्षमार्ग तो रत्नत्रयस्वरूप है, तो फिर सबसे प्रथम सम्यग्दर्शनके ही स्वरूपका कथन क्यों किया? वह कहते हैं।

श्लोक-३१
रत्नत्रयमें सम्यग्दर्शनकी प्रधानता

अन्वयार्थ—[दर्शनम्] सम्यग्दर्शनकी [ज्ञानचारित्रात्] सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी अपेक्षा [साधिमानम् उपाश्नुते] उपासना उत्कृष्टपनेको [प्राप्नोति] प्राप्त है [तत्] इसलिए [दर्शनम्] सम्यग्दर्शन [मोक्षमार्गे] मोक्षमार्गमें [कर्णधारम्] कर्णधार-प्रधान [प्रचक्षते] कहा गया है॥३१॥

टीकार्थ—जिस प्रकार समुद्रके उस पार जानेमें नावकी प्रवृत्ति, नाव चलानेवाले

कस्मात्? ज्ञानचारित्रात्। यतश्च साधिमानं तस्माद्दर्शनमुपाश्नुते। 'तत्' तस्मात्। 'मोक्षमार्गे' रत्नत्रयात्मके 'दर्शनं कर्णधारं' प्रधानं प्रचक्षते। यथैव हि कर्णधारस्य नौखेवटकस्य कैवर्तकस्याधीना समुद्रपरतीरगमने नावः प्रवृत्तिः तथा संसारसमुद्रपर्यंतगमने सम्यग्दर्शनकर्णधाराधीना मोक्षमार्गनावः प्रवृत्तिः ॥३१॥

मल्लाहके आधीन होती है उसी प्रकार संसार–समुद्रके उस पार जानेमें मोक्षमार्गरूपी नावकी प्रवृत्ति सम्यग्दर्शनरूपी कर्णधारके आधीन है। यही कारण है कि सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्रकी अपेक्षा श्रेष्ठता या उत्कृष्टताको प्राप्त होता है।

भावार्थ :—जैसे नावकी प्रवृत्ति उसको चलानेवाले खेवटियाके आधीन है, अर्थात् नावको समुद्रमें अन्य तट पर ले जानेमें खेवटिया ही मुख्य है, उसी प्रकार संसार–समुद्रको पार करनेमें मोक्षमार्गरूपी नाव, सम्यग्दर्शनरूपी खेवटियाके आधीन होती है। इसलिए मोक्षमार्गमें सम्यग्दर्शन ही मुख्य (उत्कृष्ट) है, अर्थात् ज्ञान और चारित्रसे सम्यक्त्वकी उत्तमता है।

विशेष

पं. दौलतरामजीने छःढालामें कहा है कि—

मोक्षमहलकी परथम सीढी, या बिन ज्ञान चरित्रा।
सम्यक्ता न लहै, सो दर्शन धारो भव्य पवित्रा।। (ढाल ३-१७)

''सम्यग्दर्शन ही मोक्ष–महेलकी प्रथम सीढ़ी है। उसके बिना ज्ञान और चारित्र मिथ्या होते हैं। वे सम्यक् नहीं माने जाते इसलिए हे भव्य! पवित्र सम्यग्दर्शनको धारण करो।''

कहा है कि.....

तीन लोक तिहुंकाल मांहि नहिं, दर्शन सो सुखकारी।
सकल धरमको मूल यही, इस बिन करनी दुखकारी।। (ढाल ३-१६)

तीनलोक, तीनकालमें सम्यग्दर्शन जैसी सुखकारी दूसरी कोई वस्तु नहीं है; वह सब धर्मोंका मूल है। इसके बिना धर्मके नाम पर होती सभी क्रिया दुःखकारी है।

उपरोक्त श्लोक–३१ दर्शाता है कि श्रावकको पाँचवे गुणस्थानमें आंशिक निश्चय मोक्षमार्ग होता है, क्योंकि उसे जघन्य रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग न हो तो उसे सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र हो ही नहीं सकता।

इन तीनोंमें सम्यग्दर्शनकी उत्कृष्टता बतानेके लिए आचार्यदेवने मूल श्लोकमें 'साधिमान' और 'कर्णधार' शब्दोंका प्रयोग किया है।

ननु चास्योत्कृष्टत्वे सिद्धे कर्णधारत्वं सिद्ध्यति तच्च कुतः सिद्धमित्याह—

भगवान कुंदकुंदाचार्यदेवने भी श्री प्रवचनसार गाथा–६में सम्यग्दर्शनको मोक्षमार्गमें प्रधान कहा है।

प्रधान कहनेका कारण यह है कि संसारसमुद्रको पार करनेके लिए सम्यग्दर्शनरूपी कर्णधारके आधीन मोक्षमार्गरूपी नाव (नौका)की प्रवृत्ति हो सकती है। इसलिए सम्यग्दर्शनरूपी कर्णधार बिना मोक्षमार्गरूपी नौका (नाव) कैसे चल सकती है। नहीं चल सकती।

पुनश्च श्रावकको, स्वयंको सम्यग्दर्शन हुआ है ऐसा न जान सके तो वह मोक्षमार्गी किस प्रकार हो सकता है? इससे यह सिद्ध होता है कि सम्यग्दर्शनकी जानकारी श्रावकको अवश्य होती ही है।

करणानुयोग शास्त्रमें भी कहा है कि सम्यग्दर्शन बिना सच्चा संयम हो ही नहीं सकता।

श्री धवल पुस्तक-१ पृष्ठ–१४४, श्लोक ४की टीकामें लिखा है कि—संयमन करनेको संयम कहते हैं। संयमका इस प्रकार लक्षण कहनेसे द्रव्य–यम अर्थात् भावचारित्रशून्यद्रव्य-चारित्र, संयम नहीं हो सकता। क्योंकि संयम शब्दमें ग्रहण करनेमें आनेवाला 'सं' शब्दसे उसका निराकरण कर दिया है।''

''पृष्ठ-३६९में भी अभेदकी अपेक्षा पर्यायका पर्यायीरूपसे कथन किया है। 'सम' उपसर्ग सम्यक् अर्थका वाची है, इसलिए सम्यग्दर्शन और सम्यक्ज्ञानपूर्वक 'यताः' अर्थात् जो बहिरंग और अंतरंग आस्रवोंसे विरक्त है उनको संयत कहते हैं।''

(श्री धवल पुस्तक-१, पृष्ठ–३६९, श्लोक १२३की टीका)

श्री धवल पुस्तक १३ पृष्ठ २८८में शंका समाधान द्वारा कहा है कि :—

शंका :—चारित्रसे (भाव) श्रुतज्ञानकी प्रधानता किस कारणसे है?

समाधान :—क्योंकि श्रुतज्ञान बिना चारित्रकी उत्पत्ति नहीं होती, अतः चारित्रकी अपेक्षा श्रुतज्ञानकी प्रधानता है।३१।

इससे स्पष्ट है कि ज्यों सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्रमें सम्यग्दर्शनकी प्रधानता है। ऐसे चारित्रमें श्रुतज्ञानकी प्रधानता है।

सम्यग्दर्शनका उत्कृष्टपना सिद्ध होने पर कर्णधारपना (खेवटियापना) सिद्ध होता है तो यह उत्कृष्टता किस प्रकार सिद्ध है वह कहते हैं—

विद्यावृत्तस्य संभूतिस्थितिवृद्धिफलोदयाः।
न सन्त्यसति सम्यक्त्वे बीजाभावे तरोरिव॥३२॥

'सम्यक्त्वेऽसति' अविद्यमाने। 'न सन्ति'। के ते? संभूतिस्थितिवृद्धिफलोदयाः। कस्य? विद्यावृत्तस्य। अयमर्थः—विद्याया मतिज्ञानादिरूपायाः वृत्तस्य च सामायिकादिचारित्रस्य या संभूतिः प्रादुर्भावः, स्थितिर्यथावत्पदार्थपरिच्छेदकत्वेन कर्मनिर्जरादि-हेतुत्वेन चावस्थानं, वृद्धिरुत्पन्नस्य परतर उत्कर्षः फलोदयो देवादिपूजायाः स्वर्गापवर्गादेश्च फलस्योत्पत्तिः। कस्याभावे कस्येव ते न स्युरित्याह—बीजाभावे तरोरिव बीजस्य मूलकारणस्याभावे यथा तरोस्ते न सन्ति तथा सम्यक्त्वस्यापि मूलकारण-भूतस्याभावे विद्यावृत्तस्यापि ते न सन्तीति॥३२॥

श्लोक - ३२
मोक्षमार्गमें सम्यक्त्वके उत्कृष्टपनेकी सिद्धि

अन्वयार्थ—[बीजाभावे] बीजके अभावमें [तरोः इव] वृक्षकी तरह [सम्यक्त्वे] सम्यग्दर्शन [असति] नहीं होनेपर [विद्यावृत्तस्य] ज्ञान और चारित्रकी [संभूतिस्थिति-वृद्धिफलोदयाः] उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फलोत्पत्ति [न संति] नहीं होती है॥३२॥

टीकार्थ—विद्याका अर्थ मति आदि ज्ञान है तथा वृत्तका अर्थ सामायिक आदि चारित्र है। संभूतिका अर्थ प्रादुर्भाव—प्रकट होना है, स्थितिका अर्थ पदार्थका जैसा स्वरूप है वैसा जानना तथा कर्मनिर्जराका हेतु होकर रहना है, वृद्धिका अर्थ उत्पन्न होकर आगे-आगे बढ़ते जाना है और फलोदयका अर्थ देवादिकी पूजासे स्वर्ग तथा मोक्षादिकी प्राप्ति होना है। जिस प्रकार मूलकारण रूप बीजके अभावमें वृक्षकी उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फलकी प्राप्ति नहीं होती उसी प्रकार मूलकारणभूत सम्यग्दर्शनके अभावमें ज्ञान और चारित्रकी न उत्पत्ति होती है, न स्थिति होती है, न वृद्धि होती है और न फलकी प्राप्ति होती है।

भावार्थ :—जैसे मूलकारण बीजके बिना वृक्षकी उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फलोत्पत्ति नहीं होती, वैसे मोक्षमार्गमें मूलकारण सम्यग्दर्शन बिना सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी उत्पत्ति, स्थिति (अर्थात् पदार्थका यथार्थ ज्ञान और कर्म निर्जरा आदिका कारणपना) वृद्धि और फलोत्पत्ति नहीं हो सकती है। सम्यग्दर्शनसे ही ज्ञान और चारित्र सम्यक्पनेको प्राप्त होते हैं, इन तीनोंमें सम्यग्दर्शन ही उत्कृष्ट है, सबसे उत्तम है।

विशेष

मोक्षमार्गमें सम्यग्दर्शनकी प्रधानता संबंधी श्री अमृतचंद्राचार्यने 'श्री पुरुषार्थसिद्धिउपायमें कहा है कि—

''ये तीनो (दर्शन–ज्ञान–चारित्र)में प्रथम ही समस्त प्रकारके प्रयत्नसे सम्यग्दर्शनका अच्छी तरहसे आश्रय करना चाहिए (अंगीकार करना चाहिए), क्योंकि सम्यग्दर्शन होनेपर ही ज्ञान सम्यग्ज्ञान और चारित्र सम्यग्चारित्र होता है।''

''सम्यक्त्व बिना ग्यारह अंग तक पढ़े–तो भी वह अज्ञान नाम पाता है। और महाव्रतादिका साधन करके, अंतिम ग्रैवेयक तकके बंधयोग्य विशुद्ध परिणाम करे तो भी असंयम नाम पाता है। लेकिन सम्यक्त्व सहित जो कुछ भी जानपना हो वह सब सम्यग्ज्ञान नाम पाता है और जो थोड़ा भी त्यागरूप प्रवर्ते तो सम्यक्चारित्र नाम पाता है। जैसे अंकसहित शून्य हो तो प्रमाण करे (संख्याकी गिनतीमें आवे) अंक बिना शून्य शून्य ही रहता है; वैसे ही सम्यक्त्व बिना ज्ञान और चारित्र व्यर्थ ही है। इसलिए पहले सम्यक्त्व अंगीकार करके, फिर दूसरा साधन करना चाहिए।''

श्री गुणभद्राचार्यने 'आत्मानुशासन'में कहा है कि—

''(सम्यक्त्वबिना) शम (कषायकी मंदता) बोध (ज्ञान), वृत्त (तेरह प्रकारका दुर्धर चारित्र) और तप (घोर तप)—ये पुरुषको पत्थरकी तरह भाररूप है, परंतु जब यह ही (शमादि) सम्यक्त्वसहित हो तो महामणि (चिन्तामणी)की तरह पूज्यताको प्राप्त होते हैं।''

''सम्यक्त्व सहित अल्प शमभाव, अल्प ज्ञान, अल्प चारित्र और अल्प तपभावसे जीव कल्पवासी इन्द्र आदिमें जन्म लेता है। और जन्म–मरण रहित परमात्मपदको प्राप्त करता है। और सम्यक्त्व बिना बहुत शमभाव, ग्यारह अंग तकका बहुत ज्ञान, बहुत उज्ज्वल (बाह्य)चारित्र और घोर तपक्रिया–(जो कषायकी मंदता हो तो) भी भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी, तथा अल्प ऋद्धिधारी कल्पवासी देवमें जन्म लेकर फिरसे चारगतिरूप संसारमें परिभ्रमण करता है। इसलिए सम्यक्त्व सहित ही शम, ज्ञान, चारित्र और तप जीवको आत्मकल्याण रूप है।''

''दंसण मूलो धम्मो''–सम्यग्दर्शन यह धर्मका मूल है। (दर्शन पाहुड गाथा–२) और **''चारित्तं खलु धम्मो''**–सम्यक्चारित्र ही वास्तवमें धर्म है। (प्रवचनसार गाथा–७) सम्यग्दर्शनरूपी मूल बिना सम्यक्चारित्ररूपी वृक्ष फल–फूल सकता ही नही, क्योंकि ''मूलं

यतश्च सम्यग्दर्शनसम्पन्नो गृहस्थोऽपि तदसम्पन्नान्मुनेरुत्कृष्टतरस्ततोऽपि सम्यग्दर्शनमेवोत्कृष्टमित्याह—

नास्ति कुतः शाखा''–मूल ही जब नहीं हो तो डालीयाँ पत्ते वगैरह कहाँसे होंगे? कभी नहीं होंगे।

''जो दर्शनसे भ्रष्ट है वह भ्रष्ट है, दर्शनसे भ्रष्ट हुए जीवको निर्वाणकी प्राप्ति होती ही नहीं। जो चारित्रसे भ्रष्ट है वह सिद्धिको प्राप्त करता है, परंतु जो दर्शनसे भ्रष्ट है वह कभी भी सिद्धिको प्राप्त नहीं हो सकता।''

जब वृक्षके मूलका नाश करनेमें आता है तो वृक्षका तना, डालियाँ, पत्ते–पत्तियां आदि थोड़े समय बाद सूख जाते हैं और नष्ट हो जाते हैं, इसी प्रकार सम्यग्दर्शनके अभावमें संयम पालने पर भी वह निष्फल जाता है। लेकिन मूलको सुरक्षित रखकर तना, डालियाँको अगर काट दिया जाए तो भी फिर वृक्ष वापिस वृद्धि पाकर पल्लवित होता है, उसी प्रकार सम्यग्दर्शनरूपी मूल सुरक्षित हो तो चारित्रसे भ्रष्ट हुआ पुरुष फिरसे चारित्र ग्रहण करके सिद्धि प्राप्त करता है।

सम्यग्दर्शन उत्कृष्ट और कर्णधार होनेसे इसे प्रथम धारण करना चाहिए। यह चौथे गुणस्थानमें प्राप्त होता है। और श्रावकका चारित्र पाँचवें गुणस्थानमें धारण कर सकते हैं, इसमें पाँचवें गुणस्थानके योग्य चारित्र-क्रिया पहले और सम्यग्दर्शन भविष्यमें प्राप्त होगा ऐसी समझ और मान्यता जैनतत्त्वसे विरुद्ध है।

''.....कोई जीव ऐसा माने कि—जाननेमें क्या है, कुछ करूँगा तो फल प्राप्त होगा। ऐसा विचार कर वे व्रत–तपादि क्रियामें ही उद्यमी रहें और तत्त्वज्ञानका उपाय नहीं करते हैं। अब तत्त्वज्ञान बिना महाव्रतादिका आचरण भी मिथ्याचारित्र नाम ही पाता है और तत्त्वज्ञान होने पर कोई व्रतादिक नहीं हो तो भी वह असंयत सम्यग्दृष्टि नाम पाता है, इसलिए पहले तत्त्वज्ञानका उपाय करना, फिर कषाय घटानेके हेतु बाह्य साधन करना।''

श्री योगीन्द्रदेव कृत श्रावकाचारमें कहा है कि—

''दंसणभूमिह बाहिरा जिय वयरुक्ख ण होंति।''

अर्थ :—हे जीव! सम्यग्दर्शनकी भूमि बिना व्रतरूप वृक्ष नहीं होता, इसलिए सम्यग्दर्शन प्रथम प्राप्त करना चाहिए। ३२.

क्योंकि सम्यग्दर्शनयुक्त गृहस्थ भी (सम्यग्दर्शनसे) असंपन्न मुनिसे उत्कृष्ट है, इस कारणसे भी सम्यग्दर्शन ही उत्कृष्ट है ऐसा कहते हैं।

गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान्।
अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुनेः॥३३॥

'निर्मोहो' दर्शनप्रतिबन्धकमोहनीयकर्मरहितः सद्दर्शनपरिणत इत्यर्थः इत्थंभूतो गृहस्थ मोक्षमार्गस्थो भवति। 'अनगारो' यतिः। पुनः 'नैव' मोक्षमार्गस्थो भवति। किंविशिष्टः? 'मोहवान्' दर्शनमोहोपेतः। मिथ्यात्वपरिणत इत्यर्थः। यत एवं ततो गृही गृहस्थो। यो निर्मोहः स 'श्रेयान्' उत्कृष्टः। कस्मात्? मुनेः। कथंभूतान्? 'मोहिनो' दर्शनमोह-युक्तात् ॥३३॥

श्लोक - ३३

सम्यग्दर्शनकी उत्कृष्टताका उदाहरण सहित दूसरा कारण

अन्वयार्थ—[निर्मोहो] सम्यग्दर्शनको रोकनेवाले मोहनीय कर्मसे रहित [गृहस्थः] गृहस्थ [मोक्षमार्गस्थः] मोक्षमार्गमें स्थित है, [मोहवान्] दर्शनमोहनीय कर्म सहित [अनगारः] मुनि [नैव] मोक्षमार्गमें स्थित नहीं है, इसलिए [मोहिनः] मोही [मुनेः] मुनिकी अपेक्षा [निर्मोहः] मोह रहित [गृही] गृहस्थ [श्रेयान्] उत्तम है॥२३॥

टीकार्थ—जो गृहस्थ सम्यग्दर्शनको घातनेवाले मोहनीय कर्मसे रहित होनेके कारण सम्यग्दर्शनरूप परिणत है वह तो मोक्षमार्गमें स्थित है, परन्तु जो दर्शनमोहसे सहित होनेके कारण मिथ्यात्वरूप परिणत हो रहा है ऐसा मुनि भी मोक्षमार्गमें स्थित नहीं है। इस तरह मोहसे रहित गृहस्थ भी मोहसे युक्त मुनिकी अपेक्षा श्रेष्ठ है।

भावार्थ :—दर्शनमोह बिना–अर्थात् सम्यक्त्व सहित गृहस्थ तो मोक्षमार्गमें है, मोक्ष तरफ जा रहा है, लेकिन मोहवान (मिथ्यादृष्टि) अणगार (मुनि) मोक्षमार्गी नहीं, वह तो संसारमार्गमें जा रहा है।

जिसे मोह अर्थात् मिथ्यात्व नहीं ऐसे असंयत सम्यग्दृष्टि मोक्षमार्गी हैं क्योंकि सात–आठ देव–मनुष्यके भव ग्रहण कर नियमसे वे मोक्ष प्राप्त करेंगे। लेकिन मुनिव्रतधारी मिथ्यादृष्टि, साधु हुआ है तो भी मरकर भवनत्रयादिकमें जन्म लेकर संसारमें ही परिभ्रमण करता है।

श्रावक गृहस्थ पंचम गुणस्थानवर्ती है और सम्यग्दर्शन रहित मुनि मिथ्यादृष्टि होनेसे प्रथम गुणस्थानवर्ती है। मिथ्यादृष्टि मुनिसे सम्यग्दृष्टि गृहस्थ श्रेष्ठ है—इस कारणसे भी

यत एवं ततः—

सम्यग्दर्शन सर्वोत्कृष्ट है ।

विशेष

श्री कुंदकुंदाचार्यदेव दर्शनपाहुड़में कहते हैं कि—

जो सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट है वह भ्रष्ट है, क्योंकि वह संसारमें परिभ्रमण करता ही रहता है, अनंतकालमें भी निर्वाणको नहीं प्राप्त करता है; परंतु जो सम्यग्दर्शन युक्त है लेकिन चारित्रसे भ्रष्ट है वह देव मनुष्यके थोड़े भव बाद नियमसे निर्वाण प्राप्त करेगा ।

''असंयत–देशसंयत सम्यग्दृष्टिको कषायोंकी प्रवृत्ति तो है, परंतु श्रद्धानमें उसे किसी प्रकारका कषाय करनेका अभिप्राय नहीं है और द्रव्यलिंगीको शुभ कषाय करनेका अभिप्राय होता है, श्रद्धानमें उसे भला मानता है, इसलिए श्रद्धान अपेक्षासे असंयत सम्यग्दृष्टिसे भी उसे (द्रव्यलिंगीको) अधिक कषाय है ।

''द्रव्यलिंगीके योगोंकी प्रवृत्ति शुभरूप बहुत होती है और अघाति कर्मोंमें पुण्य–पाप बंधका भेद शुभ–अशुभ योगके अनुसार है, जिससे वह अंतिम ग्रैवेयक तक पहुँचता है लेकिन वह कोई कार्यकारी नहीं है, क्योंकि अघाति कर्म कोई आत्मगुणके घातक नहीं है । उसके उदयसे ऊँचा–नीचा पद प्राप्त हो तो उससे क्या हुआ? यह बाह्य संयोग तो मात्र संसार दशाका स्वांग है और स्वयं तो आत्मा है, इसलिए आत्मगुणके घातक जो घातिकर्म है उसका हीनपना कार्यकारी है ।

अब घातिकर्मोंका बंध बाह्य प्रवृत्ति अनुसार नहीं पर अंतरंग कषाय अनुसार है, इसलिए ही द्रव्यलिंगीकी अपेक्षा असंयत या देशसंयत सम्यग्दृष्टिको घातिकर्मोंका बंध थोड़ा है । द्रव्यलिंगीको तो सर्व घातिया कर्मोंका बंध बहुत स्थिति–अनुभाग सहित होता है । और असंयत–देशसंयत सम्यग्दृष्टिको मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी आदि कर्मोंका बंध तो है ही नहीं, बाकीकी प्रकृतियोंका बंध होता है लेकिन वह अल्पस्थिति–अनुभाग सहित होता है ।

''द्रव्यलिंगीको गुणश्रेणी निर्जरा कभी भी नहीं होती, सम्यग्दृष्टिको किसी समय होती है तथा देश–सकल संयम होने पर निरंतर होती है, इसलिए वह मोक्षमार्गी है । द्रव्यलिंगी मुनिको शास्त्रमें असंयत–देशसंयत सम्यग्दृष्टिसे हीन कहा है'' ।३३।

अतः—

न सम्यक्त्वसमं किञ्चित्त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम्॥३४॥

'तनूभृतां' संसारिणां। 'सम्यक्त्वसमं' सम्यक्त्वेन समं तुल्यं। 'श्रेयः' श्रेष्ठमुत्तमोपकारकं। 'किंचित्' [1]अन्यवस्तु नास्ति। यतस्तस्मिन् सति गृहस्थोऽपि यतेरप्युत्कृष्टतां प्रतिपद्यते। कदा तन्नास्ति? 'त्रैकाल्ये' अतीतानागतवर्तमानकालत्रये। तस्मिन् क्व तन्नास्ति? 'त्रिजगत्यपि' आस्तां तावन्नियतक्षेत्रादौ तन्नास्ति अपितु त्रिजगत्यपि त्रिभुवनेऽपि। तथा 'अश्रेयो' अनुपकारकं। मित्यात्वसमं किंचिदन्यन्नास्ति। यतस्तत्सद्भावे यतिरपि व्रतसंयमसम्पन्नो गृहस्थादपि तद्विपरीतादपकृष्टतां व्रजतीति॥३४॥

श्लोक - ३४

सम्यक्त्वमित्र और मिथ्यात्व शत्रु है यह दिखलाते हैं

अन्वयार्थ—[त्रैकाल्ये] तीन कालमें और [त्रिजगति अपि] तीन लोकमें भी [तनूभृताम्] शरीर धारियोंको [सम्यक्त्वसमम्] सम्यग्दर्शनके समान [किंचित्] कुछ भी [श्रेयः न] कल्याणकारी नहीं है [च] और [मिथ्यात्वसमम्] मिथ्यादर्शनके समान [अन्यत्] दूसरा कोई [अश्रेयः न] अकल्याणकारी नहीं है॥३४॥

टीकार्थ—भूत, भविष्यत् और वर्तमानके भेदसे तीनों कालोंमें तथा अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोकके भेदसे तीनों लोकोंमें सम्यग्दर्शनके समान प्राणियोंका कल्याण करनेवाली दूसरी वस्तु नहीं है क्योंकि उसके रहते हुए गृहस्थ मुनिसे भी अधिक उत्कृष्टताको प्राप्त होता है तथा मिथ्यात्वके समान दूसरी वस्तु अकल्याण करनेवाली नहीं है क्योंकि उसके सद्भावमें व्रत और संयमसे सम्पन्न मुनि भी गृहस्थकी अपेक्षा अपकृष्टता हीनताको प्राप्त होता है।

भावार्थ :—तीन काल और तीन लोकमें सम्यक्त्व समान कोई पदार्थ संसारी जीवोंको कल्याणकारी नहीं है; अर्थात् इन्द्र, अहमिन्द्र, भुवनेन्द्र, चक्री, नारायण, बलभद्र और तीर्थंकरादिक समस्त चेतन पदार्थ और मणि–मंत्र, औषधादिक समस्त अचेतन पदार्थ सम्यक्त्व समान उपकारक नहीं है, क्योंकि उसके सद्भावमें अव्रती गृहस्थ भी द्रव्यलिंगी मुनिकी अपेक्षा उत्तम गिननेमें आता है। अव्रती सम्यग्दृष्टि देव–मनुष्यके थोड़े भव करके

---

१. अन्यद्वस्तु घ०।

इतोऽपि सद्दर्शनमेव ज्ञानचारित्राभ्यामुत्कृष्टमित्याह—

(आर्यागीतिछन्दः)

सम्यग्दर्शनशुद्धा नारकतिर्यङ्नपुंसकस्त्रीत्वानि।
दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरिद्रतां च व्रजन्ति नाप्यव्रतिकाः ॥३५॥

अर्थात् स्वर्गादिकके सुख भोगकर नियमसे मोक्ष पाते हैं; और मिथ्यात्व समान कोई पदार्थ जीवको अकल्याणकारी नहीं है, क्योंकि उसके सद्भावमें महाव्रतधारी द्रव्यलिंगी मुनि भी अव्रती सम्यग्दृष्टि गृहस्थसे हीन होता है।

दौलतरामजीकृत 'छहढ़ाला'में कहा है कि—

तीनलोक तिहुंकालमांहि नहिं दर्शन सौ सुखकारी ।
सकल धरमको मूल यही इस बिन करनी दुःखकारी ।।

(छहढाला ३/१६)

तीनलोक और तीन कालमें सम्यक्त्व समान अन्य कोई सुखकारी नहीं है, यह सर्व धर्मोंका मूल है, इसके बिना सर्व ज्ञान, व्रत, क्रिया–सर्व वृथा है और दुःखका कारण है।

इसलिए मोक्षमार्गमें सम्यक्त्वकी ही उत्तमता है।

इसलिए भी सम्यग्दर्शन ही ज्ञान एवं चारित्रसे उत्कृष्ट है ऐसा कहते हैं—

श्लोक - ३५
सम्यग्दर्शनका महत्त्व

अन्वयार्थ—[सम्यग्दर्शनशुद्धाः] निर्मलसम्यग्दर्शनको धारण करनेवाले जीव [अव्रतिकाः अपि] व्रत रहित होते हुए भी [नारकतिर्यङ्नपुंसकस्त्रीत्वानि] नारक पर्याय, तिर्यंच पर्याय, नपुंसक पर्याय, स्त्री पर्याय [दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरिद्रताम् च] अकुलीनता, विकलांगता, अल्पायुपना और दरिद्रताको [न व्रजन्ति] प्राप्त नहीं होते हैं। यदि किसीने सम्यग्दर्शन प्राप्त होनेके पहिले नरकायु, तिर्यंच आयुका तथा मनुष्यादि बंध कर लिया होगा और नंतर सम्यग्दर्शन उत्पन्न होनेपर वह सम्यग्दर्शन सहित मरेगा तो पहिले नरकमें नपुंसक नारकी और उत्तम भोगभूमिमें वह जीव पुरुषवेदमें मनुष्य और तिर्यंच हो सकता है॥३५॥

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ - ३६४२५०

'सम्यग्दर्शनशुद्धा' सम्यग्दर्शनं शुद्धं निर्मलं येषां ते। सम्यग्दर्शनलाभात्पूर्वं बद्धायुष्कान् विहाय अन्ये 'न व्रजन्ति' न प्राप्नुवन्ति। कानि। 'नारकतिर्यङ्नपुंसक-स्त्रीत्वानि'। त्वशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते नारकत्वं तिर्यक्त्वं नपुंसकत्वं स्त्रीत्वमिति। न केवलमेतान्येव न व्रजन्ति किन्तु 'दुष्कुलविकृतात्पायुर्दरिद्रतां च'। अत्रापि ताशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते ये निर्मलसम्यक्त्वाः ते न भवान्तरे दुष्कुलतां दुष्कुले उत्पत्तिं विकृततां काणकुंठादिरूपविकारं अल्पायुष्कतामन्तर्मुहूर्ताद्यायुष्कोत्पत्तिं, दरिद्रतां दारिद्र्योपेतकुलोत्पत्तिं। कथंभूता अपि एतत्सर्वं न व्रजन्ति। 'अव्रतिका अपि' अणुव्रतरहिता अपि।

टीकार्थ—'सम्यग्दर्शनं शुद्धं निर्मलं येषां ते सम्यग्दर्शनशुद्धाः'[१] इस समासके अनुसार जिनका सम्यग्दर्शन शुद्ध-निर्मल-निरतिचार है ऐसे जीव बद्धायुष्कोंको छोड़कर नारकत्व, तिर्यक्त्व, नपुंसकत्व और स्त्रीत्वको प्राप्त नहीं होते। इतना ही नहीं नीचकुलता, विकृतता-विकलांगता, अल्पायुष्कता और दरिद्रताको भी प्राप्त नहीं होते। व्रतरहित सम्यग्दृष्टि जीवोंकी भी जब इतनी महिमा है तब व्रतसहित जीवोंकी महिमाका तो कहना ही क्या है?

भावार्थ :—सम्यग्दृष्टि मरनेके बाद नारकी, तिर्यंच, नपुंसक, स्त्री, नीच कुलवान, विकलांगी, अल्पायु और दरिद्र—ये आठ रूपमें जाता नहीं है; परंतु सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिके पहले जो कोई आगेकी गतिका बंध हो जाए (या आयु बंधके पूर्व ही सम्यक्त्व छूट जाए) तो वह इन पर्यायोंमें भी उत्पन्न हो सकता है। किन्तु सम्यक्त्वके प्रभावसे वहाँ पर भी इतनी विशेषता हो जाती है कि सातवें नरकका आयु बंध किया हो तो वह प्रथम नरकका नारकी हो जाता है, एकेन्द्रिय निगोदका आयुबंध किया हो तो वह उत्तम भोगभूमिमें पंचेन्द्रिय तिर्यंच होता है। लब्धपर्याप्तक मनुष्यका आयुबंध किया हो तो वह उत्तम भोगभूमिमें मनुष्य होगा, व्यंतरादिक नीच देवोंका आयुबंध किया हो तो वह कल्पवासी महर्द्धिक देव होगा, बाकी अन्य स्थानोंमें जन्म नहीं लेता है।

छःढाला ३/१६ में कहा है कि

''प्रथम नरक विन षट् भू ज्योतिष, वान भवन षंढ नारी,
थावर विकलत्रय पशुमें नहीं, ऊपजत सम्यक्धारी.''

---

१. इस विग्रहमें 'सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ' इस नियमानुसार विशेषणवाचक शुद्धशब्दका पूर्वप्रयोग होनेसे 'शुद्धसम्यग्दर्शनाः' ऐसा रूप होगा। अतः 'सम्यग्दर्शनेन शुद्धासम्यग्दर्शनशुद्धाः' इस प्रकार तृतीया तत्पुरुष समास करना उचित प्रतीत होता है।

चत्तारि वि खेत्ताइं आउगबंधेग होदि सम्मत्तं।
अणुवदमहव्वदाइं ण लहइ देवाउगं मोत्तुं।। —कर्मकाण्ड

Shri Digambar Jain Swadhyay Mandir Trust, Songadh - 364250

सम्यग्दृष्टि जीव प्रथम नरक सिवा (नरकायुके बंधके बाद सम्यक्त्व प्राप्त करे तो) अन्य छः नरकोंमें, ज्योतिषी, व्यंतर और भवनवासी देवोंमें, नपुंसककी पर्यायमें, स्त्रीपर्यायमें स्थावर जीवोंमें, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय और चार इन्द्रिय जीवोंमें तथा पशुकी पर्यायमें उत्पन्न नहीं होता। अव्रती सम्यग्दृष्टिको इकतालिस कर्म प्रकृतियोंका नवीन बंध नहीं होता (देखो, गोम्मटसार–कर्मकाण्ड गाथा—९५–९६)

विशेष

इस गाथामें सम्यग्दर्शनके साथ 'शुद्ध' विशेषण है और इसका अर्थ टीकाकार ने 'निर्मल' किया है इसलिए यह श्रद्धागुणकी शुद्ध पर्याय है।

यहाँ शुद्ध निश्चयका विषय शुद्ध पर्याय है। शुद्ध सम्यग्दर्शन कहो, निर्मल कहो, पवित्र कहो कि निश्चय सम्यग्दर्शन कहो—यह सब एक ही है।

इससे सिद्ध होता है कि चौथे गुणस्थानमें अव्रती होते हुए निश्चय सम्यग्दर्शन होता है। ऐसे निश्चय सम्यग्दर्शनके साथ सच्चे देव–शास्त्र–गुरुकी व्यवहार श्रद्धा होती है, परंतु यह श्रद्धागुणकी पर्याय नहीं; लेकिन चारित्रगुणकी शुभउपयोगरूप पर्याय है। (देखो, श्री प्रवचनसार–१५७ और उसकी टीका)

व्यवहार सम्यग्दर्शन वह शुभभाव होनेसे बंधका कारण है और निश्चय सम्यग्दर्शन शुद्ध पर्याय होनेसे संवर–निर्जराका कारण है, अतः यहाँ उपरोक्त इकतालिस प्रकृतियोंका बंध नहीं होता है उनका संवर होता है।

पुनश्च अव्रती सम्यग्दृष्टि नरकादिको प्राप्त नहीं होता, इसका कारण यह है कि मिथ्यादृष्टिको जैसी अनन्तानुबंधी तीव्र कषाय होती है, वैसी तीव्र कषाय इसे नहीं होती। इसे आर्त्त और रौद्र परिणाम होते हैं लेकिन वे मिथ्यादृष्टिकी तरह इसे तिर्यंच तथा नरकगतिका कारण नहीं होते, कारण यह है कि 'निज शुद्धात्मा ही ग्रहण करने योग्य है'—ऐसी भावना उसे निरंतर वर्तती है।

बृहद् द्रव्यसंग्रह गाथा ४८की संस्कृत टीकामें कहा है कि—

''.....आर्त्तध्यान तारतम्यतासे मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे प्रमत्त गुणस्थान तकके जीवोंको होता है। यह आर्त्तध्यान, जो कि मिथ्यादृष्टि जीवोंको तिर्यंच गतिके बंधका कारण होता है। तथापि जिन जीवोंको सम्यक्त्वकी प्राप्तिके पहले तिर्यंच आयुका बंध हो जाता है उनके सिवा अन्य सम्यग्दृष्टिको यह आर्त्तध्यान तिर्यंच गतिका कारण नहीं होता।

यद्येतत्सर्वं न व्रजन्ति तर्हि भवान्तरे कीदृशास्ते भवन्तीत्याह—

ओजस्तेजोविद्यावीर्य्यशोवृद्धिविजयविभवसनाथाः।
माहाकुला महार्था मानवतिलका भवन्ति दर्शनपूताः॥३६॥

'दर्शनपूताः' दर्शनेन पूताः पवित्रिताः। दर्शनं वा पूतं पवित्रं येषां ते। 'भवन्ति'।

शंका :—सम्यग्दृष्टिको आर्त्तध्यान तिर्यंचगतिका कारण क्यों नहीं होता है?

उत्तर :—'निज शुद्धात्मा ही ग्रहण करने योग्य है'—ऐसी विशिष्ट भावनाके बलसे सम्यग्दृष्टि जीवोंको तिर्यंच गतिके कारणभूत संक्लेश परिणामका अभाव होता है।

रौद्रध्यान मिथ्यादृष्टिसे पाँचवें गुणस्थान तकके जीवोंको होता है। वह मिथ्यादृष्टि जीवोंको नरक गतिका कारण है, तो भी जिन जीवोंने सम्यक्त्वके पहले नरकायुका बंध कर लिया हो उनके सिवा अन्य सम्यग्दृष्टिओंको रौद्र ध्यान नरक गतिका कारण नहीं होता है।

प्रश्न :—सम्यग्दृष्टिको रौद्रध्यान नरक गतिका कारण क्यों नहीं होता है?

उत्तर :—क्योंकि सम्यग्दृष्टिओंको 'निज शुद्धात्म तत्त्व ही उपादेय है' ऐसे विशिष्ट भेदज्ञानके बलसे नरकगतिके कारणभूत तीव्र संकलेश परिणामोंका अभाव होता है।३५।

जो (सम्यग्दृष्टि जीव) इन सबको (नारकी आदि अवस्थाको) प्राप्त नहीं करते तो अन्य भवमें वे कैसे होते हैं? वह कहते है—

श्लोक - ३६
सम्यक्त्वी दूसरे भवमें कैसे होते हैं

अन्वयार्थ—[दर्शनपूताः] सम्यग्दर्शनसे पवित्र जीव [ओजस्तेजोविद्यावीर्य्यशोवृद्धि-विजयविभवसनाथाः] उत्साह, कांति, विद्या, शक्ति, कीर्ति, अभ्युदय, विजय और वैभव इनसे युक्त [माहाकुलाः] उच्च कुलमें उत्पन्न होनेवाले और [महार्थाः] उत्तम पुरुषार्थसे युक्त ऐसे [मानवतिलकाः] मनुष्य श्रेष्ठ [भवन्ति] होते हैं॥३६॥

टीकार्थ—'दर्शनेन पूताः पवित्रिताः अथवा दर्शनं पूतं येषां ते'[१] इस समासके

---

१. दर्शनं पूतं येषां ते, इस विग्रहमें विशेषण वाचक पूत शब्दका पूर्व प्रयोग होनेसे 'पूतदर्शनाः' ऐसा पाठ सिद्ध होगा। अतः प्रथम विग्रह ही ठीक है।

'मानवतिलकाः' मानवानां मनुष्याणां तिलका मण्डनीभूता मनुष्यप्रधाना इत्यर्थः। पुनरपि कथंभूता इत्याह 'ओज' इत्यादि ओज उत्साहः तेजः प्रतापः कान्तिर्वा, विद्या सहजा अहार्या च बुद्धिः, वीर्यं विशिष्टं सामर्थ्यं, यशो विशिष्टा ख्यातिः वृद्धिः कलत्रपुत्रपौत्रादिसम्पत्तिः, विजयः पराभिभवेनात्मनो गुणोत्कर्षः, विभवो धनधान्यद्रव्यादिसम्पत्तिः, एतैः सनाथा सहिताः। तथा 'माहाकुला' महच्च तत् कुलं च माहाकुलं तत्र भवाः। 'महार्था' महान्तोऽर्था धर्मार्थकाममोक्षलक्षणा येषाम्॥३६॥

अनुसार जो सम्यग्दर्शनसे पवित्र हैं अथवा जिनका सम्यग्दर्शन पवित्र है ऐसे जीव दर्शन—पूत कहलाते हैं। ओजका अर्थ उत्साह है। तेजका अर्थ प्रताप अथवा कान्ति है। स्वाभाविक अथवा जिसका हरण न किया जा सके ऐसी बुद्धिको विद्या कहते हैं। वीर्य विशिष्ट सामर्थ्यको कहते हैं; विशिष्ट प्रकारकी ख्यातिको यश कहते हैं। स्त्री, पुत्र और पौत्र आदिकी प्राप्तिको वृद्धि कहते हैं। दूसरेके तिरस्कारसे अपने गुणोंका उत्कर्ष करना विजय है। धनधान्यादिक पदार्थोंकी प्राप्ति होना विभव है। उत्तम कुलमें उत्पन्न होनेवाले महाकुल और धर्म–अर्थ–काम–मोक्षरूप पुरुषार्थसे सहित महार्थ कहलाते हैं। तथा श्रेष्ठ मनुष्योंमें जो उत्पन्न होते हैं वे मानवतिलक कहलाते हैं। पवित्र सम्यग्दृष्टि जीव ओज आदिसे सहित, उच्च कुलोत्पन्न, धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके साधक तथा मनुष्योंमें आभूषणस्वरूप होते हैं।

भावार्थ :—शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव (मरकर) उत्साह, प्रताप, कांति, बल, विद्या,कीर्ति, उन्नति, विजय और संपत्ति सहित उच्च कुलवान और धर्म–अर्थादि पुरुषार्थोंके साधक मनुष्योंमें शिरोमणि–राजा होता है।

विशेष

सम्यग्दृष्टिको शुद्धताके साथ सहचररूपसे शुभभाव भी होता है। उस शुभभावको यहाँ व्यवहारधर्म समझना। इसके फल स्वरूप उसे लक्ष्मी आदिका संयोग होता है, परंतु उसे पुण्यभावमें या उसके फलरूप संयोगी पदार्थका स्वामित्व नहीं होता, श्रद्धामें अभिप्रायमें इनका स्वीकार नहीं है।

चारित्रकी कमजोरीके कारण उसका संयोगी पदार्थोंकी तरफ लक्ष जाता है, परंतु वह संयोगी भावके साथ भी एकता नहीं करता है, अतः मोक्षका पुरुषार्थ चालू रखकर, इन सबका अभाव करके मोक्ष प्राप्त करता है। इसका नाम धर्म–अर्थ–काम और मोक्षका पुरुषार्थ है ऐसा समझना! ऐसी दृष्टिसे ही सम्यग्दृष्टि जीवोंको 'माहार्थाः' अर्थात् धर्म–अर्थ–काम और मोक्षके साधक कहे हैं।

तथा इन्द्रपदमपि सम्यग्दर्शनशुद्धा एव प्राप्नुवन्तीत्याह—

अष्टगुणपुष्टितुष्टा दृष्टि विशिष्टाः प्रकृष्टशोभाजुष्टाः।
अमराप्सरसां परिषदि चिरं रमन्ते जिनेन्द्रभक्ताः स्वर्गे॥३७॥

जैसे कृषक अनाजके लिए खेती करता है, परंतु उसे अनाजके साथ अनायास ही घासकी प्राप्ति भी होती है, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टिको मोक्षके लिए पुरुषार्थके बीच सहजपने–अनायास ही चक्रवर्ती पद आदि पुण्यकी सामग्री मिले बिना नहीं रहती। (देखो, परमात्मप्रकाश गाथा–६१, संस्कृत टीका, अध्याय–२ और बृहद् द्रव्यसंग्रह (हिन्दी) गाथा–३८, पृष्ठ १५१ (गुजराती) पृष्ठ–१८१)

इस प्रकारकी मोक्षमार्गकी स्थिति चौथे गुणस्थानसे छट्ठे गुणस्थान तक होती है, यह दर्शानेके लिए टीकाकारने सम्यग्दृष्टि जीवोंको 'माहार्थाः' कहा है।

इस प्रकार इस गाथासे ऐसा फलित होता है कि—सम्यग्दृष्टि मोक्षमार्गी हैं और मोक्षमार्गकी शुरूआत चौथे गुणस्थानसे होती है। इसके समर्थनमें पं. दौलतरामजीने भी छहढालामें ३/५में कहा है कि—

मध्यम अंतर-आतम हैं जे, देशव्रती अनगारी,
जघन कहे अविरत समदृष्टि, तीनों शिवमगचारी। ३/५

भावार्थ :—देशव्रती अर्थात् पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक और अनगारी अर्थात् छट्ठे गुणस्थानवर्ती मुनि—दोनों मध्यम अंतरात्मा हैं और चौथे गुणस्थानवर्ती अविरत सम्यग्दृष्टि जघन्य अंतरात्मा हैं। ये तीनो अंतरात्मा मोक्षमार्गी हैं। जो मोक्षमार्ग चौथे गुणस्थानसे शुरू नहीं होता हो तो अविरत सम्यग्दृष्टिको पंडितजी मोक्षमार्गी क्यों कहते?

तथा इन्द्रपदको भी सम्यग्दर्शनसे ही शुद्ध (हुए) जीव ही प्राप्त करते हैं ऐसा कहते हैं—

श्लोक - ३७
सम्यग्दृष्टि ही इन्द्रपद प्राप्त करते हैं।

अन्वयार्थ—[दृष्टिविशिष्टाः] सम्यग्दर्शन सहित [जिनेन्द्रभक्ताः] जिनेन्द्र भगवानकी भक्ति करनेवाले जीव [अष्टगुणपुष्टितुष्टाः] अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व और कामरूपित्व इन आठ ऋद्धियोंकी प्राप्तिसे संतुष्ट और [प्रकृष्टशोभाजुष्टाः] उत्तम

ये 'दृष्टिविशिष्टाः' सम्यग्दर्शनोपेता। 'जिनेन्द्रभक्ताः' प्राणिनस्ते 'स्वर्गे'। 'अमराप्सरसां परिषदि'—देवदेवीनां सभायां। 'चिरं' बहुतरं कालं। 'रमन्ते' क्रीडन्ति। कथंभूताः? अष्टगुणपुष्टितुष्टाः' अष्टगुणा अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्यं, ईशित्वं, वशित्वं, कामरूपित्वमितल्लक्षणास्ते च पुष्टिः स्वशरीरावयवानां सर्वदोषचितत्वं तेषां वा पुष्टिः परिपूर्णत्वं तया तुष्टाः सर्वदा प्रमुदिताः। तथा 'प्रकृष्टशोभाजुष्टा' इतरदेवेभ्यः प्रकृष्टा उत्तमा शोभा तया जुष्टा सेविताः इन्द्राः सन्त इत्यर्थः॥३७॥

तथा चक्रवर्तीत्वमपि त एव प्राप्नुवन्तीत्याह—

नवनिधिसप्तद्वयरत्नाधीशाः सर्वभूमिपतयश्चक्रम्।
वर्तयितुं प्रभवन्ति स्पष्टदृशः क्षत्रमौलिशेखरचरणाः॥३८॥

शोभा करके सहित होते हुए [स्वर्गे] वैमानिक स्वर्गोंमें [अमराप्सरसाम्] देव और देवांगनाओंकी [परिषदि] सभामें [चिरम्] बहुत कालतक [रमन्ते] रमण करते हैं॥३७॥

टीकार्थ—जिनेन्द्रदेवके भक्त शुद्धसम्यग्दृष्टि जीव यदि स्वर्ग जाते हैं तो वहाँ इन्द्र बनकर देव-देवाङ्गनाओंकी सभामें चिरकाल तक—सागरों पर्यन्त क्रीड़ा करते रहते हैं। वहाँ वे अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व और कामरूपित्व इन आठ गुणोंसे तथा अपने शरीरसम्बन्धी अवयवोंकी पुष्टिसे अथवा अणिमा, महिमा आदि गुणोंकी पुष्टिसे सन्तुष्ट रहते हैं और दूसरे देवोंमें न पाई जानेवाली असाधारण शोभासे सहित होते हैं।

भावार्थ :—सम्यग्दृष्टि जीव मृत्युके बाद स्वर्गमें इन्द्र भी होता है। वहाँ अणिमादि आठ ऋद्धियोंकी पूर्णतासे आनंदित हो विशेष सुंदर वैक्रियिक शरीर प्राप्त करता है, देव और अप्सराओंकी सभामें बहुत लंबे समय तक रमता है और अन्य देव उनकी सेवा करते हैं। यह गाथा सूचित करती है कि सम्यक्त्वकी भूमिकामें हेयबुद्धिसे किये हुए शुभभावके फलरूप उपरोक्त दर्शाई गयी अणिमादि आठ ऋद्धियोंकी प्राप्ति होती है। सभी सम्यग्दृष्टि जिनेन्द्रके भक्त होते हैं।

शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव ही चक्रवर्तीपदको प्राप्त करता है, ऐसा कहते हैं।

श्लोक - ३८
सम्यग्दृष्टि ही चक्रवर्ती होते हैं।

अन्वयार्थ—[स्पष्टदृशः] निर्मलसम्यग्दर्शनसे सहित जीव [नवनिधिसप्तद्वयरत्नाधीशाः]

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ - ३६४२५०

ये 'स्पष्टदृशो' निर्मलसम्यक्त्वाः। त एव 'चक्रं' चक्ररत्नं। 'वर्तयितुं' आत्माधीनतया तत्साध्यनिखिलकार्येषु प्रवर्तयितुं। 'प्रभवन्ति' ते समर्था भवन्ति। कथंभूताः? सर्वभूमिपतयः सर्वा चासौ भूमिश्च षट्खण्डपृथ्वी तस्याः पतयः चक्रवर्तिनः। पुनरपि कथंभूताः? 'नवनिधिसप्तद्वयरत्नाधीशा' नवनिधयश्च सप्तद्वयरत्नानि सप्तानां द्वयं तेन संख्यातानि रत्नानि चतुर्दश तेषामधीशाः स्वामिनः। क्षत्रमौलिशेखरचरणाः क्षताद्दोषात् त्रायन्ते रक्षन्ति प्राणिनो ये ते क्षत्रा राजानस्तेषां मौलयो[1] मुकुटानि तेषु शेखरा आपीठास्तेषु चरणानि येषां॥३८॥

तथा धर्मचक्रिणोऽपि सद्दर्शनमाहात्म्याद् भवन्तीत्याह—

अमरासुरनरपतिभिर्यमधरपतिभिश्च नूतपादाम्भोजाः।
दृष्ट्या सुनिश्चितार्था वृषचक्रधरा भवन्ति लोकशरण्याः॥३९॥

नवनिधि और चौदह रत्नोंके स्वामी [सर्वभूमिपतयः] संपूर्ण पृथ्वीके अर्थात् छह खंडके स्वामी [क्षत्रमौलिशेखरचरणाः] क्षत्रियोंके मस्तकके मुकुट जिनके चरणों पर झुके हुए हैं ऐसे होते हुये [चक्रम्] चक्रको [वर्तयितुम्] चलानेके लिए [प्रभवंति] समर्थ होते हैं॥३८॥

टीकार्थ—निर्मल सम्यग्दर्शनके धारक जीव ही चक्ररत्नको चलानेमें समर्थ होते हैं अर्थात् अपने अधीन होनेसे उसे उसके द्वारा साध्य समस्त कार्योंमें प्रवर्तानेके लिये समर्थ होते हैं। वे षट्खण्ड वसुधाके स्वामी होते हैं। नौ निधियों और चौदह रत्नोंके अधीश होते हैं तथा राजाओंके मुकुटों सम्बन्धी कलगियोंपर उनके चरण रहते हैं अर्थात् राजा लोग मस्तक झुकाकर उनके चरणोंमें नमस्कार करते हैं।

भावार्थ :—सम्यग्दृष्टि जीव निर्मल सम्यक्त्वके प्रभावसे स्वर्गसे आकर मनुष्य भवमें चक्रवर्ती भी होता है। वह बीस हजार देशोंके समूहरूप पृथ्वीके छः खंडोंका स्वामी होता है और सभी देशोंमें स्वयंकी आज्ञा (चक्र) प्रवर्तन करनेमें समर्थ होता है। वह बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजाओंका अधिपति और नवनिधि तथा चौदह रत्नोंका स्वामी होता है।३८।

सम्यग्दर्शनके माहात्म्यसे जीव धर्मचक्री (तीर्थंकर) भी होता है ऐसा कहते हैं—

श्लोक - ३९
सम्यग्दृष्टि जीव ही तीर्थंकर होते हैं।

अन्वयार्थ—[दृष्ट्या] सम्यग्दर्शनके माहात्म्यसे [अमरासुरनरपतीभिः] देवेन्द्र, असुरेन्द्र

---

१. मौलयो मस्तकानि तेषु शेखराणि मकुटानि तानि चरणेषु येषां घ०।

Shri Digambar Jain Swadhyay Mandir Trust, Songadh - 364250

'दृष्ट्या' सम्यग्दर्शनमाहात्म्येन। 'वृषचक्रधरा भवन्ति' वृषो धर्मः तस्य चक्रं वृषचक्रं तद्धरन्ति ये ते वृषचक्रधरास्तीर्थकराः। किंविशिष्टाः ? 'नूतपादाम्भोजाः' पादावेवाम्भोजे, नूते स्तुते पादाम्भोजे येषां। कैः ? 'अमरासुरनरपतिभिः' अमरपतयः ऊर्ध्वलोकस्वामिनः सौधर्मादयः, असुरपतयोऽधोलोकस्वामिनो धरणेन्द्रादयः, नरपतयः तिर्यग्लोकस्वामिनश्चक्रवर्तिनः। न केवलमेतैरेव नूतपादाम्भोजा, किन्तु 'यमधरपतिभिश्च' यमं व्रतं धरन्ति ये ते यमधरा मुनयस्तेषां पतयो गणधरास्तैश्च। पुनरपि कथंभूतास्ते ? 'सुनिश्चितार्था' शोभनो निश्चितः परिसमाप्ति गतोऽर्थो धर्मादिलक्षणो येषां। तथा 'लोकशरण्याः' अनेकविधदुःखदायिभिः कर्मारातिभिरुपद्रुतानां लोकानां शरणे साधवः॥३९॥

तथा नरपति-चक्रवर्तीसे [च] और [यमधरपतिभिः] गणधरोंसे [नूतपादाम्भोजाः] जिनके चरणकमल पूजे जाते हैं ऐसे; [सुनिश्चितार्थाः] जिनके धर्मादि चारों पुरुषार्थ पूर्ण हो गये हैं तथा [लोकशरण्याः] संसारी जीवोंको शरणरूप [वृषचक्रधराः] धर्मचक्रको धारण करनेवाले तीर्थंकर [भवंति] होते हैं॥३९॥

टीकार्थ—सम्यग्दर्शनके प्रभावसे यह जीव धर्मचक्रको प्रवर्तानेवाले तीर्थंकर होते हैं। ऊर्ध्वलोकके स्वामी सौधर्मेन्द्र आदि अमरपति, अधोलोक के स्वामी धरणेन्द्र आदि असुरपति, तिर्यग्लोकके स्वामी चक्रवर्ती तथा यमधर-मुनियोंके स्वामी गणधरदेव उन तीर्थङ्करोंके चरणकमलोंकी स्तुति किया करते हैं। वे धर्म आदि पदार्थोंका अच्छी तरह निश्चय कर चुके होते हैं और अनेक प्रकारके दुःख देने वाले कर्मरूपी शत्रुओंके द्वारा उपद्रुत-पीड़ित जीवोंको शरण देनेमें निपुण होते हैं।

भावार्थ :—सम्यग्दृष्टि जीव मृत्युके बाद सम्यक्त्वके माहात्म्यसे देवेन्द्र, धरणेन्द्र, चक्रवर्ती और गणधरों द्वारा पूजनीय होते हैं तथा तीन लोकके शरणभूत, धर्म चक्रके धारक तीर्थंकर भी होते हैं।

तीर्थंकरदेव तीनलोकके अधिपतियों द्वारा पूजनीय हैं यह बताता है कि तीनलोकमें तीर्थंकरदेवका पुण्य-फल सबसे उत्कृष्ट है। ज्ञानीयों और त्यागीओंमें गणधर सबसे बड़े होते हैं, वह भी श्रोताओकी कोटीमें बैठकर धर्मश्रवण करते हैं। इससे यह साबित होता है कि धर्ममें भी तीर्थंकरदेव सबसे उत्तम है। विहारके समय तीर्थंकरकी महत्तासूचक एक धर्मचक्र तीर्थंकर भगवानके आगे चलता है।

इस प्रकार तीन लोकके राजा-महाराजा, इन्द्र, ज्ञानी, त्यागी, धर्मात्मा-सभी जिनको पूजते हैं, जिनकी शरण लेते हैं, ऐसे सामर्थ्यशाली अलौकिक पुरुष-तीर्थंकरदेव सम्यग्दर्शनके

तथा मोक्षप्राप्तिरपि सम्यग्दर्शनशुद्धानामेव भवतीत्याह—

शिवमजरमरुजमक्षयमव्याबाधं विशोकभयशङ्कम्।
काष्ठागतसुखविद्याविभवं विमलं भजन्ति दर्शनशरणाः॥४०॥

'दर्शनशरणाः' दर्शनं शरणं[1] संसारापायपरिरक्षकं येषां, दर्शनस्य वा शरणं रक्षणं यत्र ते। 'शिवं' मोक्षं। भजन्त्यनुभवन्ति। कथंभूतं? 'अजरं' न विद्यते जरा वृद्धत्वं यत्र। 'अरुजं' न विद्यते रुग्व्याधिर्यत्र। 'अक्षयं' न विद्यते लब्धानन्तचतुष्टयक्षयो[2] यत्र। 'अव्याबाधं' न विद्यते दुःखकारणेन केनचिद्विविधा विशेषेण वा अबाधा यत्र। 'विशोकभयशङ्कं' विगता शोकभयशङ्का यत्र। 'काष्ठागतसुखविद्याविभवं' काष्ठां परमप्रकर्षं

ही माहात्म्यसे होते हैं।

मोक्षकी प्राप्ति भी शुद्ध सम्यग्दृष्टिको ही होती है ऐसा कहते हैं—

श्लोक-४०

सम्यक्त्वी जीव ही मोक्षको जाते हैं।

अन्वयार्थ—[दर्शनशरणाः] जो आत्मा सम्यग्दर्शनका उत्तम प्रकारसे रक्षण करते हैं वे [अजरम्] बुढापा रहित [अरुजम्] रोग रहित [अक्षयम्] विनाश रहित [अव्याबाधम्] बाधा रहित [विशोकभयशंकम्] शोक, भय और शंकासे रहित [काष्ठागतसुखविद्याविभवम्] परमोत्कृष्ट अवस्थाको प्राप्त सुख, विद्या और वैभवसे युक्त तथा [विमलम्] निर्मल अर्थात् द्रव्यकर्म भावकर्म और नोकर्मसे रहित [शिवम्] मोक्षको [भजंति] प्राप्त होते हैं॥४०॥

टीकार्थ—'दर्शनं शरणं संसारापायपरिरक्षकं येषां ते'—सम्यग्दर्शन ही जिनके शरण—संसारसम्बन्धी दुःखोंसे रक्षा करनेवाला है। अथवा 'दर्शनस्य शरणं रक्षणं यत्र ते'—जिनमें सम्यग्दर्शनकी शरण—रक्षा होती हैं वे दर्शनशरण कहलाते हैं ऐसे दर्शनशरण सम्यग्दृष्टि जीव ही उस शिव–मोक्षका अनुभव करते हैं जो अजर है–वृद्धावस्थासे रहित है, अरुज है–रोगसे रहित है, अक्षय है–प्राप्त हुए अनन्त चतुष्टयके क्षयसे रहित है, अव्याबाध है—विशिष्ट अथवा विविध प्रकारकी आबाधाओंसे रहित है, विशोकभयशङ्क है–शोक, भय तथा शङ्कासे रहित है, काष्ठागतसुखविद्याविभव है–परमप्रकर्षको प्राप्त हुए सुख और ज्ञानके विभवसे सहित

---

१. शरणं संसारापायपरिरक्षकं येषां, दर्शनस्य वा शरणं रक्षणं यत्र ते शिवं घ०।

२. चतुष्टयस्वरूपस्य घ०।

गतः प्राप्तः सुखविद्ययोर्विभवो विभूतिर्यत्र। 'विमलं' विगतं मलं द्रव्यभावरूपकर्म[३] यत्र॥४०॥

यत्प्राक् प्रत्येकं श्लोकैः सम्यग्दर्शनस्य फलमुक्तं तद्दर्शनाधिकारस्य समाप्तौ संग्रहवृत्तेनोपसंहृत्य प्रतिपादयन्नाह—

(वसंततिलका)

देवेन्द्रचक्रमहिमानममेयमानम्
राजेन्द्रचक्रमवनीन्द्रशिरोर्चनीयम्।
धर्मेन्द्रचक्रमधरीकृतसर्वलोकम्
लब्ध्वा शिवं च जिनभक्तिरुपैति भव्यः।४१।

'शिवं' मोक्षं। 'उपैति' प्राप्नोति। कोऽसौ? 'भव्यः' सम्यग्दृष्टिः। कथंभूतः?

है तथा विमल है–कर्मरूपी मलसे रहित है।

भावार्थ :—सम्यग्दृष्टि जीव मोक्षप्राप्त भी करता है। जहाँ बुढापा, रोग, क्षय, बाधा, शोक, भय एवं शंका तथा द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्मरूप मलका सर्वथा अभाव होता है तथा नव क्षायिक लब्धियाँ तथा अनंतदर्शनादि अनंतचतुष्टयका सदा सद्भाव होता है।४०।

पूर्व प्रत्येक श्लोक द्वारा जो सम्यग्दर्शनका फल कहा है वह सम्यग्दर्शनका अधिकार समाप्त करते हुए संग्रह वृत्तिसे (संक्षेपरूप) उपसंहार करके प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि—

श्लोक-४१ : उपसंहार

अन्वयार्थ—[जिनभक्तिः भव्यः] जिनेन्द्र भगवानकी भक्ति करनेवाले भव्य जीव [अमेयमानम्] अपरिमित [देवेन्द्रचक्रमहिमानम्] देवेन्द्रके ऐश्वर्यके महत्वको [अवनीन्द्रशिरोर्चनीयम्] राजाओंके मस्तकोंसे पूज्य [राजेन्द्रचक्रम्] चक्रवर्तीके चक्ररत्नको [च] और [अधरीकृतसर्वलोकम्] समस्त संसारको नम्र करनेवाले [धर्मेन्द्रचक्रम्] तीर्थंकर पदको अथवा तीर्थंकरके आगे चलनेवाले धर्मचक्रको [लब्ध्वा] प्राप्त करके [शिवम्] मोक्षको [उपैति] प्राप्त करते हैं॥४१॥

टीकार्थ—जिनेन्द्र भगवानमें सातिशय अनुरागको रखनेवाला भव्य—सम्यग्दृष्टि जीव,

'जिनभक्तिः' जिने भक्तिर्यस्य। किं कृत्वा? 'लब्ध्वा'। कं? 'देवेन्द्रचक्रमहिमानं' देवानामिन्द्रा देवेन्द्रास्तेषां चक्रं संघातस्तत्र तस्य वा महिमानं विभूतिमाहात्म्यं। कथंभूतं? 'अमेयमानं' अमेयोअपर्यन्तं मानं पूजा ज्ञानं वा यस्य तममेयमानं। तथा 'राजेन्द्रचक्रं' लब्ध्वा राज्ञामिन्द्राश्चक्रवर्तिनस्तेषां चक्रं चक्ररत्नं। किं विशिष्टं? 'अवनीन्द्रशिरोऽर्चनीयं' अवन्यां निजनिजपृथिव्वां इन्द्रा मुकुटबद्धा राजानस्तेषां शिरोभिरर्चनीयं। तथा 'धर्मेन्द्रचक्रं' लब्ध्वा धर्मस्तस्योत्तमक्षमादिलक्षणस्य चारित्रलक्षणस्य वा इन्द्रा अनुष्ठातारः प्रणेतारो वा तीर्थकरादयस्तेषां चक्रं संघातं धर्मेन्द्राणां वा तीर्थकृतां सूचकं चक्रं धर्मचक्रं। कथंभूतं? 'अधरीकृतसर्वलोकं' अधरीकृतो भृत्यतां नीतः सर्वलोकस्त्रिभुवनं येन तत्। एतत्सर्वं[1] लब्ध्वा पश्चाच्छिवं चोपैति भव्य इति॥४१॥

स्वर्गके इन्द्रसमूहकी उस महिमाको प्राप्त होता है जिसका मान—प्रभाव अथवा ज्ञान अपरिमित होता है। राजेन्द्रचक्र—चक्रवर्तीके उस सुदर्शन नामक चक्ररत्नको प्राप्त होता है जो कि अपनी-अपनी पृथ्वीके अधिपति मुकुटबद्ध राजाओंके द्वारा पूजनीय होता है तथा धर्मेन्द्रचक्र—उत्तमक्षमादि अथवा चारित्ररूप लक्षणसे युक्त धर्मके इन्द्र—अनुष्ठाता या प्रणेता तीर्थंकरादिकके समूहको अथवा तीर्थंकरोंके सूचक उस धर्मचक्रको प्राप्त होता है जो कि अपनी महिमासे समस्तलोक—त्रिभुवनको अपना सेवक बना लेता है। अन्तमें इन सबको प्राप्तकर मोक्षको प्राप्त होता है।

भावार्थ :—इस अंतिम श्लोकमें आचार्य श्लोक ३६से ४१ तक उपसंहार करते हुए कहते हैं कि—सम्यक्त्वके प्रभावसे सम्यग्दृष्टि जीव उत्तम सांसारिक सुख हेयबुद्धिसे भोगते हैं अर्थात् उत्तम मनुष्यपना, इन्द्रकी अपरिमित विभूति, बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजाओं द्वारा पूज्यनीय चक्रवर्तीपद और त्रैलोक्य पूज्य तीर्थंकरपद प्राप्त करके अंतमें मोक्ष पाते हैं।

सम्यक्त्व आत्माका शुद्ध परिणाम है, इससे संवर-निर्जरा पूर्वक मोक्षकी प्राप्ति होती है। यहाँ जो सम्यक्त्वका फल लौकिक सुख बताया है वह उपचरित कथन है; वास्तवमें वह सम्यक्त्वका फल नहीं लेकिन भूमिकानुसार वर्तते सहचररूप प्रशस्त शुभ रागका यह फल है, ऐसा समझना।

विशेष

सम्यग्दृष्टिको दर्शनमोहका अभाव होनेसे सत्यार्थ श्रद्धान, सत्यार्थ ज्ञान प्रगट होता है और मिथ्यात्वके साथ अनंतानुबंधी कषायका भी अभाव होनेसे उसे स्वरूपाचरणचारित्र भी आंशिक होता है।

इति प्रभाचन्द्रविरचितायां समन्तभद्रस्वामिविरचितोपासकाध्ययनटीकायां
प्रथमः परिच्छेदः ।।१।।

अप्रत्याख्यानावरणके उदयसे देशचारित्र और प्रत्याख्यानावरणके उदयसे सकलचारित्र प्रगट नहीं हुआ है तो भी सम्यग्दृष्टिको देहादिक परद्रव्य और राग–द्वेषादि कर्मजनित परभावमें ऐसा दृढ़ भेदज्ञान हुआ है कि वह स्वयं ज्ञान–दर्शनरूप ज्ञानस्वभावमें ही आत्मबुद्धि रखता है और पर्यायमें आत्मबुद्धि स्वप्नमें भी नहीं रखता ।

सम्यग्दृष्टि चिंतवन करता है कि 'भगवान और परमागमके शरणमें जाकर, अंतर्मुख होकर, ज्ञानदृष्टिसे अवलोकन कर । स्पर्श, रस, गंध, वर्णादि यह तेरा स्वरूप नहीं है । यह पुद्गलका स्वरूप है । क्रोधादि कषाय-भाव कर्मजनित विकार है यह तेरे स्वरूपसे भिन्न है । देव, मनुष्यादिक पर्याय तथा मनुष्यादि चार गति आत्माका स्वरूप नहीं है, वह कर्मजनित है, विनाशिक है।'

तब वह और भी चिंतन करता है कि—''मै गोरा या काला नहीं, राजा या रंक नहीं, बलवान या निर्बल नहीं, स्वामी या सेवक नहीं, रूपवान या कुरूप नहीं, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य नहीं, स्त्री या पुरुष नहीं । मैं देह, इन्द्रियाँ या मन नहीं, क्योंकि यह सब कर्मके उदयजनित पुद्गलके विकार हैं, यह आत्माका रूप नहीं है, मेरा स्वरूप तो ज्ञाता–दृष्टा है वगेरे ।''

सम्यग्दृष्टिको भेदज्ञान होनेसे परमें आत्मबुद्धि, पर्यायबुद्धि, निमित्तबुद्धि, व्यवहारबुद्धि और कर्ताबुद्धि छूट जाती है और परभावोंसे विमुख होकर स्वसन्मुख हो जाता है और सत्य श्रद्धा–ज्ञानके बलसे या ज्ञान–वैराग्य शक्तिके प्रभावसे वह आत्मस्वरूपमें स्थिर होनेका निरंतर अभ्यास करता है और निर्विकार–अतीन्द्रिय आनंदका अनुभव करता है ।

ऐसे अतीन्द्रिय आनंदका अनुभव करना यह भी सम्यक्त्वकी ही महिमा है, इसलिए मोक्षार्थी प्रथम इसीको धारण करता है । आत्मार्थीको सांसारिक सुख तो अनाजके साथ घासकी तरह सहज प्राप्त है ।४१।

इस प्रकार श्री समन्तभद्रस्वामी विरचित
उपासकाध्ययनकी प्रभाचंद्रविरचित टीकामें
पहेला परिच्छेद पूर्ण हुआ ।१।

२
ज्ञानाधिकार

अथ दर्शनरूपं धर्मं व्याख्याय ज्ञानरूपं तं व्याख्यातुमाह—

(आर्या)

अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं विना च विपरीतात्।
निःसन्देहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः ॥४२॥

'वेद' वेत्ति। 'यत्तदाहुर्ब्रुवते। 'ज्ञानं भावश्रुतरूपं। के ते? 'आगमिनः' आगमज्ञाः। कथं वेद? 'निःसन्देहं' निःसंशयं यथा भवति तथा। 'विना च विपरीतात्' विपरीताद्विपर्ययाद्विनैव विपर्ययव्यवच्छेदेनेत्यर्थः। तथा 'अन्यूनं' परिपूर्णं सकलं वस्तुस्वरूपं

अब सम्यग्दर्शनरूप धर्मका व्याख्यान करके ज्ञानरूप धर्मका व्याख्यान किया जाता है।

श्लोक - ४२
सम्यग्ज्ञानका लक्षण

अन्वयार्थ—[यत्] जो [अन्यूनम्] न्यूनतासे रहित [अनतिरिक्तम्] अधिकतासे रहित [विपरीतात् विना] उलटपनेसे रहित [याथातथ्यम्] यथार्थ [च] और [निःसंदेहम्] संदेह रहित [वेद] जानता है [तत्] उसको [आगमिनः] आगमके जाननेवाले [ज्ञानम्] सम्यग्ज्ञान [विदुः] कहते हैं॥४२॥

टीकार्थ—यहाँ ज्ञानशब्दसे भावश्रुतज्ञान विवक्षित है। सम्यग्ज्ञान पदार्थको न्यूनतारहित जानता है अर्थात् वह परस्परविरोधी नित्यानित्यादि दो धर्मोमेंसे किसी एकको छोड़कर नहीं जानता है किन्तु उभयधर्मोंसे पूर्ण वस्तुको जानता है। अधिकतारहित जानता है अर्थात् वस्तुमें नित्यत्वैकान्त अथवा क्षणिकत्वैकान्त आदि जो धर्म अविद्यमान हैं उन्हें कल्पित कर नहीं जानता है। विपरीततारहित जानता है। सन्देहरहित जानता है और वस्तुका स्वरूप जैसा है वैसा ही जानता है। इस तरह स्याद्वादरूप श्रुतज्ञान भी जीवाजीवादि समस्त पदार्थोंको उनकी सब विशेषताओंके साथ जानता है क्योंकि उसमें भी केवलज्ञानके समान सम्पूर्णरूपसे

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ - ३६४२५०

यद्वेद 'तद्ज्ञानं' न[1] न्यूनं विकलं तत्स्वरूपं यद्वेद। तर्हि[2] जीवादिवस्तुस्वरूपेऽविद्यमानमपि सर्वथानित्यत्वक्षणिकत्वाद्वैतादिरूपं कल्पयित्वा यद्वेत्ति तदधिकार्थवेदित्वात्[3] ज्ञानं भविष्यतीत्यहत्राह—'अनतिरिक्तं' वस्तुस्वरूपादनतिरिक्तमनधिकं यद्वेद तज्ज्ञानं न पुनस्तद्वत्स्वरूपादधिकं कल्पनाशिल्पिकल्पितं यद्वेद। एवं चैतद्विशेषणचतुष्टय-सामर्थ्याद्यथाभूतार्थवेदकत्वं तस्य संभवति तद्दर्शयति—'यथातथ्यं' यथावस्थितवस्तुस्वरूपं यद्वेद तद्ज्ञानं भावश्रुतं। तद्रूपस्यैव ज्ञानस्य जीवाद्यशेषार्थानामशेषविशेषतः केवलज्ञानवत् साकल्येन स्वरूपप्रकाशनसामर्थ्यसम्भवात्। तदुक्तं—

स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने।
भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत्॥१॥ इति॥

अतस्तदेवात्र धर्मत्वेनाभिप्रेतं तस्यैव मुख्यतो मूलकारणभूततया स्वर्गापवर्गसाधन-सामर्थ्यसंभवात्॥१॥

वस्तुस्वरूपको प्रकाशित करनेकी सामर्थ्य रहती है। जैसा कि कहा है—

स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने।
भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत्।

''स्याद्वादरूप श्रुतज्ञान और केवलज्ञान ये दोनों ही समस्त तत्त्वोंको प्रकाशित करनेवाले हैं। इनमें भेद, प्रत्यक्ष और परोक्षकी अपेक्षा है अर्थात् केवलज्ञान प्रत्यक्षरूपसे जानता है और श्रुतज्ञान परोक्षरूपसे जानता है। जो श्रुतज्ञान वस्तुके एक धर्मको ही ग्रहण करता है वह अवस्तु अर्थात् मिथ्या होता है।''

इस प्रकार यहाँ भावश्रुतज्ञानरूप सम्यग्ज्ञान ही धर्मसे अभिप्रेत है क्योंकि वही मूलकारण होनेसे स्वर्ग और मोक्ष प्राप्त करानेकी सामर्थ्य रखता है।

भावार्थ :—जो वस्तुके स्वरूपको, न्यूनता, अधिकता, विपरीतता और संदेह रहित, जैसा है वैसा जानता है उसे गणधर या श्रुतकेवली 'सम्यग्ज्ञान' कहते हैं; अर्थात् जो वस्तु

---

१. नपुनर्न्यूनं घ०।

२. जीवादिवस्तु घ प्रतौ 'तर्हि जीवादिवस्तुस्वरूपेऽविद्यमानमपि सर्वथानित्यत्वक्षणिकत्वाद्वैतादिरूपं कल्पयित्वा यद्वेत्ति तदधिकार्थवेदित्वात् ज्ञानं भविष्यतीत्यत्राह–अनतिरिक्तं वस्तुस्वरूपादनतिरिक्तं' इत्यस्य स्थाने 'जीवादिवस्तुस्वरूपादनधिकं यद्वेद तज्ज्ञानं' इत्येव पाठः।

३. विदितत्वात् ग०।

Shri Digambar Jain Swadhyay Mandir Trust, Songadh - 364250

स्वरूपको संशय (संदेह), विपर्यय और अनध्यवसाय रहित जैसा है वैसा जानता है उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं यह प्रमाण ज्ञानका लक्षण है। नित्य–अनित्यरूप, सामान्य-विशेषरूप ऐसा वस्तु स्वरूप, जैसा है वैसा ज्ञान जानता है उसे ही सत्यार्थज्ञान–प्रमाणज्ञान–सम्यग्ज्ञान कहते हैं।

विशेष

इस श्लोककी टीकामें सम्यग्ज्ञानको (१) भावश्रुतरूप ज्ञान (२) यथाभूत और (३) जीवादि समस्त पदार्थोंके स्वरूपको केवलज्ञानवत् संपूर्णपने प्रकाशन करनेमें सामर्थ्यवाला कहा है; क्योंकि—

(१) भावश्रुतज्ञान जिसका स्वरूप है, ऐसे ज्ञानीको अभेदरूप भावश्रुतज्ञानस्वरूप शुद्धात्माका ज्ञान होनेसे, वह परसे अत्यंत विरक्त होता है। इस कारण ज्ञानी, कर्मके उदयके स्वभावको स्वयं ही छोड़ देता है (श्री समयसार गाथा ३१८की टीका)

(२) यथाभूत :—जैसा वस्तुस्वरूप है वैसा जाने वह ज्ञान भावश्रुतरूप है।

(३) केवलज्ञानवत् :—चौथे–पाँचवे गुणस्थानवर्ती जीव भी सम्यग्ज्ञानी होनेसे उन्हें भावश्रुतज्ञान होता है और वह ज्ञान सकल पदार्थोंको प्रकाशनेमें समर्थ होनेसे उसे केवलज्ञानवत् कहा है।

ऐसा ज्ञान भूतार्थ–त्रिकाली ध्रुव स्वात्माके आश्रय बिना किसीको भी प्रगट नहीं हो सकता है।

जहाँ सम्यग्ज्ञान हो वहाँ आत्मिक सुख अभिन्न होता है, क्योंकि ज्ञान और सुखका अभिन्नपना है। (देखो श्री प्रवचनसार गाथा–५३की श्री अमृतचंद्राचार्यकृत टीका)

‘‘.....प्रयोजनभूत जीवादि तत्त्वोंको संशय, विपर्यय और अनध्यवसायरूप जो जानता है उसका नाम मिथ्याज्ञान है, लेकिन अप्रयोजनभूत पदार्थोंको यथार्थ जानता है अथवा अयथार्थ जानता है इसकी अपेक्षा कोई मिथ्याज्ञान–सम्यग्ज्ञान नहीं है। जैसे मिथ्यादृष्टि डोरीको डोरी जानता है इससे उसका ज्ञान सम्यग्ज्ञान नाम नहीं पाता। तथा सम्यग्दृष्टि डोरीको साँप जानता है तो भी उसका ज्ञान मिथ्याज्ञान नाम नहीं पाता।

‘‘.....यहाँ तो संसार–मोक्षके कारणभूत सत्य–असत्य जाननेका निर्धार करना है, इसलिए डोरी–सर्पादिकका यथार्थ या अन्यथा ज्ञान कोई संसार–मोक्षका कारण नहीं है।

इन अपेक्षाओंसे यहाँ मिथ्याज्ञान–सम्यग्ज्ञान नहीं कहा है। लेकिन प्रयोजनभूत जीवादि तत्त्वोंको जाननेकी अपेक्षासे ही मिथ्याज्ञान–सम्यग्ज्ञान कहा है। और इसी अभिप्रायसे सिद्धान्तमें मिथ्यादृष्टिके सर्व जाननेको मिथ्याज्ञान कहा और सम्यग्दृष्टिके सर्व जाननेको सम्यग्ज्ञान कहा है।

''.....क्योंकि मिथ्यादृष्टि जानता है वहाँ उसे सत्ता–असत्ताका विशेष (भेद) नहीं है, इससे कारणविपरीतता, स्वरूपविपरीतता या भेदाभेदविपरीतता उपजती है.....इस प्रकार मिथ्यादृष्टिके जाननेमें विपरीतता होती है।

''जैसे मदिरा पिया हुआ मनुष्य माताको स्वयंकी स्त्री मानता है स्त्रीको माता मानता है, उसी प्रकार मिथ्यादृष्टिमें अन्यथा जानपना होता है। जैसे किसी समय मदिरा पिया हुआ मनुष्य माताको माता या स्त्रीको स्त्री जानता है, तो भी उसे निश्चयरूप निर्धार या श्रद्धानपूर्वक जानना नहीं होता है अतः उसे यथार्थ ज्ञान नहीं कहा जाता है। इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि किसी कालमें किसी पदार्थको सत्य भी जानता है तो भी निश्चयरूप निर्धारसे श्रद्धान सहित नहीं जानता अतः उसे सम्यग्ज्ञान नहीं कहते। अथवा सत्य जानते हुए भी स्वयं अयथार्थ प्रयोजन ही साधता है तो उसे भी सम्यग्ज्ञान नहीं कहते। इस प्रकार मिथ्यादृष्टिके ज्ञानको मिथ्याज्ञान कहते हैं।

प्रश्न :—इस मिथ्याज्ञानका कारण क्या है?

उत्तर :—मोहके उदयसे जो मिथ्यात्वभाव होता है—सम्यग्भाव नहीं होता यह ही मिथ्याज्ञानका कारण है। जैसे विषके संयोगसे भोजनको भी विषरूप कहनेमें आता है। ऐसे ही मिथ्यात्वके संबंधसे ज्ञान भी मिथ्याज्ञान नाम पाता है।

इसी कारण जीवको प्रयोजनभूत जीवादि तत्त्व तथा अप्रयोजनभूत अन्य पदार्थोंको यथार्थ जाननेकी शक्ति हो, लेकिन जहाँ उसे मिथ्यात्वका उदय हो वह अप्रयोजनभूत है उसे ही वेदन करता है—जानता है, लेकिन प्रयोजनभूतको नहीं जानता है। अगर वह प्रयोजनभूतको जाने तो सम्यग्ज्ञान बन जाए, लेकिन मिथ्यात्वका उदय होनेसे ऐसा बनता ही नहीं है। इसलिए प्रयोजनभूत–अप्रयोजनभूत पदार्थोंको जाननेमें ज्ञानावरणका निमित्त नहीं है, परंतु मिथ्यात्वका उदय–अनुदय ही कारणभूत है।'' ४२.

तस्य विषयभेदाद्भेदान् प्ररूपयन्नाह—

प्रथमानुयोगमर्थाख्यानं चरितं पुराणमपि पुण्यम्।
बोधिसमाधिनिधानं बोधति बोधः समीचीनः॥४३॥

'बोधः समीचीनः' सत्यं श्रुतज्ञानं। 'बोधति' जानाति। कं? प्रथमानुयोगं। किं पुनः प्रथमानुयोगशब्देनाभिधीयते इत्याह—'चरितं पुराणमपि' एकपुरुषाश्रिता कथा चरितं त्रिषष्टिशलाकापुरुषाश्रिता कथा पुराणं तदुभयमपि प्रथमानुयोगशब्दाभिधेयं। तस्य प्रकल्पितत्वव्यवच्छेदार्थमर्थाख्यानमिति विशेषणं, अर्थस्य परमार्थस्य विषयस्याख्यानं प्रतिपादनं यत्र येन वा तं। तथा 'पुण्यं' प्रथमानुयोगं हि श्रृण्वंता पुण्यमुत्पद्यते इति पुण्यहेतुत्वात्पुण्यं तदनुयोगं। तथा 'बोधिसमाधिनिधानं' अप्राप्तानां हि सम्यग्दर्शनादीनां प्राप्तिर्बोधिः, प्राप्तानां तु पर्यन्तप्रापणं समाधिः, ध्यानं वा धर्म्यं शुक्लं च समाधिः तयोर्निधानं। तदनुयोगं हि

सम्यग्ज्ञानके विषय-भेदसे प्रथमानुयोगरूप भेदका प्ररूपण करते हुए कहते हैं कि—

श्लोक - ४३
प्रथमानुयोगका स्वरूप

अन्वयार्थ—[समीचीनः बोधः] सम्यग्ज्ञान [अर्थाख्यानम्] सत्यार्थके प्रतिपादन करनेवाले [चरितम्] एक पुरुषके चरित्रको कथन करनेवाले [पुराणम् अपि] त्रेसठ शलाकाके चरित्रको भी प्रतिपादन करनेवाले [पुण्यम्] पुण्यके कारण और [बोधिसमाधिनिधानम्] बोधि (प्राप्त नहीं हुए सम्यग्दर्शनादिककी प्राप्तिको बोधि कहते हैं) तथा समाधि (प्राप्त हुए सम्यग्दर्शनादिकका जीवनके अंत पर्यंत निर्वाह करनेको समाधि कहते हैं)के स्थान ऐसे [प्रथमानुयोग] प्रथमानुयोगको [बोधति] जानता है॥४३॥

टीकार्थ—जिसमें एक पुरुषसे सम्बन्ध रखनेवाली कथा होती है उसे **चरित** कहते हैं और जिसमें त्रेशठ शलाकापुरुषोंसे सम्बन्ध रखनेवाली कथा होती है उसे **पुराण** कहते हैं। चरित और **पुराण**, दोनों ही प्रथमानुयोग शब्दसे कहे जाते हैं। यह प्रथमानुयोग उपन्यासकी तरह कल्पित अर्थका वर्णन न कर परमार्थ विषयका वर्णन करता है इसलिये इसे **अर्थाख्यान** कहते हैं। इसके पढ़ने और सुननेवाले जीवोंको पुण्यबन्ध होता है इसलिये इसे पुण्य कहते हैं। इसके सिवाय यह प्रथमानुयोग बोधि अर्थात् रत्नत्रयकी प्राप्ति और समाधि

श्रृण्वतां सद्दर्शनादेः प्राप्त्यादिकं धर्म्यध्यानादिकं च भवति।।४३।।

अर्थात् धर्म और शुक्ल ध्यानकी प्राप्तिका निधान है। सम्यग्ज्ञान ऐसे प्रथमानुयोगको जानता है।

भावार्थ :—कथा, चरित्र और पुराणरूप ग्रन्थोंको प्रथमानुयोग कहते हैं। परमार्थ और उसके साधक पुरुषोंका जिसमें वर्णन (कथन) होता है वह आख्यान ग्रंथ है, जिसमें कोई एक पुरुषके आश्रित वर्णन होता है वह चरित्र ग्रन्थ है और जिसमें त्रेसठ शलाका पुरुषोंके आश्रित वर्णन होता है वह पुराण ग्रन्थ है।

यह प्रथमानुयोगके शास्त्रोंके श्रवण, पठन, मनन और चिंतनादिसे पुण्य, बोधि (रत्नत्रय) और समाधिकी प्राप्ति होती है, क्योंकि वे पुण्यरूप तथा पुण्यका कारण हैं और बोधि तथा समाधिका खजाना है; अर्थात् जो सम्यग्ज्ञान, आख्यान, चरित्र और पुराणरूप शास्त्रोंको जानता है उस भावश्रुतज्ञानको आचार्य प्रथमानुयोग कहते हैं। यह अनुयोग सम्यग्ज्ञानका विषय है।

विशेष

''जैनमतमें उपदेश चार अनुयोगका दिया है। प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग—ये चार अनुयोग हैं। वहाँ तीर्थंकर–चक्रवर्ती आदि महान पुरुषोंका चरित्र जिसमें निरूपण किया है वह 'प्रथमानुयोग' है, गुणस्थान–मार्गणादिरूप जीवका, कर्मोंका व त्रिलोकादिका जिसमें निरूपण हो वह 'करणानुयोग' है, गृहस्थ–मुनिका धर्म आचरण करनेवाला निरूपण जिसमें हो वह 'चरणानुयोग' है तथा छ द्रव्य, सात तत्त्वादि एवं स्वपर भेदविज्ञानादिका जिसमें निरूपण हो वह 'द्रव्यानुयोग' है।''

''प्रथमानुयोगः प्रथमं मिथ्यादृष्टिमव्रतिकमव्युत्पन्नं वा
प्रतिपाद्यमाश्रित्य प्रवृत्तोऽनुयोगोऽधिकारः प्रथमानुयोगः।''

अर्थ :—प्रथम अर्थात् मिथ्यादृष्टि–अव्रती, विशेष ज्ञानरहित शिष्यके उद्देशसे प्रवृत्त होनेवाला अनुयोग अर्थात् अधिकार वह प्रथमानुयोग है।

प्रथमानुयोगका प्रयोजन

''प्रथमानुयोगमें तो संसारकी विचित्रता, पुण्य–पापके फल तथा महापुरुषोंकी प्रवृत्ति इत्यादि निरूपणसे जीवोंको धर्ममें लगाया है। जो जीव तुच्छ बुद्धिवान होता है वह भी इस अनुयोगसे धर्म सन्मुख होता है, क्योंकि जीव सूक्ष्म निरूपण समझता नहीं है लेकिन लौकिक

तथा[1]—

लोकालोकविभक्तेर्युगपरिवृत्तेश्चतुर्गतीनां च।
आदर्शमिव तथामतिरवैति करणानुयोगं च॥४४॥

वार्ताओंको ही जानता है तथा वहाँ उसका उपयोग भी लगता है। प्रथमानुयोगमें भी लौकिक प्रवृत्तिरूप निरूपण होनेसे उसे वह बराबर समझ सकता है।

''लोकमें तो राजादिककी कथाओंमें पाप छोड़नेका या पुण्यका पोषण है। जहाँ राजादिक महापुरुषोंकी कथा सुनता है, परंतु उसमें वह प्रयोजन नहीं है, जैसे तैसे पापको छोड़कर वह प्रयोजन धर्ममें लगाने प्रगट किया है। जिससे वह जीव कथाओंकी लालचसे भी वह पढ़ता है–सुनता है तो फिर बादमें पापको बुरा तथा धर्मको भला जानकर धर्ममें रुचिवान होता है। इस प्रकार तुच्छ बुद्धिवानको समझानेके लिए यह अनुयोग है....

''जिन जीवोंको तत्त्वज्ञान हुआ हो वे अगर यह अनुयोग पढ़े और सुने तो इन्हें यह उदाहरणरूप भासित होता है। जैसे कि जीव अनादिनिधन है तथा शरीरादि संयोगी पदार्थ हैं—ऐसा जानता था, अब पुराणादिकमें जीवोंके भवान्तरका निरूपण किया है वह यही जाननेमें उदाहरणरूप है।

शुभ–अशुभ–शुद्धोपयोगको जानता था, और उसके फलको जानता था। अब पुराणोंमें भी वहाँ उपयोगकी प्रवृत्ति तथा उसका फल जीवोंको जो हुआ उसका निरूपण किया है। यह भी जाननेके लिए उदाहरणरूप हुआ.....

''.....धर्मात्मा है वह, धर्मीयोंकी प्रशंसा और पापीयोंकी निंदा जिसमें हो ऐसी कोई पुराण पुरुषोंकी कथा सुननेसे धर्ममें अति उत्साहवान होता है। इस प्रकार यह प्रथमानुयोगका प्रयोजन जानना।'' ४३.

श्लोक - ४४
करणानुयोगका स्वरूप

अन्वयार्थ—[तथा] उसीप्रकार [मतिः] सम्यग्ज्ञान [लोकालोकविभक्तेः] लोक और

---

१. संपादनार्थमुपलब्धेषु पुस्तकेषु 'क' पुस्तके इतोग्रे इयं गाथा समुपलभ्यते 'अह उड्ढतिरियलोए दिसि विदिसि जं पमाणियं भणियं। करणाणिउगं सिद्धं दीवसमुद्दा जिणग्गेहा'। गाथेयं करणानुयोगस्य लक्षणपरा, केनचित् 'लोकालोकेति श्लोकस्य टीकायामवतारिता, लेखकप्रमादेन च प्रथमानुयोगलक्षणे संमिलिता भवेदिति प्रतिभाति।

'तथा' तेन प्रथमानुयोगप्रकारेण, 'मति'र्मननं[1] श्रुतज्ञानं। अवैति जानाति। कं? 'करणानुयोगं' लोकालोकविभागं पंचसंग्रहादिलक्षणं। कथंभूतमिव? 'आदर्शमिव' यथा आदर्शो दर्पणो मुखादेर्यथावत्स्वरूपप्रकाशकस्तथा करणानुयोगोऽपि स्वविषयस्यायं प्रकाशकः। 'लोकालोकविभक्तेः' लोक्यन्ते जीवादयः पदार्था यत्रासौ लोकस्त्रिचत्वारिंशदधिकशतत्रयपरिमितरज्जुपरिमाणः, —तद्विपरीतोऽलोकोऽनन्तमानावच्छिन्नशुद्धाकाशस्वरूपः तयोर्विभक्ति-र्विभागो भेदस्तस्याः आदर्शमिव। तथा 'युगपरिवृत्तेः' युगस्य कालस्योत्सर्पिण्यादेः परिवृत्तिः परावर्तनं तस्या आदर्शमिव। तथा 'चतुर्गतीनां च' नरकतिर्यग्मनुष्यदेवलक्षणानामादर्शमिव॥४४॥

अलोकके विभागको [युगपरिवृत्तेः] युगके परिवर्तनको [च] और [चतुर्गतीनाम्] चारों गतियोंको [आदर्शं इव] दर्पणके समान प्रतिपादन करनेवाले [करणानुयोगम्] करणानुयोगको [अवैति] जानता है॥४४॥

टीकार्थ—जिस प्रकार सम्यक् श्रुतज्ञान प्रथमानुयोगको जानता है उसी प्रकार करणानुयोगको भी जानता है। करणानुयोगमें लोक–अलोकका विभाग तथा पञ्चसंग्रह आदिका समावेश होता है। यह करणानुयोग दर्पणके समान है अर्थात् जिस प्रकार दर्पण, मुख आदिके यथार्थ स्वरूपका प्रकाशक होता है उसी प्रकार करणानुयोग भी अपने विषयका प्रकाशक होता है। करणानुयोग, लोक और अलोकके विभाग, युगोंके परिवर्तन और चारगतियोंके स्वरूपको प्रकाशित करनेके लिये दर्पणके समान है।

जहाँ तक जीवादि पदार्थ देखे जाते हैं उसे लोक कहते हैं। यह लोक तीनसौ तेतालीस राजु प्रमाण है। इससे विपरीत अनन्तप्रमाणसे विशिष्ट जो शुद्ध—परद्रव्योंके संसर्गसे रहित आकाश है वह अलोक कहलाता है। उत्सर्पिणी आदि कालके भेदोंको युग कहते हैं। उनका सुषमासुषमा आदि छह कालोंमें जो परिणमन होता है उसे युगपरिवर्तन कहते हैं और नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य तथा देव ये चार गतियाँ हैं। करणानुयोगमें इन सबका विशद वर्णन रहता है।

भावार्थ :—जैसे दर्पण मुखादिक वस्तुओंको जैसी है वैसी बताता है, इसी प्रकार जो शास्त्र पाँच द्रव्योंके (जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल) समूहरूप लोक और उससे भिन्न स्वरूपवाला शुद्ध अनंत अलोकके विभाग उत्सर्पिणी–अवसर्पिणीरूप कल्पकालके परिवर्तन और नरकादि चार गतियोंके स्वरूपको, जैसा है वैसा बतावे उसे करणानुयोग कहते

---

१. मतिज्ञान न श्रुतज्ञानम् इति ग पुस्तके।

हैं। यह अनुयोग भी सम्यग्ज्ञानका विषय है, अर्थात् करणानुयोग, लोक–अलोक विभागको, युगके परिवर्तनको और चतुर्गतियोंके स्वरूपको यथावत् जाननेमें दर्पण समान है–ऐसा श्रुतज्ञान (सम्यग्ज्ञान) जानता है।

विशेष

''.....करण मतलब गणित कार्यके कारणरूप है जो सूत्र, उनमें जिनका 'अनुयोग' अर्थात् अधिकार होता है वह करणानुयोग है। इस अनुयोगमें गणित–वर्णनकी मुख्यता है।''

करणानुयोगका प्रयोजन

''करणानुयोगमें जीवोंकी या कर्मोंकी विशेषता तथा त्रिलोकादिकी रचना निरूपण करके जीवोंको धर्ममें लगाया है। जो जीव धर्ममें उपयोग लगानेके इच्छुक हैं वे जीवोंके गुणस्थान–मार्गणादि भेद तथा तीन लोकमें नरक–स्वर्गादिके स्थान जानकर पापसे विमुख होकर धर्ममें लगते हैं। अब जो इन विचारोंमें उपयोग लग जाए तो पापप्रवृत्ति छूटकर स्वयं तत्काल धर्म प्रगट हो जाए, तथा उसके अभ्याससे तत्त्वज्ञानकी भी प्राप्ति होती है। और ऐसे सूक्ष्म और यथार्थ पदार्थ कथन जैनमतमें ही हैं, अन्य स्थानो पर नहीं, ऐसी उसकी महिमा जानकर वह जैन मतका श्रद्धानी होता है।

''जो जीव तत्त्वज्ञानी होता है वह इस करणानुयोगका अभ्यास करे तो उसे यह विशेषरूप भासित होता है; जैसे जीवादि तत्त्वोंको स्वयं जानता है, अब उसके ही विशेष भेद करणानुयोगमें किये हैं। उसमें कोई विशेषण तो यथावत् निश्चयरूप है तथा कोई उपचार सहित व्यवहाररूप है। कोई द्रव्य–क्षेत्र–काल–भावादिकका स्वरूप प्रमाणादिकरूप है तथा कोई निमित्त–आश्रयादिकी अपेक्षा सहित है, इत्यादि अनेक प्रकारके विशेषण यहाँ निरूपण किये हैं। उसे जैसे हैं वैसे जानकर करणानुयोगका अभ्यास करे तो तत्त्वज्ञान निर्मल होता है...

''बाकी अन्य स्थान पर उपयोगको लगावे तो रागादिककी ही वृद्धि होती है तथा छद्मस्थका उपयोग निरंतर एक विषयमें एकाग्र नहीं रह सकता, इसलिए ज्ञानीपुरुष करणानुयोगके अभ्यासमें स्वयंका उपयोग लगाते हैं, जिस प्रकार केवलज्ञानमें पदार्थोंका जानपना होता है वैसा उसे भी होता है। भेदमात्र वहाँ प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्षका ही है, लेकिन अनुभवमें विरुद्धता नहीं। इस प्रकारसे करणानुयोगका प्रयोजन जानना।''

''परमेश्वर तो वीतराग हैं। भक्ति करनेसे प्रसन्न होकर कुछ करते नहीं लेकिन भक्ति करते समय जो मंद कषाय हो तो उसे स्वयं ही उत्तम फल प्राप्त होता है। अब करणानुयोगके अभ्यासमें भक्तिसे भी अधिक मंद कषाय हो सकती है, उससे फल अति उत्तम होता है।

तथा[1]—

गृहमेध्यनगाराणां चारित्रोत्पत्तिवृद्धिरक्षाङ्गम्।
चरणानुयोगसमयं सम्यग्ज्ञानं विजानाति॥४५॥

'सम्यग्ज्ञानं' भावश्रुतरूपं। 'विजानाति' विशेषेण जानाति। कं? 'चरणानुयोगसमयं' चारित्रप्रतिपादकं शास्त्रमाचाराङ्गादि। कथंभूतं? 'चारित्रोत्पत्तिवृद्धिरक्षाङ्गं' चारित्रस्योत्पत्तिश्च वृद्धिश्च रक्षा च तासामङ्गं कारणं अंगानि वा कारणानि प्ररूप्यन्ते यत्र। केषां तदङ्गं? 'गृहमेध्यनगाराणां' गृहमेधिनः श्रावकाः अनगारा मुनयस्तेषां॥४५॥

व्रत–दानादिक तो कषाय घटानेमें बाह्य निमित्त–साधन हैं और करणानुयोगका अभ्यास करने पर वहाँ उपयोग जुड़ जाता है और रागादिक दूर होने लगते हैं, यह अंतरंग निमित्त साधन है; अतः यह विशेष कार्यकारी है.....४४.

श्लोक - ४५
चरणानुयोगका स्वरूप

अन्वयार्थ—[सम्यग्ज्ञानम्] सम्यग्ज्ञान [गृहमेध्यनगाराणाम्] गृहस्थ और मुनियोंके [चारित्रोत्पत्तिवृद्धिरक्षाङ्गम्] चारित्रकी उत्पत्ति, वृद्धि और रक्षाके कारण ऐसे [चरणानुयोगसमयम्] चरणानुयोग शास्त्रको [विजानाति] जानता है॥४५॥

टीकार्थ—चारित्रका प्रतिपादन करनेवाले आचाराङ्ग आदि शास्त्र चरणानुयोग शास्त्र कहलाते हैं। इन शास्त्रोंमें गृहस्थ और मुनियोंके चारित्रकी उत्पत्ति, वृद्धि और रक्षाके कारणोंका वर्णन रहता है। सम्यक् श्रुतज्ञान इन सब शास्त्रोंको विशेषरूपसे जानता है।

भावार्थ :—जिस शास्त्रमें गृहस्थ एवं मुनियोंके चारित्रकी उत्पत्ति, वृद्धि और रक्षाके कारणोंका वर्णन हो उसे चरणानुयोग कहते हैं। यह अनुयोग भी सम्यग्ज्ञानका विषय है, अर्थात् गृहस्थ और मुनियोंके चारित्रकी उत्पत्ति वृद्धि और रक्षाके कारणभूत चरणानुयोग शास्त्र है, ऐसा सम्यग्ज्ञान (भावश्रुतज्ञान) जानता है।

---

१. इतोग्रे क पुस्तके इयं गाथा समुपलभ्यते–तवचारित्तमुणीणं किरियाणं रिद्धिसहियाणं। उवसग्गं सण्णासं चरणाणिउगं पसंसंति।' गाथेयं चरणानुयोगलक्षणपरा। केनचित् 'गृहमेध्यनगाराणाम्' इति श्लोकस्य टीकायामवतारिता, लेखकप्रमादेन च करणानुयोगलक्षणे संमिलिता भवेत् इति प्रतिभाति।

जीवाजीवसुतत्त्वे पुण्यापुण्ये च बन्धमोक्षौ च।
द्रव्यानुयोगदीपः श्रुतविद्यालोकमातनुते॥४६॥

'द्रव्यानुयोगदीपो' [1]'द्रव्यानुयोगसिद्धान्तसूत्रं तत्त्वार्थसूत्रादिस्वरूपो द्रव्यागमः स एव

विशेष

चरणानुयोगका प्रयोजन

''चरणानुयोगमें नाना प्रकारके धर्मसाधन निरूपण करके जीवोंको धर्ममें लगाते हैं। जो जीव हित-अहितको जानता नहीं और हिंसादि पापकार्योंमें ही तत्पर रहता है, उसे पापकार्योंसे छुड़ाकर धर्म कार्योंमें जुड़े वैसा यहाँ उपदेश दिया है। उसे जानकर जो जिनधर्माचरण करनेमें सन्मुख होता है वह जीव गृहस्थ-मुनिधर्मका विधान सुनकर स्वयंसे जितना धर्म सधे, उतना धर्मसाधनमें लगता है। ऐसे साधनसे कषाय भी मंद होती है और उसके फलमें इतना तो होता है कि वह कुगतिमें दुःख नहीं पाता है, सुगतिके सुख पाता है। और ऐसे साधनसे जैनमतके निमित्त बने रहते हैं। जिससे उसे तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति होनी हो तो हो जाए।

''जो जीव तत्त्वज्ञानी होकर यह चरणानुयोगका अभ्यास करता है उसे ये सब आचरण स्वयंके वीतरागभाव अनुसार भासते हैं। एकदेश या सर्वदेश वीतरागता होने पर ऐसी श्रावक-मुनिकी दशा होती है। क्योंकि एकदेश-सर्वदेश वीतरागता और श्रावक-मुनि दशाके निमित्त-नैमित्तिक पना होता है, ऐसा जानकर श्रावक-मुनि धर्मके भेदको पहचानकर जैसा स्वयंको वीतराग भाव हुआ हो वैसा वह स्वयंके योग्य धर्म हो उसे साधता है। उसमें भी जितने अंश वीतरागता होती है उसे वह कार्यकारी जानता है, जितने अंश राग रहता है उसे हेय जानता है तथा सम्पूर्ण वीतरागताको परम धर्म मानता है।

''इस प्रकारसे चरणानुयोगका प्रयोजन है''

श्लोक - ४६

द्रव्यानुयोगका स्वरूप

अन्वयार्थ—[द्रव्यानुयोगदीपः] द्रव्यानुयोगरूपी दीपक [जीवाजीवसुतत्त्वे] जीव और अजीव इन तत्त्वोंका [पुण्यापुण्ये] पुण्य और पापका [च] और [बंधमोक्षौ] बंध और मोक्षका

---

१. द्रव्यानुयोगः सिद्धान्तः ख

दीपः स। 'आतनुते' विस्तारयति अशेषविशेषतः प्ररूपयति। के? 'जीवाजीवसुतत्त्वे' उपयोगलक्षणो जीवः तद्विपरीतोऽजीवः तावेव शोभने अबाधिते तत्त्वे वस्तुस्वरूपे आतनुते। तथा 'पुण्यापुण्ये' सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि हि पुण्यं ततोऽन्यत्कर्मापुण्यमुच्यते, ते च मूलोत्तरप्रकृतिभेदेनाशेषविशेषतो द्रव्यानुयोगदीप आतमुते। तथा 'बन्धमोक्षौ च' मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगलक्षणहेतुवशादुपार्जितेन कर्मणा सहात्मनः संश्लेषो बन्धः बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षलक्षणो मोक्षस्तावप्यशेषतः द्रव्यानुयोगदीप आतनुते। कथं? श्रुतविद्यालोकं श्रुतविद्या भावश्रुतं सैवालोकः प्रकाशो यत्र[1] कर्मणि तद्यथा भवत्येवं जीवादीनि स प्रकाशयतीति॥४६॥

[श्रुतविद्यालोकं] भावश्रुतरूपी प्रकाश जैसे हो उस प्रकार [आतनुते] संपूर्णरूपसे प्रतिपादन करता है॥४६॥

टीकार्थ—जो उपयोगलक्षणसे सहित हो उसे जीव कहते हैं, इससे विपरीत लक्षणवाला अर्थात् उपयोगलक्षणसे रहित द्रव्य अजीव कहलाता है। सातावेदनीय, शुभायु, शुभनाम और शुभगोत्र ये पुण्यकर्म कहलाते हैं। इनसे विपरीत असातावेदनीय, अशुभआयु, अशुभनाम और अशुभगोत्र ये पापकर्म कहलाते हैं। इन सबके मूल और उत्तर प्रकृतियोंके भेदसे अनेक भेद हैं। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगरूप हेतुओंके वशसे आत्मा और कर्मका जो परस्पर संश्लेष है वह बन्ध कहलाता है। बन्धके कारणोंका अभाव (संवर) तथा निर्जराके द्वारा समस्त कर्मोंका आत्मासे पृथक् होना मोक्ष है। श्लोकमें आये हुए चकारसे आस्रव, संवर और निर्जरा तत्त्वका भी ग्रहण होता है। इस प्रकार नौ पदार्थोंको द्रव्यानुयोगरूपी दीपक, विस्तृत करता है। विस्तृत करते समय वह श्रुतज्ञानरूपी प्रकाशको भी विस्तृत करता है।

भावार्थ :—द्रव्यानुयोगरूपी दीपक, जीव–अजीव सुतत्त्वोंको, पुण्य–पाप और बंध–मोक्ष तत्त्वोंको, जिस प्रकार भावश्रुतज्ञानका प्रकाश होता है उसी प्रकार, प्रगट करता है, विस्तार करता है। यह अनुयोग भी सम्यग्ज्ञानका विषय है, अर्थात् जो ज्ञान जीव–अजीव सुतत्त्वोंको पुण्य–पाप तत्त्वोंको और बंध–मोक्ष तत्त्वोंको प्रकाशित करता है–जानता है वह द्रव्यानुयोग भावश्रुतज्ञान है।

विशेष

द्रव्यानुयोगका प्रयोजन

''द्रव्यानुयोगमें द्रव्योंके और तत्त्वोंके निरूपणके साथ जीवोंको धर्ममें लगाते हैं। जो

---

१. तेन कर्मणि ग।

[1]इति प्रभाचन्द्रविरचितायां समन्तभद्रस्वामिविरचितोपासकाध्ययनटीकायां द्वितीयः परिच्छेदः ।।२।।

जीव, जीव–अजीवादि द्रव्योंको या तत्त्वोंको जानता नहीं तथा स्व–परको नहीं जानता उसे हेतु–दृष्टान्तयुक्ति और प्रमाण–नयादिके साथ इनका स्वरूप इस प्रकारसे बताया है कि उसे उसकी प्रतीति हो जाए और इसके अभ्याससे अनादि–अज्ञानता दूर होकर अन्य मतके कल्पित तत्त्वादिक झूठे भासित हों तब जैनमतकी प्रतीति भी हो जाय तथा जो इस भावका अभ्यास रखे तो उसे तुरत ही तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति हो जाए ।

''जिसको तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति हुई हो–तत्त्वज्ञान हुआ हो वह जीव इस द्रव्यानुयोगका अभ्यास करे तो उसे स्वयं श्रद्धान अनुसार यह सब कथन प्रतिभासते हैं । जैसे किसी ने कोई विद्या सीखी हो लेकिन वह उसका अभ्यास करता रहे तो वह याद रहेगी, अगर अभ्यास नहीं रखे तो भूल जाता है, उसी प्रकार इसे तत्त्वज्ञान तो हुआ हो, परंतु जो यह द्रव्यानुयोगका अभ्यास करता रहे तो वह तत्त्वज्ञान टिका रहता है, अगर नहीं करे तो भूल जाता है, अथवा संक्षेपतासे तत्त्वज्ञान हुआ है तो सूक्ष्म युक्ति–हेतु दृष्टान्तादिसे स्पष्ट हो जाए तो फिर उसमें शिथिलता हो ही नहीं सकती और उसके अभ्याससे रागादिक घटनेसे अल्पकालमें मोक्ष होगा इस प्रकार द्रव्यानुयोगका प्रयोजन जानना.....''

''शंका :—द्रव्यानुयोगरूप अध्यात्म उपदेश है, वह उत्कृष्ट है और वह उच्च दशाको प्राप्त हो उसे ही कार्यकारी है पर नीचली दशावालेको तो व्रत–संयमादिका ही उपदेश देना योग्य है ।''

''समाधान :—जिनमतमें तो ऐसी परिपाटी है कि पहले सम्यक्त्व होता है फिर व्रत होते हैं; अब सम्यक्त्व तो स्व–परके श्रद्धान होने पर होता है तथा यह श्रद्धान करके सम्यक्दृष्टि होगा और उसके बाद चरणानुयोग अनुसार व्रतादिक धारण करके व्रती होगा । इस प्रकारसे तो नीचली दशामें ही द्रव्यानुयोग कार्यकारी है तथा गौणपने जिसे इससे मोक्षमार्गकी प्राप्ति नहीं होती दिखे उसे पहले कोई व्रतादिकका उपदेश दिया जाता है अतः उच्च दशावालेको अध्यात्म उपदेश अभ्यास करने योग्य है—ऐसा जानकर नीचली दशावालेंको वहाँसे पराङ्मुख होना योग्य नहीं ।''

इति श्री समन्तभद्रस्वामी विरचित उपासकाध्ययनकी
श्री प्रभाचंद्र विरचित टीकाका दूसरा
परिच्छेद पूर्ण हुआ ।।२।।

१. प्रशस्तिकेयं ख पुस्तके नास्ति।

३
चारित्राधिकार

अथ चरित्ररूपं धर्मं व्याचिख्यासुराह—

(आर्या)

मोहतिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्तसंज्ञानः।
रागद्वेषनिवृत्त्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः॥४७॥

'चरणं' हिंसादिनिवृत्तिलक्षणं चारित्रं। 'प्रतिपद्यते' स्वीकरोति। कोऽसौ? 'साधु'-र्भव्यः। कथंभूतः? 'अवाप्तसंज्ञानः'। कस्मात्? 'दर्शनलाभात्' तल्लाभोऽपि तस्य कस्मिन् सति संजातः? 'मोहतिमिरापहरणे' मोहो दर्शनमोहः स एव तिमिरं तस्यापहरणे यथासम्भवमुपशमे क्षये क्षयोपशमे वा। अथवा मोहो दर्शनचारित्रमोहस्तिमिरं ज्ञानावरणादि

अब आचार्यदेव चारित्ररूप धर्मका व्याख्यान करते हैं।

श्लोक ४७
चारित्र धारण करनेकी आवश्यकता

अन्वयार्थ—[मोहतिमिरापहरणे] दर्शन मोहनीयरूपी अंधकारके नाश (उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम) होने पर [दर्शनलाभात्] सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होनेसे [अवाप्तसंज्ञानः] प्राप्त हो गया है सम्यग्ज्ञान जिसको ऐसा [साधुः] भव्य जीव [रागद्वेष निवृत्त्यै] राग और द्वेषकी निवृत्ति करनेके लिये [चरणम्] सम्यक्चारित्रको [प्रतिपद्यते] स्वीकार करता है॥४७॥

टीकार्थ—हिंसादि पापोंसे निवृत्ति होनेको चरण या चारित्र कहते हैं। भव्यजीव ऐसे चारित्रको कब और किसलिये प्राप्त होता है? इस प्रश्नका समाधान करते हुए कहा गया है कि मोह—दर्शनमोह—मिथ्यात्वरूप अन्धकारका अपहरण—यथासंभव उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम होनेपर जिसे दर्शन—सम्यक्त्वकी प्राप्ति हुई है और सम्यक्त्वकी प्राप्ति होनेसे जिसने सम्यग्ज्ञान प्राप्त कर लिया है ऐसा भव्यपुरुष राग-द्वेषको दूर करनेके लिये चारित्रको प्राप्त होता है। यहाँ 'मोहतिमिरापहरणे' इस पदका यह अर्थ भी होता है—'मोहो दर्शनचारित्रमोहस्तिमिरं

तयोरपहरणे। अयमर्थः—दर्शनमोहापहरणे दर्शनलाभः। तिमिरापहरणे सति दर्शनलाभादवाप्तसंज्ञानः भवत्यात्मा। ज्ञानावरणापगमे हि ज्ञानमुत्पद्यमानं सद्दर्शनप्रसादात् सम्यग्व्यपदेशं लभते, तथाभूतश्चात्मा चारित्रमोहापगमे चरणं प्रतिपद्यते। किमर्थं? 'रागद्वेषनिवृत्त्यै' रागद्वेषनिवृत्तिनिमित्तं॥४७॥

ज्ञानावरणादि तयोरपहरणे' अर्थात् मोहका अर्थ दर्शनमोह तथा चारित्रमोह इन दो भेदोंसे उपलक्षित मोहकर्म और तिमिर शब्दका अर्थ ज्ञानावरणादि कर्म है। जब इन दोनोंका अपहरण–अभाव हो जाता है तभी इस जीवको सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति होती है। तात्पर्य यह है कि दर्शनमोहकर्मका अभाव होनेसे तो सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है और ज्ञानावरणादिके अभावसे सम्यग्ज्ञान प्राप्त होता है। ज्ञानावरणके अभाव—क्षयोपशमसे जो ज्ञान उत्पन्न होता है वही सम्यग्दर्शनके प्रसादसे सम्यग् व्यवहारको प्राप्त होता है। इस प्रकार जो सम्यग्दृष्टि और सम्यग्ज्ञानी बन गया है ऐसा भव्य जीव चारित्रमोहका अभाव होनेपर रागद्वेषको दूर करनेके लिये चारित्रको प्राप्त होता है।

भावार्थ :—मिथ्यात्वरूप अंधकार दूर होने पर दर्शनमोहनीय और अनंतानुबंधीकषायका (चारित्र मोहनीयका) उपशम, क्षयोपशम या क्षय होने पर सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होनेसे जिसका ज्ञान सम्यग्ज्ञान हुआ है ऐसा भव्य आत्मा, राग-द्वेषको दूर करनेके लिए चारित्र अंगीकार करता है।

इस श्लोकमें आचार्यदेवने मुख्य दो बातें दर्शायी हैं :—(१) चारित्र धारण करनेवालेकी योग्यता और (२) चारित्र धारण करनेका उद्देश्य। जब जीवको सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति होती है, तब ही वह सम्यक्चारित्र धारण करनेका पात्र बनता है; इसके सिवाय उसका चारित्र मिथ्याचारित्र नाम पाता है। राग–द्वेषादिका अभाव करना वह सम्यक्चारित्र धारण करनेका उद्देश्य[1] है।

जैसे जिस समय अंधकार नाश होता है उसी समय प्रकाश उत्पन्न होता है, (अंधकारका नाश और प्रकाशका उत्पाद दोनों एक समयमें होते हैं) जिस समय दर्शन मोहादिका अभाव होता है उसी समय सम्यक्त्वकी उत्पत्ति होती है, और जिस समय सम्यक्त्वकी उत्पत्ति होती है उसी समय पूर्वके मति अज्ञान और श्रुत अज्ञान–दोनों सम्यक्रूपसे परिणमते हैं।

जिस प्रकार बादलोंका अभाव होनेके साथ ही (युगपद्) सूर्यका प्रताप और प्रकाश

---

१. देखो पु.सि.उ. श्लोक ३७-३८

तन्निवृत्तावेव हिंसादिनिवृत्तेः संभवादित्याह—

दोनोंका एक साथ आविर्भाव होता है। उसी प्रकार मिथ्यात्वका अभाव होते ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दोनोंकी एक साथ ही प्राप्ति होती है।[१]

विशेष

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान एक साथ (युगपद्) उत्पन्न होते हैं, फिर भी ये दोनों अलग–अलग हैं, क्योंकि दोनोंके लक्षण भिन्न भिन्न हैं। सम्यग्दर्शनका लक्षण श्रद्धान करना और सम्यग्ज्ञानका लक्षण जानना है, और इन दोनोंमें कारण–कार्य भावका भी भेद है। सम्यग्दर्शन कारण है और सम्यग्ज्ञान कार्य है।[२] जिस प्रकार दीपककी ज्योति और प्रकाश दोनो एक साथ प्रगट होते हैं, तो भी लोग ऐसा कहते हैं कि दीपककी ज्योतिसे प्रकाश हुआ, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान भी एक साथ उत्पन्न होते हैं तो भी दोनोंमें कारण–कार्यभाव है, अर्थात् सम्यग्दर्शनके निमित्तसे सम्यग्ज्ञान उत्पन्न होता हैं। जब तक सम्यग्दर्शन नहीं होता, तब तक ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं कहलाता। सम्यग्दर्शन कारण और सम्यग्ज्ञान कार्य है।[३] ४७।

उनकी (राग–द्वेषादिकी) निवृत्ति होने पर ही हिंसादिकी निवृत्ति संभव है—ऐसा कहते हैं—

---

१. यदाऽस्य दर्शनमोहस्योपशमात्क्षयोपशमाद्वा आत्मा सम्यग्दर्शनपर्यायेणाविर्भवति, तदैव तस्य मत्यज्ञान श्रुताज्ञाननिवृत्तिपूर्वकं मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं चाविर्भवति। घनपटल विगमे सवितुः प्रताप-प्रकाशाभिव्यक्तिवत्। (सर्वार्थसिद्धि १–१)

२. सम्यक् साथै ज्ञान होय, पै भिन्न अराधौ,
लक्षण श्रद्धा जान, दुहूमें भेद अबाधौ;
सम्यक् कारण जान, ज्ञान कारज है सोई,
युगपत् होते हू, प्रकाश दीपकतैं होई. १. (छहढाला ४–१)

३. सम्यग्ज्ञानं कार्यं सम्यक्त्वं कारणं वदन्ति जनाः।
ज्ञानाराधनमिष्टं सम्यक्त्वानन्तरं तस्मात्॥३३॥
कारणकार्यविधानं समकालं जायमानयोरपि हि।
दीपप्रकाशयोरिव सम्यक्त्वज्ञानयोः सुघटम्॥३४॥
[पुरुषार्थसिद्ध्युपाय–श्री अमृतचंद्राचार्य]

रागद्वेषनिवृत्तेर्हिंसादिनिवर्त्तना कृता भवति।
अनपेक्षितार्थवृत्तिः कः पुरुषः सेवते नृपतीन्॥४८॥

'हिंसादेः निवर्तना' व्यावृत्तिः कृता भवति। कुतः? 'रागद्वेषनिवृत्तेः'। अयमत्र तात्पर्यार्थः—प्रवृत्तरागादिक्षयोपशमादेः हिंसादिनिवृत्तिलक्षणं चारित्रं भवति। ततो भाविरागादिनिवृत्तेरेवं प्रकृष्टतरप्रकृष्टतमत्वाद् हिंसादि निवर्तते। देशसंयतादिगुणस्थाने रागादिहिंसादिनिवृत्तिस्तावद्वर्तते यावन्निःशेषरागादिप्रक्षयः तस्माच्च निःशेषहिंसादिनिवृत्तिलक्षणं परमोदासीनतास्वरूपं परमोत्कृष्टचारित्रं भवतीति। अस्यैवार्थस्य समर्थनार्थमर्थान्तरन्यास-माह—'अनपेक्षितार्थवृत्तिः कः पुरुषः सेवते नृपतीन्' अनपेक्षिताऽनभिलषिता अर्थस्य प्रयोजनस्य फलस्य वृत्तिः प्राप्तिर्येन स तथाविधः पुरुषः को, न कोऽपि प्रेक्षापूर्वकारी, सेवते नृपतीन्॥४८॥

श्लोक ४८

रागद्वेष दूर होनेसे हिंसादिक पाप स्वतः दूर होते हैं।

अन्वयार्थ—[रागद्वेषनिवृत्तेः] राग और द्वेषकी निवृत्ति हो जानेसे [हिंसादिनिवर्त्तना] हिंसादिक पापोंकी निवृत्ति [कृता] (स्वयमेव) हो जाती [भवति] है [अनपेक्षितार्थवृत्तिः] जिसे किसी भी प्रयोजनकी प्राप्तिकी अभिलाषा नहीं है ऐसा [कः पुरुषः] कौन पुरुष [नृपतीन्] राजाकी [सेवते] सेवा करता है॥४८॥

टीकार्थ—रागद्वेषकी निवृत्तिसे हिंसादि पापोंकी निवृत्ति स्वतः हो जाती है। इसका तात्पर्य यह है कि वर्तमानमें जो रागादिक भाव चल रहे हैं उनका क्षयोपशमादि होनेपर हिंसादिपापोंका त्यागरूप चारित्र होता है। तदनन्तर आगामीकालमें होनेवाले रागादिकभावोंकी निवृत्ति भी इसी तरह आगे-आगे प्रकृष्टसे प्रकृष्टतर और प्रकृष्टतम होती जाती है। ऐसा होनेसे हिंसादि पाप स्वयं निवृत्त होते जाते हैं-छूटते जाते हैं। देशसंयतादि गुणस्थानोंमें रागादि भाव तथा हिंसादि पापोंकी निवृत्ति वहाँ तक होती रहती है जहाँ तक कि समस्त रागादिका क्षय और उससे होनेवाले समस्त हिंसादि पापोंके त्यागरूप लक्षणसे युक्त परम उदासीनतास्वरूप परमोत्कृष्ट चारित्र होता है। इसी अभिप्रायका समर्थन करनेके लिये अर्थान्तरन्यास द्वारा दृष्टान्त दिया है कि जिसे कभी प्रयोजनरूप फलकी प्राप्ति अपेक्षित नहीं है ऐसा कौन पुरुष राजाओंकी सेवा करता है। अर्थात् कोई बुद्धिमान मनुष्य नहीं करता।

अत्रापरः प्राह—चरणं प्रतिपद्यतं इत्युक्तं तस्य तु लक्षणं नोक्तं तदुच्यतां, इत्याशंक्याह—

भावार्थ :—राग–द्वेषकी निवृत्ति होनेसे (अर्थात् भावहिंसा दूर होने पर) हिंसादिक पाँच पापके त्यागरूप चारित्रकी स्वयं उत्पत्ति होती है। जिसे धन प्राप्तिकी ईच्छा नहीं हो वह पुरुष राजाकी सेवा क्यों करे? नहीं करता; उसी प्रकार जिस पुरुषको राग–द्वेषका अभाव है वह हिंसादि पाप कार्य क्यों करे? नहीं करता।

विशेष

हिंसाके दो प्रकार हैं—एक भावहिंसा और दूसरी द्रव्यहिंसा। प्रमत्तयोग अर्थात् रागादिभावकी उत्पत्तिको भावहिंसा कहते हैं और स्वयं या पर जीवके द्रव्यप्राणोंके अभाव–वियोग–घातको द्रव्यहिंसा कहते हैं।

श्री अमृतचन्द्राचार्य 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय'में अहिंसा–हिंसाका लक्षण दर्शाते कहते हैं कि—''अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति। तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः'' ॥44॥

वास्तवमें रागादिका प्रगट नहीं होना वह ही अहिंसा है और रागादि भावोंकी उत्पत्ति होना वह हिंसा है। यह जैन आगमका (जैन सिद्धान्तका) संक्षिप्त रहस्य है।

आगे कहते हैं कि केवल द्रव्यप्राणोंकी हिंसा वह वास्तवमें हिंसा नहीं।

''युक्ताचरणस्य सतो रागाद्यावेशमन्तरेणापि। न हि भवति जातु हिंसा प्राणव्यपरोपणादेव ''॥४५॥

योग्य आचरणवाले (समितिपूर्वक आचरण करनेवाले) सत् पुरुषको (मुनिको), रागादिके आवेश बिना,केवल द्रव्यप्राणोंके वियोगसे ही हिंसा नहीं होती।

इससे स्पष्ट है कि वास्तवमें भावहिंसा ही हिंसा है। द्रव्यहिंसा वह हिंसा नहीं, क्योंकि प्रमत्तयोगवाले पुरुषको अंतरंगमें भावहिंसा है, जिससे बाहरमें द्रव्यहिंसा नहीं होने पर भी उसे हिंसाका पाप लगता है और कर्मका बंध होता है, किन्तु समितिपूर्वक आचरण करनेवाले मुनिको भावहिंसाका अभाव होनेसे उनके पैरके नीचे कोई जीव अचानक आकर मर जाए तो द्रव्यहिंसा होती है तो भी उससे उन्हें रंचमात्र भी बंध नहीं होता, क्योंकि कर्मबंधका नियम द्रव्यहिंसा अनुसार नहीं परंतु भावहिंसा अनुसार है।

तत्त्वार्थसूत्रमें श्री उमास्वामीने कहा है कि—''प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा''।

प्रमत्तयोगसे भाव तथा द्रव्यप्राणोंका घात (वियोग) वह हिंसा है, अर्थात् अकेला द्रव्यप्राणोंका घात होना वह हिंसा नही, परंतु प्रमत्तयोगसे (स्वरूपकी असावधानीसे रागादिकी

हिंसानृतचौर्य्येभ्यो मैथुनसेवापरिग्रहाभ्यां च।
पापप्रणालिकाभ्यो विरतिः संज्ञस्य चारित्रम्॥४९॥

'चारित्रं' भवति। कासौ? 'विरतिः' व्यावृत्तिः। केभ्यः? 'हिंसानृतचौर्येभ्यः' हिंसादीनां स्वरूपकथनं स्वयमेवाग्रे ग्रन्थकारः करिष्यति। न केवलमेतेभ्य एव विरतिः—अपि तु 'मैथुनसेवापरिग्रहाभ्यां'। एतेभ्यः कथंभूतेभ्यः? 'पापप्रणालिकाभ्यः' पापस्य प्रणालिका इव पापप्रणालिका आस्रवणद्वाराणि ताभ्यः। कस्य तेभ्यो विरतिः? 'संज्ञस्य' सम्यग्जानातीति संज्ञः तस्य हेयोपादेयतत्त्वपरिज्ञानवतः॥४९॥

उपाधिसे) चैतन्यप्राणोंका घात हुआ वह हिंसा है। प्रमत्तयोग वह हिंसाका वास्तविक कारण है। द्रव्यप्राणोंका घात होना यह हिंसाका वास्तविक कारण नहीं है। ४८

यहाँ कोई कहता है—'चारित्र अंगीकार करता है' ऐसा कहा, किन्तु उसका लक्षण तो कहा नहीं, अतः उसे कहो—ऐसी आशंका कर कहते हैं।

श्लोक ४९

सम्यक्चारित्रका लक्षण

अन्वयार्थ—[पापप्रणालिकाभ्यः] पापोंकी नालीके समान [हिंसानृतचौर्य्येभ्यो] हिंसा, असत्य और चोरीसे [च] तथा [मैथुनसेवापरिग्रहाभ्याम्] कुशील और परिग्रहसे [विरतिः] विरक्त होना यह [संज्ञस्य] सम्यग्ज्ञानीका [चारित्रम्] सम्यक्चारित्र है॥४९॥

टीकार्थ—हेय और उपादेय तत्त्वोंके ज्ञानसे युक्त जीवकी, पापके पनालों—गन्दा पानी बहानेवाले गटरोंके समान हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुनसेवन और परिग्रहसे निवृत्ति होना चारित्र कहलाता है।

भावार्थ:—पापके कारणभूत हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह—ये पाँच पापोंसे (एकदेश या सर्वदेश) विरक्त होवे अर्थात् स्वयंके वीतरागभावके द्वारा त्याग वह सम्यग्ज्ञानीका सम्यक्चारित्र है।

जो हिंसादि पापभाव होते हैं उनसे विरति होने पर ही-विरक्त भाव होने पर ही हिंसादि द्रव्यक्रियाओंका स्वयं त्याग हो जाता है। इनका त्याग करना यह व्यवहारनयका कथन है। वास्तवमें जीव परद्रव्योंका ग्रहण–त्याग कर ही नहीं सकता है। अज्ञान अवस्थामें अशुद्ध निश्चयनयसे ग्रहण–त्यागका मात्र भाव कर सकता है, ज्ञान अवस्थामें पर पदार्थ और उनके

तच्चेत्थंभूतं चारित्रं द्विधा भिद्यत इत्याह—

सकलं विकलं चरणं तत्सकलं सर्वसंगविरतानाम्।
अनगाराणां विकलं सागाराणां ससंगानाम्॥५०॥

हिंसादिविरतिलक्षणं 'यच्चरणं' प्राक्प्ररूपितं तत् सकलं विकलं च भवति। तत्र

ग्रहण–त्यागके विकल्प दोनों स्वयंके ज्ञानमें ज्ञेयरूपसे ही प्रवर्तते हैं।

चारित्ररूप सच्चा त्यागभाव हेय–उपादेय तत्त्वोंको सम्यक्प्रकारसे जाननेवाले ज्ञानीको ही होता है। मिथ्यादृष्टि–अज्ञानीको नहीं होता।

पुरुषार्थ सिद्धि–उपायमें कहा है कि—"अज्ञानपूर्वक चारित्र सम्यक् नाम नहीं पाता, इसलिए पहले सम्यग्ज्ञानकी और फिर सम्यक्चारित्रकी आराधना करना कहा है[1]।"

अर्थात् सम्यग्दर्शनपूर्वकके सम्यग्ज्ञान बिना जो बाह्य चारित्र होता है वह सब बालचारित्र या मिथ्याचारित्र कहलाता है।

श्रावकको एकदेश वीतरागता होनेसे निमित्त–नैमित्तिक संबंध अनुसार जो व्रतका पालन होता है, उसे व्यवहारचारित्र कहते हैं और वह एकदेश वीतरागताके साथ हेय–बुद्धिसे होता है। ४९

ऐसे चारित्रके दो प्रकारसे भेद पड़ते हैं—ऐसा कहते हैं।—

श्लोक ५०
सम्यक्चारित्रके भेद

अन्वयार्थ—[तत् चरणम्] वह सम्यक्चारित्र [सकलं विकलम्] सकलरूप और विकलरूप इस तरह दो प्रकार है, [सर्वसंगविरतानाम्] समस्त परिग्रहसे रहित [अनगाराणाम्] मुनियोंके [सकलम्] सकलचारित्र होता है [ससंगानाम्] परिग्रह सहित [सागाराणाम्] गृहस्थोंके [विकलम्] एकदेशचारित्र होता है॥५०॥

टीकार्थ—हिंसादि पापोंके परित्यागरूप लक्षणसे युक्त जिस चारित्रका पहले वर्णन किया गया है वह सकल और विकलके भेदसे दो प्रकारका होता है। उनमें सकलचारित्र

---

१. न हि सम्यग्व्यपदेशं चारित्रमज्ञानपूर्वकं लभते।
ज्ञानान्तरमुक्तं चारित्राराधनं तस्मात्॥३८॥ (पुरुषार्थसिद्धिउपाय–३८)

'सकलं' परिपूर्णं महाव्रतरूपं। केषां तद्भवति? 'अनगाराणां' मुनीनां। किंविष्टानां 'सर्वसंगविरतानां' बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहरहितानां। 'विकलम' परिपूर्णं अणुव्रतरूपं। केषां तद्भवति 'सागाराणां' गृहस्थानां। कथंभूतानां? 'ससंगानां' सग्रन्थानाम् ॥५०॥

पूर्णचारित्र कहलाता है, जो महाव्रतरूप होता है तथा बाह्याभ्यन्तर परिग्रहसे रहित मुनियोंके होता है। विकलचारित्र एकदेशचारित्र कहलाता है, जो अणुव्रतरूप होता है और परिग्रहसहित गृहस्थोंके होता है।

भावार्थ :—पहले हिंसादिके त्यागरूप जो चारित्र कहा है उसके दो प्रकार हैं—सकलचारित्र और विकलचारित्र। सकल (सर्वदेश) चारित्र हिंसादिके परिपूर्ण त्यागरूप सर्व विरतिरूप–महाव्रत होता है और वह क्षेत्र, वास्तु, हिरण्यादि दस प्रकारके बाह्य परिग्रह और मिथ्यात्व, कषायादि चौदह प्रकारके अभ्यन्तर परिग्रह—ऐसे चौबीस परिग्रहसे रहित मुनियोंको होता है। विकलचारित्र हिंसादिके एकदेश विरतीरूप–त्यागरूप–अणुव्रतरूप होता है और यह गृहादि एकदेश परिग्रह सहित गृहस्थोंको होता है।

विशेष

जो मुनि अभ्यंतर परिग्रहसे रहित न हो और मात्र बाह्य परिग्रहसे ही रहित हो तो ऐसे मुनिको मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी मुनि कहा है।

पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावकके संबंधमें भी ऐसा ही समझना। जो उसे अभ्यंतर परिग्रह अर्थात् मिथ्यात्व, अनंतानुबंधी और अप्रत्याख्यान संबंधी क्रोध–मान–माया–लोभ नहीं छूटा हो और मात्र बाह्य एकदेश परिग्रहका ही त्याग हो तो वह भी मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी श्रावक कहलाता है।

श्री समयसार गाथा ४१४की टीकामें श्री जयसेनाचार्य ने कहा है कि—''.....शालितंदुलमें बहिरंग तुष विद्यमान होने पर, अभ्यंतर तुषका त्याग हो सकता नहीं है। अभ्यंतर तुषका त्याग होने पर, बहिरंग तुषका त्याग नियमसे होता ही है। इस न्यायसे सर्व संगके परित्यागरूप बहिरंग द्रव्यलिंग होता है, उसे भावलिंग हो या नहीं हो नियम नहीं। परंतु अभ्यंतरमें भावलिंग होनेसे सर्वसंगके परित्यागरूप द्रव्यलिंग होता ही है....[1]'' ५०।

---

१. ''न हि शालितंदुलस्य बहिरंगतुषे विद्यमाने सत्यभ्यंतरतुषस्य त्यागः कर्तृमायाति। अभ्यंतरतुषत्यागे सति बहिरंग तुषत्यागो नियमेन भवत्येव। अनेन न्यायेन सर्वसंगपरित्यागरूपे बहिरंग द्रव्यलिंगे सति भावलिंगं भवति न भवति वा नियमो नास्ति, अभ्यंतरे तु भावलिंगे सति सर्वसंगपरित्यागरूपं द्रव्यलिंगं भवत्येवेति.....'' (श्री समयसार गाथा ४१४ श्री जयसेनाचार्यकृत टीका पृष्ठ ५३९)

तत्र[1] विकलमेव तावच्चारित्रं व्याचष्टे—

गृहिणां त्रेधा तिष्ठत्यणु-गुण-शिक्षाव्रतात्मकं चरणम्।
पञ्च-त्रि-चतुर्भेदं त्रयं यथासङ्ख्यमाख्यातम्॥५१॥

'गृहिणां' सम्बन्धि यत् विकलं चरणं तत् 'त्रेधा' त्रिप्रकारं। 'तिष्ठति' भवति। किं विशिष्टं सत्? 'अणुगुणशिक्षाव्रतात्मकं' सत् अणुव्रतरूपं गुणव्रतरूपं शिक्षाव्रतरूपं सत्। त्रयमेव। तत्प्रत्येकं। 'यथासंख्यं'। 'पंचत्रिचतुर्भेदमाख्यातं' प्रतिपादितं। तथा हि—अणुव्रतं पंचभेदं गुणव्रतं त्रिभेदं शिक्षाव्रतं चतुर्भेदमिति॥५१॥

तत्राणुव्रतस्य तावत्पंचभेदान् प्रतिपादयन्नाह—

उसमें प्रथम विकलचारित्र कहते हैं—

श्लोक ५१
विकल चारित्रके भेद

अन्वयार्थ—[गृहिणाम्] गृहस्थोंका [चरणम्] चारित्र [अणुगुणशिक्षाव्रतात्मकम्] अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रतरूप [त्रेधा] तीन प्रकारका [तिष्ठति] है [त्रयम्] वे तीनों भेद [यथासंख्यम्] यथाक्रमसे [पञ्चत्रिचतुर्भेदम्] पांच, तीन और चार प्रकारके [आख्यातम्] कहे गये हैं॥५१॥

टीकार्थ—गृहस्थोंका जो विकलचारित्र है वह अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रतरूप होता हुआ तीन प्रकारका है। और उन तीनोंमें प्रत्येक क्रमसे पाँच, तीन और चार भेदोंसे युक्त कहा गया है। अर्थात् अणुव्रत पाँच प्रकारका, गुणव्रत तीन प्रकारका और शिक्षाव्रत चार प्रकारका है।

भावार्थ :—गृहस्थोंका विकल (एकदेश) चारित्र तीन प्रकारका है—अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रत। और प्रत्येकके अनुक्रमसे पाँच, तीन और चार भेद हैं, अर्थात् अणुव्रतके पाँच भेद, गुणव्रतके तीनभेद और शिक्षाव्रतके चार भेद हैं। जो गृहवास छोड़नेके लिए असमर्थ है, वह सम्यग्दृष्टि घरमें ही रहकर उपरोक्त बारह प्रकारका व्यवहारचारित्र पाल सकता है। ५१

प्रथम अणुव्रतके पाँच भेदका प्रतिपादन करके कहते हैं—

---

१. तद इति ग पुस्तके।

प्राणातिपातवितथव्याहारस्तेयकाममूर्च्छाभ्यः।
स्थूलेभ्यः पापेभ्यो व्युपरमणमणुव्रतं भवति॥५२॥

'अणुव्रतं' विकलव्रतं। किं तत्? 'व्युपरमणं' व्यावर्तनं यत्। केभ्यः इत्याह- 'प्राणेत्यादि', प्राणानामिन्द्रियादीनामतिपातश्चातिपतनं वियोगकरणं विनाशनं। 'वितथव्याहारश्च' वितथोऽसत्यः स चासौ व्याहारश्च शब्दः। 'स्तेयं' च चौर्यं। 'कामश्च' मैथुनं। 'मूर्च्छा' च परिग्रहः मूर्च्छा च मूर्च्छ्यते लोभावेशात् परिगृह्यते इति मूर्च्छा इति व्युत्पत्तेः। तेभ्यः। कथंभूतेभ्यः? 'स्थूलेभ्यः'। अणुव्रतधारिणो हि सर्वसावद्यविरतेरसंभवात् स्थूलेभ्य एव हिंसादिभ्यो व्युपरमणं भवति। स हि त्रसप्राणातिपातान्निवृत्तो न स्थावरप्राणातिपातात्। तथा पापादिभयात् परपीडादिकारणमिति मत्वा स्थूलादसत्यवचन्निवृत्तो न तद्विपरीतात्। तथान्यपीडाकरात् राजादिभयादिना परेण परित्यक्तादप्यदत्तार्थात् स्थूलान्निवृत्तो न तद्विपरीतात्। तथा उपात्ताया अनुपात्ताश्च पराङ्गनायाः पापभयादिना निवृत्तो

श्लोक ५२
अणुव्रतका स्वरूप

अन्वयार्थ—[स्थूलेभ्यः] स्थूल [प्राणातिपातवितथव्याहारस्तेयकाममूर्च्छाभ्यः] हिंसा, असत्यवचन, चोरी, मैथुन और परिग्रहरूप [पापेभ्यः] पापोंसे [व्युपरमणम्] विरक्त होना [अणुव्रतम्] अणुव्रत [भवति] होता है॥५२॥

टीकार्थ—इन्द्रियादि प्राणोंका वियोग करना प्राणातिपात है, असत्य वचन बोलना वितथ व्यवहार है, स्वामीकी आज्ञाके बिना किसी वस्तुका ग्रहण करना स्तेय है, मैथुन करना काम है और लोभके आवेशसे बाह्यपदार्थका ग्रहण करना मूर्च्छा अथवा परिग्रह है। ये पाँच पाप स्थूल और सूक्ष्मकी अपेक्षा दो प्रकारके हैं। इनमें स्थूल पापोंसे विरत होना अणुव्रत कहलाता है। अणुव्रतधारी जीवोंके सूक्ष्म पापोंका त्याग असम्भव रहता है, इसलिये स्थूल हिंसादिके त्यागको ही अणुव्रत कहते हैं। जैसे अहिंसाणुव्रतका धारी पुरुष त्रसहिंसासे तो निवृत्त होता है परन्तु स्थावरहिंसासे निवृत्त नहीं होता। सत्याणुव्रतका धारक पुरुष, पापादिकके भयसे परपीड़ाकारक स्थूल असत्यवचनसे निवृत्त होता है, सूक्ष्म असत्य वचनसे नहीं। अचौर्याणुव्रतका धारी पुरुष राजादिकके भयसे दूसरेके द्वारा छोड़े हुए स्थूल अदत्तवस्तुके ग्रहणसे निवृत्त होता है, सूक्ष्मसे नहीं। ब्रह्मचर्याणुव्रतका धारक पुरुष पापके भयसे दूसरेकी गृहीत अथवा अगृहीत

नान्यथा इति स्थूलरूपाऽब्रह्मनिवृत्तिः। तथा धनधान्यक्षेत्रादेरिच्छावशात् कृतपरिच्छेदा इति स्थूलरूपात् परिग्रहान्निवृत्तिः। कथंभूतेभ्यः प्राणातिपातादिभ्यः? 'पापेभ्यः' पापास्रवण-द्वारेभ्यः॥५२॥

स्त्रीसे निवृत्त होता है, स्वस्त्रीसे नहीं। इसी प्रकार परिग्रहपरिमाणाणुव्रतका धारक पुरुष, धन्यधान्य तथा क्षेत्रादि परिग्रहका अपनी इच्छानुसार परिमाण करता है इसलिये स्थूल परिग्रहसे ही निवृत्त होता है, सूक्ष्मसे नहीं। ये प्राणातिपात—हिंसा आदि कार्य पाप हैं क्योंकि पापकर्मोंके आस्त्रव—द्वार हैं—इनके निमित्तसे जीवके सदा कर्मोंका आस्त्रव होता रहता है।

भावार्थ :—हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रहके एकदेश अर्थात् स्थूल त्यागको अणुव्रत कहते हैं उसके पाँच भेद है—

(१) अहिंसाणुव्रत, (२) सत्याणुव्रत, (३) अचौर्याणुव्रत, (४) ब्रह्मचर्याणुव्रत और (५) परिग्रहपरिमाणाणुव्रत

अणुव्रती त्रस जीवोंकी रक्षाके भाव कर सकते हैं परंतु स्थावर जीवोंकी रक्षाके भाव नहीं कर सकते। उस श्रावकको संकल्पी हिंसाका त्याग नियमसे होता है; परन्तु आरंभी, उद्योगी और विरोधी हिंसाका त्याग नहीं होता।

राज्य या समाज दंडित करे, लोकमें अपकीर्ति हो या जीवका घात होवें ऐसा असत्य वचन बोले नहीं, परंतु हास्य–मश्करीमें कभी झूठ बोले तो उससे व्रतका भंग नहीं होता।

समाज या राज्य उसे चोर ठहरावे वैसा चोरीका कार्य नहीं करे, किसीकी रास्तेमें पड़ी हुई चीज उठावे नहीं या किसीके दिये बिना चीज ले नहीं, परंतु सभीके उपयोगके लिए जो चीजें है जैसे मिट्टी, पानी, हवा वगेरे खुल्ली पड़ी हो उसे बिना किसीके दिये ही ले सकता है। उसे विवाहित या अविवाहित पर स्त्रीका त्याग होता है, परंतु स्वयंकी स्त्रीका त्याग नहीं होता है।

धन–धान्यादिक दश प्रकारके परिग्रहका परिमाणका अपनी आवश्यकतानुसार निर्णय (नक्की) करता है। निर्णय (नक्की) करनेके बाद मर्यादासे बाहरकी चीजोंका उसे त्याग होता है।

इस प्रकार अणुव्रतीको पाँचो पापोंका स्थूलरूपसे त्याग होता है। (अणुव्रतका पालन करनेसे, उसे राज्य या समाजके नीति–नियमोंका सहज ही पालन हो जाता है, वह राज्य या समाजका कभी गुन्हेगार नहीं बनता है।)

तत्राद्यव्रतं व्याख्यातुमाह—

सङ्कल्पात्कृतकारितमननाद्योगत्रयस्य चरसत्त्वान्।
न हिनस्ति यत्तदाहुः स्थूलवधाद्विरमणं निपुणाः॥५३॥

'चरसत्त्वान्' त्रसजीवान्। 'यन्न हिनस्ति'। तदाहुः 'स्थूलवधाद्विरमणं'। के ते? 'निपुणाः' हिंसादिविरतिव्रतविचारदक्षाः। कस्मान्न हिनस्ति? 'संकल्पात्'[1] संकल्पं हिंसाभिसंधिमाश्रित्य। कथंभूतात् संकल्पात्? 'कृतकारितानुमननात्' कृतकारितानुमनन-

---

त्रस जीवोंकी संकल्पी हिंसाका त्याग वह स्थूल हिंसाका त्याग है, जिन वचनोंको बोलनेसे अन्य प्राणीयोंका घात हो, धर्म बिगड़ जाए, अन्यको अपवाद लगे, कलह–संकलेश–भयादिक प्रगटे, वचनोंको क्रोधादि वश नहीं बोलना वह स्थूल असत्यका त्याग है; बिना दिये अन्यका धन लोभवश छल करके ग्रहण नहीं करना वह स्थूल चोरीका त्याग है; स्वयंकी विवाहित स्त्री सिवाय समस्त अन्यकी स्त्रीयोंमें कामकी अभिलाषाका त्याग वह स्थूल काम (मैथुन)का त्याग है; धन–धान्यादि दश प्रकारके परिग्रहका परिमाण करके उससे अधिक परिग्रहका त्याग वह स्थूल परिग्रहका त्याग है।

''आत्माके शुद्धोपयोगरूप परिणामोंके घात होनेके हेतुसे ये सभी (हिंसादि पाँच पाप) हिंसा ही हैं। अनृत (झूठ) वचनादिकका भेद केवल शिष्योंको समझानेके लिए उदाहरणरूप कहा है। ५२.

अब प्रथम व्रतका (अहिंसाणुव्रतका) व्याख्यान करते हुए कहते हैं—

श्लोक ५३
अहिंसाणुव्रतका स्वरूप

अन्वयार्थ—[यत्] जो [योगत्रयस्य] मन, वचन और काय संबंधी [कृतकारितमननात्] कृत, कारित और अनुमोदनारूप [संकल्पात्] संकल्पसे [चरसत्त्वान्] त्रस जीवोंको [न हिनस्ति] नहीं मारता है [तत्] उसको [निपुणाः] अहिंसा तत्त्वको जाननेवाले पुरुष [स्थूलवधात्] स्थूलहिंसासे [विरमणम्] विरक्ति अर्थात् अहिंसाणुव्रत [आहुः] कहते हैं॥५३॥

टीकार्थ—'मैं इस जीवको मारूँ' इस अभिप्रायसे जो हिंसा होती है उसे संकल्प कहते हैं। यह संकल्प मन, वचन और काय तीनों योगोंकी कृत कारित तथा अनुमोदनारूप

---

१. संकल्पात्—हिंसाभिसन्धिमाश्रित्य ग घ पुस्तकयोः।

रूपात्। कस्य सम्बन्धिनः? 'योगत्रयस्य' मनोवाक्कायत्रयस्य। अत्र कृतवचनं कर्तुः स्वातंत्र्यप्रतिपत्त्यर्थं। [२]कारितानुविधानं परप्रयोगापेक्षमनुवचनं। [३]अनुमननवचनं प्रयोजकस्य मानसपरिणामप्रदर्शनार्थं। तथा हि—मनसा चरसत्त्वहिंसां स्वयं न करोमि, चरसत्त्वान् हिनस्मीति मनःसंकल्पं न करोमीत्यर्थः। मनसा चरसत्त्वहिंसामन्यं न कारयामि, चरसत्त्वान् हिंसय हिंसयेति मनसा प्रयोजको न भवामीत्यर्थः। तथा अन्यं चरसत्त्वहिंसां कुर्वन्तं मनसा नानुमन्ये, सुन्दरमनेन कृतमिति मनःसंकल्पं न करोमीत्यर्थः। एवं वचसा स्वयं चरसत्त्वहिंसां न करोमि चरसत्त्वान् हिनस्मीति स्वयं वचनं नोच्चारयामीत्यर्थः। वचसा चरसत्त्वहिंसां न कारयामि चरसत्त्वान् हिंसय हिंसयेति वचनं नोच्चारयामीत्यर्थः। तथा वचसा चरसत्त्वहिंसां कुर्वन्तं नानुमन्ये, साधुकृतं त्वयेति वचनं नोच्चारयामीत्यर्थः। तथा कायेन चरसत्त्वाहिंसां न करोमि, चरसत्त्वहिंसने दृष्टिमुष्टिसन्धाने स्वयं कायव्यापारं न करोमीत्यर्थः।

परिणतिसे होता है। किसी कार्यको स्वतन्त्रता पूर्वक स्वयं करना कृत है, दूसरेसे कराना कारित है और करनेवालेके लिए अपने मानसिक परिणामोंको प्रकट करते हुए अनुमतिके वचन कहना अनुमोदना है। यह कृत, कारित और अनुमोदना, मन–वचन–कायरूप तीनों योगोंमें उत्पन्न होती है। इसलिये संकल्पके नौ विकल्प हो जाते हैं। इन सभी विकल्पोंसे जो त्रसजीवोंकी हिंसा नहीं करना वह अहिंसाणुव्रत है, ऐसा वस्तुस्वरूपके विचार करनेमें निपुण आचार्य कहते हैं। उपर्युक्त नौ प्रकारके संकल्पोंका विवरण इस प्रकार है—१. मैं मनसे त्रसजीवोंकी हिंसाको स्वयं नहीं करता हूँ अर्थात् 'मैं त्रसजीवोंको मारूँ' ऐसा मनसे संकल्प नहीं करता हूँ। २. दूसरे जीवसे त्रसहिंसा नहीं कराता हूँ अर्थात् 'तुम त्रसजीवोंको मारो मारो' ऐसा संकल्प मनसे नहीं करता हूँ। ३. तथा त्रसजीवोंकी हिंसा करते हुए किसी जीवकी मनसे अनुमोदना नहीं करता हूँ अर्थात् 'इसने यह कार्य अच्छा किया' ऐसा मनसे संकल्प नहीं करता हूँ। इसी प्रकार ४. वचनसे मैं स्वयं त्रसजीवकी हिंसा नहीं करता हूँ अर्थात् 'मैं त्रसजीवोंको मारूँ' ऐसे वचन नहीं बोलता हूँ। ५. वचनसे दूसरोंके द्वारा त्रसजीवोंकी हिंसा नहीं कराता हूँ' अर्थात् 'तुम त्रसजीवोंको मारो मारो' ऐसे वचनोंका उच्चारण नहीं करता हूँ। तथा ६. त्रसजीवोंकी हिंसा करते हुए किसी अन्य पुरुषकी वचनसे अनुमोदना नहीं करता हूँ अर्थात् 'तुमने अच्छा किया' ऐसे वचनोंका उच्चारण नहीं करता हूँ। इसी प्रकार ७. कायसे त्रसजीवोंकी हिंसाको स्वयं नहीं

---

२. कारितानिधानं ग घ पुस्तकयोः।

३. अनुवचनं ख पुस्तके। अनुमननं वचनं ग पुस्तके। अनुमतवचन घ०।

तथा कायेन चरसत्त्वहिंसां न कारयामि, चरसत्त्वहिंसने कायसंज्ञया परं न प्रेरयामीत्यर्थः[१]। तथा चरसत्त्वहिंसां कुर्वन्तमन्यं नखच्छोटिकादिना कायेन नानुमन्ये। इत्युक्तम-हिंसाणुव्रतम् ॥५३॥

करता हूँ अर्थात् स्वयं आँखोंसे संकेत करना तथा मुट्ठी बाँधना आदि शारीरिक व्यापारको नहीं करता हूँ। ८. शरीरसे, दूसरेके द्वारा त्रसजीवोंकी हिंसा नहीं कराता हूँ अर्थात् शरीरके संकेतसे दूसरेको प्रेरित नहीं कराता हूँ। तथा ९. त्रसजीवोंकी हिंसा करते हुए किसी अन्य पुरुषको चुटकी बजाना आदि शरीरके व्यापारसे अनुमति नहीं देता हूँ।

भावार्थ :—मनसे कृत, कारित और अनुमोदनारूप, वचनसे कृत, कारित और अनुमोदनारूप, तथा कायासे कृत, कारित और अनुमोदनारूप ऐसे नौ संकल्पोंसे इरादापूर्वक त्रस जीवोंकी हिंसा करनेका भाव नहीं करना उसे अहिंसाणुव्रत कहते हैं। इस प्रकार अहिंसाणुव्रतीको संकल्पी हिंसाका त्याग होता है।

नौ संकल्पोंसे (नौ कोटिसे) त्रस जीवोंकी हिंसाके भावका त्याग तो मुनि और श्रावक दोनोंको होता है, परंतु स्थावर जीवोंकी हिंसाका नौ कोटिसे त्याग तो अकेले मुनिको ही होता है; श्रावकको नहीं होता है।

विशेष : हिंसादिके त्यागका विधान :

''हिंसादिका त्याग दो प्रकारसे होता है—एक उत्सर्ग त्याग और दूसरा अपवाद त्याग। उत्सर्ग मतलब सामान्य। सामान्यरूपसे सर्वथा प्रकारसे त्याग करना उसे उत्सर्ग त्याग कहते हैं। उसके नौ भेद हैं—मनसे स्वयं करनेका चिंतन नहीं करता, दूसरोंके द्वारा करवानेका चिंतन नहीं करता, और किसीने किया हो तो उसे अच्छा नहीं जानता। वचनसे स्वयं करनेको कहे नहीं, दूसरोंको करनेके लिए उपदेश देवें नही, किसीने किया हो तो उसे अच्छा नहीं कहे। कायासे स्वयं करे नहीं, दूसरोंको हाथ आदि द्वारा प्रेरणा (इशारा) करावे नहीं और किसी ने किया हो तो उसकी हस्तादिकसे प्रशंसा करे नहीं। यह नौ भेद कहे।

अपवाद त्याग अनेक प्रकारके हैं। यह नौ भंग कहे उसमें कितने भंगोंसे इस प्रकार त्याग करे, इस प्रकार त्याग नहीं करे, इस प्रकार मेरेको यह कार्य करना, इस प्रकार मेरेको यह कार्य नहीं करना–ऐसे अपवाद त्याग भिन्न–भिन्न प्रकारसे हैं। इसलिए जितनी शक्ति हो उसी प्रकार त्याग करना चाहिए।''

---

१. करोमीत्यर्थ इति क ख पाठः।

हिंसाके प्रकार–द्रव्यहिंसा और भावहिंसा

''कषायरूप परिणमन करनेवाले मन, वचन और कायाके योगसे जो द्रव्यरूप और भावरूप प्राणोंका व्यपरोपण करना–घात करना वह निश्चयसे अच्छी तरह सोच समझकर की हुई हिंसा है।''

रागादिभावोंसे चैतन्यप्राणोंका घात होना वह भावहिंसा है, उसके दो प्रकार हैं–स्वभाव हिंसा और परभाव हिंसा। ऐसे ही इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वासरूप द्रव्यप्राणोंका घात होना वह द्रव्यहिंसा है। इसके भी दो प्रकार हैं। स्वद्रव्य हिंसा और पर द्रव्यहिंसा।

''स्वयंके मनमें, वचनमें और शरीरमें क्रोध–कषाय प्रगट हुआ उससे प्रथम तो स्वयंके शुद्धोपयोगरूप भावप्राणका घात हुआ। यह हिंसा तो स्वयंके भावप्राणके व्यपरोपणसे हुई। यह तो द्रव्यहिंसा पहले ही हो गई, दूसरी (द्रव्य) हिंसा हो या नहीं भी हो। पीछेसे कदाचित् तीव्र कषायरूप होकर और स्वयंके दीर्घ श्वासादिसे अथवा हाथ–पैर या स्वयंके अंगको पीड़ा देकर अथवा आपघात करके मर गया, वह स्वयंके द्रव्यप्राणके घातरूप हिंसा हुई।

पुनश्च जिस कषाय वश अन्य जीवको कुवचन कहे, मर्मभेदी हास्य किया अथवा जिसकारणसे उसका अंतरंग पीड़ित होकर कषायरूप परिणमे ऐसा कार्य किया। वहाँ परके भावप्राणका व्यपरोपण (घात)से हिंसा होती है। जहाँ कषायके वश प्रमादी होकर, दूसरे जीवके शरीरको पीड़ा की अथवा प्राणका नाश किया वहाँ परके द्रव्यप्राणके घातसे (परके द्रव्यप्राणसे) हिंसा हुई..... ।''

''महापुरुष ध्यानमें लीन हैं अथवा गमनादिमें सावधानीसे यत्नपूर्वक प्रवर्तन करते हैं और कभी इनके शरीरके संबंधसे कोई जीवके प्राण पीड़ाए तो भी उन्हे हिंसाका दोष नहीं लगता, क्योंकि इनके परिणाममें कषाय नहीं था, अतः पर जीवके प्राणको पीड़ा होने पर भी हिंसा नाम नहीं पाता है.....'

''जो प्रमादी जीव कषायके वश होकर गमनादि क्रियामें यत्नरूप प्रवर्तता नहीं अथवा बैठते–उठते क्रोधादि भावोंमें परिणमन करता है तो वहाँ जीव मरे या नहीं मरे तो भी उसे तो कषायभावके कारण अवश्य हिंसाका दोष लगता है। इसलिए पर जीवके प्राणकी पीड़ा नहीं होने पर प्रमादके सद्भावसे हिंसा नाम पाता है..... ।''

''क्योंकि जीव कषायभावोंके सहित होनेसे पहले स्वयंको स्वयं घातता (हणे) है और फिर भले दूसरे जीवोंकी हिंसा हो या नहीं हो.....''

पर जीवके घातरूप जो हिंसा है वह दो प्रकारकी है—एक अविरमणरूप

(अविरतिरूप) और दूसरी परिणमनरूप ।

(१) अविरमणरूप हिंसा :—कोई जीव पर जीवकी हिंसाके कार्यमें प्रवर्तता तो नहीं, परंतु उसे हिंसाका प्रतिज्ञापूर्वक त्याग नहीं होनेसे उसके अंतरंगमें अविरतिका भाव खड़ा है; जिससे उसे अविरमणरूप हिंसाका दोष है, जैसा कि किसीको कंदमूलका त्याग नहीं है और वह किसी भी समय खाता भी नहीं है, फिर भी अंतरंगमें कंदमूल खानेका भाव खड़ा होनेसे, उसे भावका त्याग नहीं होनेसे उसे वह अविरमणरूप हिंसाका दोष लगता है ।

''जो कार्य करनेकी आशा रहे उसकी प्रतिज्ञा नहीं ली जाती और आशा रहे तो उससे राग भी रहता है तथा यह रागके भावसे कार्य किये बिना भी अविरतिका बंध होता ही रहता है; इसलिए प्रतिज्ञा अवश्य करने योग्य है । कार्य करनेका बंधन हुए बिना परिणाम किस प्रकार रोके ? प्रयोजन होने पर तद्रुप परिणाम अवश्य हो जाए या प्रयोजन बिना भी उसकी आशा रहती है, इसलिए प्रतिज्ञा करने योग्य है.....''

(२) परिणमनरूप हिंसा :—पर जीवोंके घातमें, जो जीव मनसे, वचनसे, और कायासे प्रवर्ते तो उसे वह परिणमनरूप हिंसा है ।

इन दोनों भेदोंमें प्रमाद सहित योगका अस्तित्त्व है । ''**तस्मात्प्रमत्तयोगे नित्यं प्राणव्यपरोपणम्**'' । जिससे प्रमादके योगमें निरंतर प्राणघातका सद्भाव है । जब जीव क्रोधादि भावहिंसाका त्याग कर प्रमादरूप परिणमन नहीं करे तब ही उसे प्राणघातका अभाव हो सकता है । जब तक प्रमाद रहता है वहाँ तक हिंसाका अभाव किसी भी प्रकारसे नहीं हो सकता ।

प्रमत्तयोग यह ही हिंसाका वास्तविक कारण है; केवल द्रव्यप्राणका घात होना ही सच्ची हिंसा नहीं ।

श्री उमास्वामी ने भी 'तत्त्वार्थ सूत्र'में हिंसाका लक्षण बताते हुए कहा है— ''प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा'' । प्रमादके योगसे यथा संभव द्रव्यप्राण या भावप्राणका घात करना वह हिंसा है ।

समयसार गाथा—२६२में कहा है कि—

''जीवोंको मारो या नहीं मारो, कर्मबंध अध्यवसानसे (उल्टी मान्यताके साथ पाप भावसे–प्रमत्तयोगसे) होता है ।''

इस प्रकार अज्ञानसे यह जो हिंसामें अध्यवसाय करनेमें आता है, ऐसे ही असत्य,

अव्रत (चोरी), अब्रह्मचर्य और परिग्रहमें भी जो (अध्यवसाय) करनेमें आता है यह सब पापके बंधका एकमात्र कारण है.....'' (श्री समयसार गाथा २६३)

इस प्रकारसे हिंसादि पाँचो पापोंमें जो प्रमत्तयोग है वह ही हिंसा है, परन्तु प्रमत्तयोग शून्य केवल बाह्य क्रिया वह हिंसा नहीं। श्री कल्याणमंदिरस्तोत्रमें कहा है कि ''यस्मात् क्रिया न प्रतिफलन्ति भावशून्याः''। क्योंकि भावशून्य क्रियाएँ हिंसाके लिए या कर्मबंधके लिए फलीभूत नहीं होती।

व्रतके पालनमें क्रिया शरीरके आश्रयसे होती है। यह शरीरादिक क्रियासे जीवको पुण्य–पाप या धर्म नहीं होता, क्योंकि यह क्रिया जीवके अधिकारमें नहीं तथा यह क्रिया जीव कर सकता ही नहीं। लेकिन इस क्रियाके वक्त अहिंसादिके जो विकल्प उठते हैं वह राग ही जीवकृत अपराध होनेसे अर्थात् शुभराग होनेसे बंधका कारण है, इसलिए मात्र बाह्य हिंसादि (भाव) छूटनेसे पापकी निर्जरा होती है—ऐसा मानना वह योग्य नहीं। (देखो श्री नियमसार व्यवहार प्रकरण गाथा ५६से ५९) परंतु उस समय सम्यग्दृष्टि श्रावकको, जो अंतरंग मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी तथा अप्रत्याख्यान संबंधी क्रोध-मान-माया-लोभका अभाव है, वह संवरका कारण है और वहाँ स्वाश्रय अनुसार निर्जरा होती है।

अंतरंग शुद्धता है वह निश्चयव्रत है और साथमें जो शुभभाव है वह व्यवहारसे व्रत है। और वह निश्चयव्रतका निमित्त है, क्योंकि एकदेश वीतरागताके साथ ऐसा व्यवहार हेयबुद्धिरूप होता है।

मोक्षमार्ग प्रकाशकमें पृष्ठ—२६०में कहा है कि—

''.....बाह्य व्रतादिक है वह तो शरीरादि परद्रव्याश्रित है, और परद्रव्योंका स्वयं कर्ता नहीं, इसलिए उसमें कर्तृत्वबुद्धि भी नहीं करनी तथा उसमें ममत्व भी नहीं करना; यह व्रतादिकमें ग्रहण–त्यागरूप स्वयं शुभोपयोग होता है वह स्वयंके आश्रयसे होता है और उसका स्वयं कर्ता है, इसलिए उसमें कर्तृत्वबुद्धि भी माननी तथा वहाँ ममत्व भी करना, परंतु इस शुभोपयोगको बंधका ही कारण जानना लेकिन मोक्षका कारण नहीं जानना; क्योंकि बंध और मोक्षमें तो प्रतिपक्षपना है, इसलिए एक ही भाव पुण्यबंधका भी कारण होवे और मोक्षका भी कारण होवे ऐसा मानना यह भ्रम है। इसलिए व्रत–अव्रत इन दोनों विकल्प रहित, जहाँ परद्रव्यके ग्रहण-त्यागका कोई प्रयोजन नहीं ऐसा उदासीन वीतराग शुद्धोपयोग वह ही मोक्षमार्ग है। निचली दशामें कितने ही जीवोंको शुद्धोपयोग और शुभोपयोगसे युक्तपना होता है, इसलिए यह व्रतादि शुभोपयोगको उपचारसे मोक्षमार्ग कहा

तस्येदानीमतीचारानाह—

छेदनबन्धनपीडनमतिभारारोपणं व्यतीचाराः।
आहारवारणापि च स्थूलवधाद्व्युपरतेः पञ्च॥५४॥

'व्यतीचारा' विविधा विरूपका वा अतीचारा दोषाः। कति? 'पंच'। कस्य? 'स्थूलवधाद् व्युपरतेः'। कथमित्याह 'छेदनेत्यादि' कर्णनासिकादीनामवयवानामपनयनं छेदनं, अभिमतदेशे गतिनिरोधहेतुर्बन्धनं, पीडा दण्डकशाद्यभिघातः, 'अतिभारारोपणं'

है, लेकिन वस्तु विचारसे देखने पर शुभोपयोग मोक्षका घातक ही है। इस कारण जो बंधका कारण है वही मोक्षका घातक है—ऐसा श्रद्धान करना। शुद्धोपयोगको ही उपादेय करके इसका उपाय करना तथा शुभोपयोग अशुभोपयोगको हेय जानकर उसके त्यागका उपाय करना..... ।''

इस श्लोककी टीकामें आचार्यदेव कहते हैं कि—'अत्र कृतवचनं कर्तुः स्वातंत्र्य-प्रतिपत्त्यर्थम्' यहाँ 'कृतवचन' यह कर्ता की स्वतन्त्रताकी प्रतिपत्ति हेतुसे दर्शाता है कि जीव अपने भावोंका स्वतंत्ररूपसे कर्ता है। कर्म मंद हुए इसलिए कार्य हुआ ऐसा नहीं, लेकिन वह स्वतंत्रपने हुआ है, उसका कर्ता–कर्म नहीं है। जो कर्म उसका कर्त्ता होवे तो दोनों द्रव्योंकी एकताका प्रसंग आता है वह सिद्धान्त विरुद्ध है। ५३.

अब उसके (अहिंसाणुव्रतके) अतिचार कहते हैं—

श्लोक ५४
अहिंसाणुव्रतके अतिचार

अन्वयार्थ—[छेदनबन्धनपीडनम्] नाकादि छेदना, बांधकर रखना और काठी आदिसे मारना [अतिभारारोपणम्] अधिक भार लादना [अपि च] तथा [आहारवारणा] समयपर अन्नपानी न देना ये [स्थूलवधात् व्युपरतेः] अहिंसाणुव्रतके [पंच] पांच [व्यतीचाराः] अतिचार [सन्ति] हैं॥५४॥

टीकार्थ—'विविधा विरूपका वा अतिचारा दोषाः व्यतीचाराः' इस समासके अनुसार व्यतीचारका अर्थ होता है—नाना प्रकारके अथवा व्रतको विरूप—विकृत करनेवाले दोष। दुर्भावनासे नाक, कान आदि अवयवोंको छेद देना, इष्ट स्थान पर जानेसे

न्याय्यभारादधिकभारारोपणं। न केवलमेतच्चतुष्टयमेव किन्तु 'आहारवारणापि च' आहारस्य अन्नपानलक्षणस्य वारणा निषेधो धारणा वा निरोधः ॥५४॥

एवमहिंसाणुव्रतं प्रतिपाद्येदानीमनृतविरत्यणुव्रतं प्रतिपादयन्नाह—

स्थूलमलीकं न वदति न परान् वादयति सत्यमपि विपदे।
यत्तद्वदन्ति सन्तः स्थूलमृषावादवैरमणम् ॥५५॥

रोकनेके लिये रस्सी आदिसे बाँध देना, डंडा तथा कोड़ा आदिसे पीटना, उचित्त भारसे अधिक भार लादना और अन्नपानरूप आहारका निषेध करना अथवा रोककर थोड़ा देना ये पाँच अहिंसाणुव्रतके व्यतीचार हैं।

भावार्थ :—व्रतके एकदेश भंगको अतिचार कहते हैं और व्रत–भाव भंग करनेमें निरर्गल (स्वच्छन्द) प्रवृत्ति होवे उसे अनाचार कहते हैं। अतिचारसे व्रतका भंग नहीं होता है, लेकिन दोष लगता है और अनाचारसे व्रतका भंग होता है। स्थूल हिंसात्यागके अर्थात् अहिंसाणुव्रतके पाँच मुख्य अतिचार हैं।

(१) छेदन :—मनुष्य या पशुके नाक–कान छेदना,

(२) बंधन :—बाँधके रखना, इच्छित स्थान पर जानेसे रोकना। जाने नहीं देना,

(३) पीड़न :—डंडा–चाबुक आदिसे मारना–पीड़ा पहुँचाना,

(४) अतिभार लादना :—हदसे ज्यादा अधिक बोझा लादना,

(५) अन्न–पानका निरोध :—समय समय पर पूरा आहार–पानी नहीं देना।

नोट :—यह श्लोक (५४)में जो पर पदार्थोंकी क्रियाएँ हैं वह जीव नहीं कर सकता, परंतु उसके सम्बन्धमें जीवको जो भाव होते हैं उस प्रमादभावको अतिचार कहनेमें आता है।

अतिचार संबंधी सभी गाथाओंमें इस प्रकारसे समझना। ५४.

इस प्रकारसे अहिंसाणुव्रतका प्रतिपादन करके अब अनृतविरती अणुव्रतका (सत्याणु व्रतका) प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—

श्लोक ५५
सत्याणुव्रतका स्वरूप

अन्वयार्थ—[यत्] जो [स्थूलम्] स्थूल [अलीकम्] असत्यवचन [न वदति] नहीं

'स्थूलमृषावादवैरमणं' स्थूलश्चासौ मृषावादश्च तस्माद्वैरमणं विरमणमेव वैरमणं। 'तद्वदन्ति' के ते? 'सन्तः' सत्पुरुषाः गणधरदेवादयः। तत्किं, सन्तो यन्न वदन्ति। 'अलीकमसत्यं'। कथंभूतं? 'स्थूलं' यस्मिन्नुक्ते स्वपरयोर्वधबन्धादिकं राजादिभ्यो भवति तत्स्वयं तावन्न वदति। तथा 'परान'न्यान् तथाविधमलीकं न वादयति। न केवलमलीकं किन्तु 'सत्यमपि' चोरोऽयमित्यादिरूपं न स्वयं वदति न परान् वादयति। किंविशिष्टं यदुक्तं सत्यमपि परस्य 'विपदे'ऽपकाराय भवति॥५५॥

बोलता है [परान्] दूसरोंको [न वादयति] बुलवाता नहीं है [विपदे] आपत्ति आनेपर [सत्यम् अपि] सत्य भी (अन्यका घात हो ऐसा) नहीं बोलता है और दूसरोंसे बुलवाता नहीं है [तत्] उसको [सन्तः] सज्जन पुरुष [स्थूलमृषावादवैरमणम्] स्थूल असत्यवचनका त्याग अर्थात् स्थूलसत्याणु व्रत [वदन्ति] कहते हैं॥५५॥

टीकार्थ—'विरमणमेव वैरमणम्' इस व्युत्पत्तिके अनुसार 'वैरमण' शब्दमें स्वार्थ अण् प्रत्यय हुआ है। इसलिये जो अर्थ 'विरमण' शब्दका होता है वही 'वैरमण' शब्दका होता है। स्थूलका अर्थ यह है कि जिसके कहनेपर निज और परके लिये राजादिकसे वध–बन्धनादिक प्राप्त हों। ऐसे स्थूल झूठको जो न तो स्वयं बोलता है और न प्रेरणाकर दूसरोंसे बुलवाता है। साथमें ऐसा सत्य भी जैसे 'यह चोर है' इत्यादि, न स्वयं बोलता है, न दूसरोंसे बुलवाता है उसे सत्याणुव्रत कहते हैं।

भावार्थ :—जो बोलनेसे राजादि स्व–परका वध–बंधादि करे उसे स्थूल झूठ कहते हैं। सत्याणुव्रती ऐसा झूठ स्वयं बोलते नहीं और दूसरेके पास बुलवाते भी नहीं। सत्य भी अगर अन्यको अहितकर–विघातक हो तो वैसा सत्य भी वो बोले नहीं। जैसे कि पाससे होकर हिरणको जाते देखा हो, और शिकारी उन्हें (व्रतीको) हिरणके विषयमें पूछे तो वह सत्य कहते नहीं है, क्योंकि सत्य बोलनेसे शिकारी द्वारा हिरणका घात करना संभव है, इसलिए अन्यको विपदा आ पड़े वैसा सत्य वचन भी स्वयं बोलता नहीं और दूसरेके पाससे बुलवाता नहीं, ऐसे स्थूल असत्य त्यागको गणधरादि महापुरुष सत्याणुव्रत कहते हैं।

विशेष

जो कोई प्रमाद कषायके योगसे स्व–परको हानिकारक अथवा अन्यथारूप वचन कहे जाते हैं उसे अनृत (झूठा) वचन जानना.....''

''.....असत्य सामान्यरूप गर्हित, पापसहित और अप्रिय–ऐसे तीन प्रकारका माना गया है.....''

साम्प्रतं सत्याणुव्रतस्यातीचारानाह—

परिवादरहोभ्याख्यापैशुन्यं कूटलेखकरणं च।
न्यासापहारितापि च व्यतिक्रमाः पञ्च सत्यस्य॥५६॥

सत्य–अणुव्रतधारी क्रोध–मान–माया–लोभ वश ऐसे वचन नहीं कहें जिससे अन्यका घात होता हो, अन्यको अपवाद लगे, कलंक लगे (चढ़े), कलह, विसंवाद पैदा हो, विषयानुराग बढ़ जाए, महा आरंभमें प्रवृत्ति हो, अन्यको आर्तध्यान हो जाए, परके लाभमें अन्तराय आवे, परकी आजीविका बिगड़ जाए, स्वयंका और परका अपयश हो, आपदा आवे, अनर्थ पैदा हो, अन्यका मर्म छेद हो, राजा दंड करें, धनकी हानि हो वगेरे.....ऐसा वचन हो तो वह भी झूठा वचन है। पुनश्च वह गालीके वचन, अपमानके वचन, तिरस्कारके वचन, अहंकारके वचन वगेरे नहीं बोलता क्योंकि वह कषाययुक्त होनेसे असत्य वचन है। इसी तरह वह जिनसूत्रके अनुकूल तथा स्व–परके हितरूप, बहुत प्रलापरहित, प्रामाणिक, संतोष उपजानेवाले, धर्मके उद्योत करनेवाले वचन कहे–ऐसे वचन बोलनेवाला गृहस्थ स्थूल असत्यका त्यागी है।

पुरुषार्थसिद्धि–उपायमें कहा है कि—

''.....इन सभी वचनोंमें प्रमत्तयोग ही एक हेतु कहनेमें आया है, इसलिए असत्य वचनमें भी (प्रमत्तयोगके सद्भाव होनेसे) हिंसा निश्चित होती है।'' (श्लोक–९९)

''झूठ वचनके त्यागी महामुनि हेय और उपादेयका बारबार उपदेश करते हैं। वहाँ पापकी निंदा करनेसे पापी जीवको (स्वयंके दोषके कारण) उनका उपदेश बूरा लगता है, अथवा किसीको धर्मोपदेश खराब लगे तो दुःख होवे, लेकिन उन आचार्योंको (उपदेश सुननेवालेके (लागणी) दुःखी होने पर भी) झूठका दोष नहीं लगता। क्योंकि उन्हें प्रमाद (कषाय) नहीं है, प्रमादपूर्वक वचनमें ही हिंसा है। इसलिए कहा है कि प्रमाद सहित योगसे वचन बोलना वह ही झूठ है, अन्यथा नहीं।'' श्लोक–१००का भावार्थ) ५५.

अब सत्याणुव्रतके अतिचार कहते हैं—

श्लोक ५६
सत्याणुव्रतके अतिचार

अन्वयार्थ—[परिवादरहोभ्याख्या] परिवाद ''मिथ्याउपदेश'' रहोभ्याख्या ''एकांतमें स्त्री और पुरुषके द्वारा किये गये कार्यका प्रगट करना'' [पैशुन्यम्] पैशुन्य ''दूसरेके अभिप्रायको

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ - ३६४२५०

'परिवादो' मिथ्योपदेशोऽभ्युदयनिःश्रेयसार्थेषु क्रियाविशेषेष्वन्यस्यान्यथा-प्रवर्तनमित्यर्थः। 'रहोऽभ्याख्या' रहसि एकान्ते स्त्रीपुंसाभ्यामनुष्ठितस्य क्रियाविशेषस्याभ्याख्या प्रकाशनं। 'पैशुन्यं' अंगविकारभ्रूविक्षेपादिभिः पराभिप्रायं ज्ञात्वा असूयादिना तत्प्रकटनं साकारमंत्रभेद इत्यर्थः। 'कूटलेखकरणं' च अन्येनानुक्तमननुष्ठितं यत्किंचिदेव तेनोक्त-मनुष्ठितं चेति वंचनानिमित्तं कूटलेखकरणं कूटलेखक्रियेत्यर्थः। 'न्यासापहारिता' द्रव्यनिक्षेप्तुर्विस्मृतसंख्यस्याल्पंसंख्यं द्रव्यमाददानस्य एवमेवेत्यभ्युपगमवचनं। एवं परिवादादयश्चत्वारो न्यासापहारिता पंचमीति सत्यस्याणुव्रतस्य पंच 'व्यतिक्रमाः' अतीचारा भवन्ति॥५६॥

जानकर ईर्ष्या आदिके कारण उसे प्रगट करना'' [कूटलेखकरणम्] कूटलेखकरण ''दूसरेने कोई काम किया नहीं अथवा कोई बात कही नहीं उसके सम्बन्धमें लिखना कि इसने ऐसा कहा था अथवा किया था'' [अपिच] तथा [न्यासापहारिता] न्यासापहार ''धरोहर रखनेवालेके रक्खी हुई वस्तुकी संख्या अथवा प्रमाण भूल जानेपर तथा कम कीमत मांगनेपर स्वीकारता देना'' ये [सत्यस्य] सत्याणुव्रतके [पंच] पांच [व्यतिक्रमाः] अतिचार होते हैं॥५६॥

टीकार्थ—परिवादका अर्थ मिथ्योपदेश है अर्थात् अभ्युदय और मोक्ष प्रयोजनवाली क्रियाविशेषोंमें दूसरेको अन्यथा प्रवृत्ति कराना परिवाद या **मिथ्योपदेश** है। स्त्री-पुरुषोंके द्वारा एकान्तमें की हुई विशिष्ट क्रियाको प्रकट करना **रहोभ्याख्या** है। अंगविकार तथा भौंहोंका चलाना आदिके द्वारा दूसरेके अभिप्रायको जानकर ईर्ष्यावश उसे प्रकट कर देना **पैशुन्य** है। यही **साकारमन्त्रभेद** कहलाता है। दूसरेके द्वारा अनुक्त अथवा अकृत किसी कार्यके विषयमें ऐसा कहना कि यह उसने कहा है अथवा किया है इस प्रकार धोखा देनेके अभिप्रायसे कपटपूर्ण लेख लिखना **कूटलेखकरण** है। तथा धरोहरको रखनेवाला पुरुष अपनी धरोहरकी संख्या भूलकर अल्पसंख्यक द्रव्यको माँग रहा है, तो उससे कहना कि हाँ, ऐसा ही है, इसे **न्यासापहारिता** कहते हैं। इस प्रकार परिवादादिक चार और न्यासापहारिता पाँचवीं, सब मिलकर सत्याणुव्रतके पाँच अतिचार होते हैं।

भावार्थ :—सत्याणुव्रतके पाँच अतिचार हैं—

(१) परिवाद :—मिथ्याउपदेश; अभ्युदय और कल्याणकारक कार्योंमें अन्यथा उपदेश देना।
(२) रहोभ्याख्या :—स्त्री-पुरुषो द्वारा एकान्तमें की हुई क्रियाको प्रगट करना
(३) पैशुन्य (साकार मंत्र भेद) :—चुगली करना, अर्थात् शरीरकी चेष्टासे दूसरेका अभिप्राय जान लेकर उसे इर्ष्यासे प्रगट करना।

Shri Digambar Jain Swadhyay Mandir Trust, Songadh - 364250

अधुना चौर्यविरत्यणुव्रतस्य स्वरूपं प्ररूपयन्नाह—

निहितं वा पतितं वा सुविस्मृतं वा परस्वमविसृष्टं।
न हरति यन्न च दत्ते तदकृशचौर्य्यादुपारमणम्॥५७॥

'अकृशचौर्यात्' स्थूलचौर्यात्। 'उपारमणं तत्। 'यत् न हरति' न गृह्णाति। किं तत्? 'परस्वं' परद्रव्यं। कथंभूतं? 'निहितं' वा धृतं। तथा 'पतितं वा'। तथा 'सुविस्मृतं' वा अतिशयेन विस्मृतं। वाशब्दः सर्वत्र परस्परसमुच्चये। इत्थंभूतं परस्वं 'अविसृष्टं' अदत्तं यत्स्वयं न हरति न दत्तेऽन्यस्मै तदकृशचौर्यादुपारमणं प्रतिपत्तव्यम्॥५७॥

---

(४) कूटलेख क्रिया :—दूसरेको ठगनेके लिए झूठा दस्तावेज करना।

(५) न्यासापहार :—गिरवी रखी हुई वस्तुको गिरवी रखनेवाला भूलसे कम वस्तु मांगे तो उसे उतनी ही देना।

नोट :—उपरोक्त क्रियाओंमें कमजोरीके कारण प्रवर्तता है, इसलिये वह अतिचार है। ५६

अब अचौर्याणुव्रतका स्वरूप प्ररूपण करते हैं—

श्लोक ५७
अचौर्याणुव्रतका स्वरूप

अन्वयार्थ—[यत्] जो [निहितं वा] रक्खी हुई अथवा [पतितं वा] पड़ी हुई अथवा [सुविस्मृतं वा] विसरी हुई [परस्वम्] दूसरेकी संपत्ति [अविसृष्टम्] नहीं दी हुई [न हरति] न तो हरण करता है [च] और [न दत्ते] न देता है [तत्] वह [अकृशचौर्य्यात्] स्थूल चोरीसे [उपारमणम्] विरक्तता है अर्थात् अचौर्याणुव्रत है॥५७॥

टीकार्थ—अकृशचौर्यका अर्थ स्थूल चोरी है। अर्थात् लोकमें जो चोरीके नामसे प्रसिद्ध है तथा जिसके लिये राजकीय और सामाजिक दण्डव्यवस्था निश्चित है। इस स्थूल चोरीसे उपारमण—निवृत्त होना सो अचौर्याणुव्रत है। अचौर्याणुव्रतका धारक पुरुष किसीके रखे हुए, पड़े हुए या भूले हुए धनको बिना दिये न स्वयं ग्रहण करता है और न उठाकर दूसरेको देता है।

भावार्थ :—किसीके द्वारा रखी हुई, पड़ी हुई या भूली हुई वस्तुको दिये बिना न तो स्वयं लेवे और ना ही दूसरेको देवे उसे अचौर्याणुव्रत कहते हैं।

तस्येदानीमतिचारानाह—

''प्रमादके योगसे बिना दिये सुवर्ण–वस्त्रादि परिग्रहका ग्रहण करना उसे ही चोरी कहते हैं; यह ही वधका कारण होनेसे हिंसा है।''

स्वयंको चोरी करनेका भाव हुआ वह स्व-भावहिंसा और स्वयंको चोर माननेसे, प्राणोंका स्वयंके द्वारा वियोग करना वह स्व–द्रव्यहिंसा है।

जिस जीवकी वस्तु चोरी की गई उससे उसके अंतरंगमें जो पीड़ा हुई वह उसकी (पर) भावहिंसा है और उस वस्तुके निमित्तसे उसके जो द्रव्यप्राण पुष्ट होते थे उन पुष्ट प्राणोंका नाश हुआ वह उसकी (पर) द्रव्यहिंसा है।

इस प्रकार चोरी करनेसे चोरी करनेवालेकी तथा जिसकी चोरी हुई उसकी द्रव्यहिंसा और भावहिंसा—यह दोनों प्रकारकी हिंसा होती है।

धन–धान्यादि पदार्थ मनुष्यके बाह्यप्राण है, उसका हरण होने पर या नाश होने पर उसे स्वयंके प्राणघात जितना दुःख होता है।

प्रमादका नाम ही हिंसा हैं और चोरीमें प्रमाद अवश्य है, इसलिए जहाँ चोरी है वहाँ अवश्य ही हिंसा है; परंतु प्रमत्तयोग बिना पर पदार्थको कोइ दे तो ग्रहण करनेमें चोरीका दोष नहीं है।

अरहंत भगवानको कर्म–नोकर्म वर्गणाओंका ग्रहण होने पर भी उन्हें चोरीका दोष नहीं लगता है, कारण उन्हें प्रमत्तयोगका अभाव है। इसलिए जहाँ हिंसा नहीं वहाँ चोरी नहीं, और चोरी नहीं वहाँ उस प्रकारकी हिंसा भी नहीं। श्रावक कुएँ-नदीका पानी, खदानकी मिट्टी किसीको बिना पूछे भी ग्रहण करे तो भी चोरी नहीं है, लेकिन मुनि अगर ग्रहण करता है तो उसे चोरीका दोष लगता है, क्योंकि श्रावकको एकदेश त्याग होता है और मुनिको सर्वथा त्याग होता है। ''**अदत्तादान स्तेयम्**''। (तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ७/१५)

प्रमादके योगसे बिना दिये कोई भी वस्तुको ग्रहण करना वह चोरी है। जहाँ लेने–देनेका संभव हो वहाँ चोरीका व्यवहार होता है; अतः कर्मवर्गणा और नोकर्म वर्गणाओंका ग्रहण वह चोरी नहीं है।

मुनिराजको गाँव–नगर आदिमें पर्यटन करते, शेरी–दरवाजे आदिमें प्रवेश करनेसे 'अदत्तादान'का दोष नहीं लगता, क्योंकि उन स्थानो पर सभीको आने–जानेकी छूट है और सार्वजनिक शेरी आदिमें प्रवेश करते मुनिको प्रमत्तयोग नहीं होता है। ५७

अब अचौर्याणुव्रतका अतिचार कहते हैं—

चौरप्रयोगचौरार्थादानविलोपसदृशसन्मिश्राः।
हीनाधिकविनिमानं पञ्चास्तेये व्यतीपाताः॥५८॥

'अस्तेये' चौर्यविरमणे। 'व्यतीपाता' अतीचाराः पंच भदन्ति। तथा हि। चौरप्रयोगः चोरयतः स्वयमेवान्येन वा प्रेरणं प्रेरितस्य वा अन्येनानुमोदनं। चौरार्थादानं च अप्रेरितेनाननुमतेन तच्च चोरेणानीतस्यार्थस्य ग्रहणं। विलोषश्च उचितन्यायादन्येन प्रकारेणार्थस्यादानं विरुद्धराज्यातिक्रम इत्यर्थः। विरुद्धराज्ये स्वल्पमूल्यानि महार्घणि द्रव्याणीति कृत्वा स्वल्पतरेणार्थेन गृह्णाति। सदृशन्मिश्रश्च प्रतिरूपकव्यवहार इत्यर्थः सदृशेन तैलादिना

श्लोक ५८
अचौर्याणुव्रतके अतिचार

अन्वयार्थ—[चौरप्रयोगचौरार्थादानविलोपसदृशसन्मिश्राः]' चौरप्रयोग-चोरी करनेवालेको स्वतः अथवा दूसरेके द्वारा प्रेरणा करना अथवा प्रेरणा किये गयेको दूसरेसे अनुमोदना दिलाना, चौरार्थदान जिसको प्रेरणा नहीं की अथवा अनुमति नहीं दी ऐसे चोरसे लाये हुए द्रव्यको ग्रहण करना, विलोप-न्यायमार्गको छोड़कर दूसरे मार्गसे वस्तु ग्रहण करना, सदृशसन्मिश्र—अल्पमूल्यवाली सरखी वस्तु मिलाना और [हीनाधिकविनिमानम्] हीनाधिकविनिमान-तोलने और मापनेके वाट देनेके लिए कम रखना और लेनेके लिए अधिक रखना ये [अस्तेये] अचौर्याणुव्रतमें [पंच] पांच [व्यतीपाताः] अतीचार कहे गये हैं॥५८॥

टीकार्थ—अचौर्याणुव्रतमें निम्नांकित पाँच अतिचार हैं—

चौरप्रयोग—चोरी करनेवाले चोरके लिए स्वयं प्रेरणा देना, दूसरेसे प्रेरणा दिलाना और किसीने प्रेरणा दी हो तो उसकी अनुमोदना करना चौरप्रयोग है।

चौरार्थादान—जिसे अपने द्वारा प्रेरणा नहीं दी गई है, तथा जिनकी अनुमोदना नहीं की गई है ऐसे चोरके द्वारा चुराकर लाई हुई वस्तुको ग्रहण करना चौरार्थादान है। चोरीका माल खरीदनेसे चोरको चोरीकी प्रेरणा मिलती है।

विलोप—उचितन्यायको छोड़कर अन्य प्रकारके पदार्थका ग्रहण करना विलोप कहलाता है। इसे ही विरुद्धराज्यातिक्रम कहते हैं। जिस राज्यके साथ अपने राज्यका व्यापारिक सम्बन्ध निषिद्ध है अर्थात् जिस राज्यमें अपने राज्यकी वस्तुओंका आना-जाना राज्यकी ओरसे निषिद्ध किया गया है उसे विरुद्ध राज्य कहते हैं। विरुद्धराज्यमें महँगी वस्तुएँ स्वल्प मूल्यमें

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ - ३६४२५०

सन्मिश्रं घृतादिकं करोति। कृत्रिमैश्च हिरण्यादिभिर्वचनापूर्वकं व्यवहारं करोति। हीनाधिकविनिमानं विविधं नियमेन मानं विनिमानं मानोन्मानमित्यर्थः। मानं हि प्रस्थादि, उन्मानं तुलादि, तच्च हीनाधिकं, हीनेन अन्यस्मै ददाति, अधिकेन स्वयं गृह्णातीति॥५८॥

मिलती हैं ऐसा मानकर वहाँ स्वल्प मूल्यमें वस्तुओंको खरीदना और तस्कर व्यापारके द्वारा अपने राज्यमें लाकर अधिक मूल्यमें बेचना विरुद्धराज्यातिक्रम कहलाता है।

सदृशसन्मिश्र—समानरूप-रङ्गवाली नकली वस्तु, असली वस्तुमें मिलाकर असली वस्तुके भावसे बेचना, जैसे घीको तेल आदि मिश्रित करना अथवा कृत्रिम—बनावटी—नकली सोना-चाँदीके द्वारा धोखा देते हुए व्यापार करना सदृशसन्मिश्र कहलाता है।

हीनाधिकविनिमान—जिनसे वस्तुओंका विनिमान—आदान-प्रदान लेन-देन होता है उन्हें विनिमान कहते हैं। इन्हींको मानोन्मान भी कहते हैं। जिसमें भरकर या जिससे तौलकर कोई वस्तु ली या दी जाती है उसे मान कहते हैं, जैसे प्रस्थ, तराजू आदि। और जिससे नापकर कोई वस्तु ली या दी जाती है उसे उन्मान कहते हैं, जैसे फूट, गज आदि। किसी वस्तुको देते समय हीन मानउन्मानका और खरीदते समय अधिक मान-उन्मानका प्रयोग करना हीनाधिक मानोन्मान कहलाता है।

अचौर्याणुव्रतका धारी मनुष्य इन सब अतिचारोंसे दूर रहकर अपने व्रतको सुरक्षित रखता है।

भावार्थ :—अचौर्याणुव्रतके पाँच अतिचार[1]—

(१) चौर प्रयोग :—चोरीका उपाय बताना-चोरी करनेकी प्रेरणा करनी।

(२) चौरार्थ दान :—चोरीकी वस्तु खरीदनी।

(३) विलोप (विरुद्ध राज्यातिक्रम) :—राज्यके नियमोंसे विरुद्ध वर्तना।

(४) सदृशसन्मिश्र (प्रतिरूपक व्यवहार) :—हल्की-भारी वस्तु (चीजो)का संमिश्रण करके ऊँची किंमतमें बेचना।

(५) हीनाधिक विनिमान (हीनाधिक मानोन्मान्) :—माप-तोल कम-ज्यादा रखना; कम मापसे देना और अधिक मापसे लेना।

---

१. स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिकमानोन्मानप्रतिरूपक व्यवहाराः।
(तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ७/२७)

Shri Digambar Jain Swadhyay Mandir Trust, Songadh - 364250

साम्प्रतमब्रह्मविरत्यणुव्रतस्वरूपं प्रतिपादयन्नाह—

न तु परदारान् गच्छति न परान् गमयति च पापभीतेर्यत्।
सा परदारनिवृत्तिः स्वदारसन्तोषनामापि॥५९॥

'सा परदारनिवृत्तिः'। यत् 'परदारान्' परिगृहीतानपरिगृहीतांश्च। स्वयं 'न च' नैव। गच्छति। तथा 'परानन्यान्'[1] परदारलम्पटान् न गमयति परदारेषु गच्छतो यत्प्रयोजयति न च*। कुतः? 'पापभीतेः' पापोपार्जनभयात् न पुनः नृपत्यादिभयात्। न केवलं सा परदारनिवृत्तिरेवोच्यते किन्तु[2] 'स्वदारसन्तोषनामापि' स्वदारेषु सन्तोषः स्वदारसन्तोषस्तन्नाम

यह कार्य कमजोरीके कारण होते हैं लेकिन आसक्त भावसे होते है। यह दोष तो है ही, परंतु इससे व्रतका सम्पूर्ण भंग नहीं होता है, इससे इसे अतिचार कहते हैं। ५८.

अब अब्रह्मविरति अणुव्रतका अर्थात् (ब्रह्मचर्याणु व्रतके) स्वरूपका प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—

श्लोक ५९
परदारानिवृत्ति अणुव्रतका स्वरूप

अन्वयार्थ—[यत्] जो [पापभीतेः] पापके भयसे [परदारान्] परस्त्रीके पास [न गच्छति] नहीं जाता है [च] और [परान्] दूसरोंको [न गमयति] नहीं भेजता है [सा] वह [परदारनिवृत्तिः] परस्त्रीत्याग [अपि] अथवा [स्वदारसन्तोषनाम] स्वस्त्रीसंतोष नामका अणुव्रत है॥५९॥

टीकार्थ—श्लोकमें आये हुए **'परदारान्'** शब्दका समास दो प्रकारका होता है— **१. 'परस्य दाराः परदारास्तान्'** अर्थात् परकी स्त्रीयों अथवा २. **'पराश्च ते दाराश्च परदारास्तान्'** अर्थात् परस्त्रीयाँ। इसमें पहले समाससे परके द्वारा परिगृहीत स्त्रीयोंका बोध होता है और दूसरे समासके परके द्वारा अपरिगृहीत अविवाहित कन्याओं अथवा वेश्याओंका ग्रहण होता है। इस प्रकार इन परिगृहीत और अपरिगृहीत—दोनों प्रकारकी परस्त्रीयोंके साथ पापके भयसे न कि राजकीय और सामाजिक भयसे, न स्वयं संगम करना और न परस्त्रीलम्पट अन्य पुरुषोंको गमन कराना परस्त्रीत्याग अणुव्रत है। इसीको स्वदारसन्तोषव्रत भी कहते हैं।

---

१. परदारान् क-ख पाठः। * पुष्पमध्यगतो पाठः ग पुस्तके नास्ति। २. अस्य ग पाठः।

यस्याः[1] ॥५९॥

[2]तस्यातीचारानाह—

अन्यविवाहाकरणानङ्गक्रीडाविटत्वविपुलतृषः।
इत्वरिकागमनं चास्मरस्य पञ्च व्यतीचाराः॥६०॥

भावार्थ :—जो पापके भयसे, राजादिके भयसे नहीं न तो स्वयं परस्त्रीको भोगता है और नहीं लंपट पुरुषो द्वारा भोगने देता है, उसकी यह क्रिया परदारा निवृत्ति या स्वदारा संतोष नामका ब्रह्मचर्याणुव्रत कहलाता है।

जिसे स्वस्त्रीसे संतोष होता है उसे परस्त्री त्याग स्वयं होता है। जैसे पुरुष संबंधी ब्रह्मचर्याणुव्रत है, उसी तरह स्त्रीसंबंधी भी ब्रह्मचर्याणुव्रत समझना अर्थात् स्त्री स्वयं परपुरुषके साथ रमे नहीं और अन्य स्त्रीको भी ऐसा करनेके लिए प्रेरित नहीं करती है।

विशेष

पुरुषवेद, स्त्रीवेद और नपुंसकवेदके परिणमनरूप रागभाव (प्रमाद) सहितके योगसे स्त्री–पुरुष मिलकर कामसे भोगका भाव करे वह कुशील है। उसमें प्राणीवधका सर्वत्र सद्भाव होनेसे हिंसा होती है।

स्त्रीकी योनि, नाभि, कुच (स्तन) और बगलमें मनुष्याकार असंख्य पंचेन्द्रिय जीव उत्पन्न होते हैं; जिससे स्त्रीके साथ कामसेवन करनेसे इन जीवोंकी द्रव्यहिंसा होती है। और स्त्री–पुरुष दोनोंको कामरूप परिणाम होते हैं, जिससे उन दोनोंको भावहिंसा होती है। ५९.

अब अतिचार कहते हैं—

श्लोक ६०
ब्रह्मचर्याणुव्रतके अतिचार

अन्वयार्थ—[अन्यविवाहाकरणानंगक्रीडाविटत्वविपुलतृषः]' दूसरोंका विवाह करना, अनंगक्रीड़ा, बीभत्सरूप वचन और शरीरकी चेष्टा, काम विषयक अधिक इच्छा [च] और [इत्वरिकागमनम्] व्यभिचारिणी स्त्रीके पास आना जाना ये [अस्मरस्य] ब्रह्मचर्याणुव्रतके [पंच] पांच [व्यतीचाराः] अतिचार हैं॥६०॥

---

२. अपि तु ख-ग पाठः। ३. यस्य क पाठः।

'अस्मरस्या' ब्रह्मनिवृत्त्यगुणव्रतस्य। पंच व्यतीचाराः। कथमित्याह— 'अन्येत्यादि'—कन्यादानं विवाहोऽन्यस्य विवाहोऽन्यविवाहः तस्य आ 'समन्तात्' करणं, तच्च अनङ्गक्रीडा च अंगं लिंगं योनिश्च तयोरन्यत्र मुखादिप्रदेशे क्रीडा अनङ्गक्रीडा। 'विटत्वं' भण्डिमाप्रधानकायवाक्यप्रयोगः। विपुलतृट् च कामतीव्राभिनिवेशः। 'इत्वरिकागमनं' च परपुरुषानेति गच्छतीत्येवं शीला इत्वरी पुंश्चली कुत्सायां के कृते 'इत्वरिका' भवति तत्र गमनं चेति॥६०॥

टीकार्थ—**'अ ईषत् स्मरः कामो यस्य स अस्मरः तस्य'** इस व्युत्पत्तिके अनुसार जिसके स्वस्त्रीविषयक थोड़ा राग रहता है उसे अस्मर अथवा ब्रह्मचर्याणुव्रती कहते हैं। इस व्रतके धारक पुरुषको निम्नांकित पाँच अतिचारोंका परित्याग करना चाहिये— **अन्यविवाहाकरण**—कन्यादानको विवाह कहते हैं। अपनी या अपने आश्रित भाई आदिकी सन्तानको छोड़कर अन्य लोगोंकी संतान अन्य सन्तान हैं। उन अन्य सन्तानोंका विवाह प्रमुख बनकर करना अन्यविवाहाकरण है। **'अन्यविवाहस्य आ समन्तात् करणं अन्यविवाहाकरणम्'** इस व्युत्पत्तिसे यह भाव प्रकट होता है कि जो पटिया बनकर दूसरोंका विवाहसम्बन्ध जुटाते रहते हैं उनके उस कार्यके प्रति ही आचार्यका संकेत है। सहधर्मी भाईके नाते उनके पुत्र-पुत्रियोंके विवाहमें सम्मिलित होना ब्रह्मचर्याणुव्रतीके लिये निषिद्ध नहीं है। **अनंगक्रीड़ा**—कामसेवनके लिए निश्चित अङ्गोंके अतिरिक्त अन्य अंगोंमें क्रीड़ा करना अनंगक्रीडा है। **विटत्व**—शरीरसे कुचेष्टा करना और मुखसे अश्लील भद्दे वचनोंका प्रयोग करना विटत्व है। **विपुलतृषा**—कामसेवनकी तीव्र आसक्तिको विपुलतृषा कहते हैं। **इत्वरिकागमन**—व्यभिचारिणी स्त्रीको इत्वरिका कहते हैं। ऐसी स्त्रीयोंके साथ उठना-बैठना तथा व्यापारिक सम्पर्क बढ़ाना इत्वरिकागमन है।

भावार्थ :—ब्रह्मचर्याणुव्रतके पाँच अतिचार-

(१) परविवाहकरण :—दूसरेका विवाह करना।

(२) अनंगक्रीडा :—कामसेवनके अंगोंको छोड़कर, मुख हस्तादिक अंगोंसे कामसेवन करना।

(३) विटत्व-बीभत्स वचन बोलना।

(४) अतितृषा-विषयसेवनमें तीव्र ईच्छा रखनी।

(५) इत्वरिकागमन :—व्यभिचारिणी स्त्रीके यहाँ आना-जाना। ६०.

अथेदानीं परिग्रहविरत्यणुव्रतस्य स्वरूपं दर्शयन्नाह—

धनधान्यादिग्रन्थं परिमाय ततोऽधिकेषु निःस्पृहता।
परिमितपरिग्रहः स्यादिच्छापरिमाणनामापि॥६१॥

'परिमितपरिग्रहो' देशतः परिग्रहविरतिरणुव्रतं स्यात्। कासौ? या 'ततोऽधिकेषु निस्पृहता' ततस्तेभ्य इच्छावशात् कृतपरिसंख्यातेभ्योऽर्थोभ्योऽधिकेष्वर्थेषु या निस्पृहता वाञ्छाव्यावृत्तिः। कि कृत्वा? 'परिमाय' देवगुरुपादाग्रे परिमितं कृत्वा। कं? 'धनधान्यादिग्रन्थं' धनं गवादि, धान्यं ब्रीह्यादि। आदिशब्दाद्दासीदासभार्यागृहक्षेत्रद्रव्य-सुवर्णरूप्याभरणवस्त्रादिसंग्रहः। स चाखौ ग्रन्थश्च तं परिमाय। स च परिमित परिग्रहः 'इच्छापरिमाणनामापि' स्यात्, इच्छायाः परिमाणं यस्य स इच्छापरिमाणस्तन्नाम यस्य स तथोक्तः॥६१॥

अब (एकदेश) परिग्रह विरती अणुव्रतका स्वरूप बताते हुए कहते हैं :—

श्लोक ६१
परिग्रहपरिमाण अणुव्रतका लक्षण

अन्वयार्थ—[धनधान्यादिग्रन्थम्] धन, धान्य आदि परिग्रहका [परिमाय] प्रमाण करके [ततः अधिकेषु] उससे अधिक परिग्रहमें [निस्पृहता] इच्छा रहित होना [परिमित परिग्रहः] परिग्रहपरिमाण [अपि] अथवा [इच्छापरिमाणनाम] इच्छापरिमाण नामका अणुव्रत [स्यात्] है॥६१॥

टीकार्थ—गाय, भैंस आदिको धन कहते हैं। धान्य, गेहूँ, चना आदिको धान्य कहते हैं। आदि शब्दसे दासी-दास, स्त्री-मकान, खेत, नगदद्रव्य, सोना-चाँदीके आभूषण तथा वस्त्र आदिका संग्रह होता है। यही सब परिग्रह कहलाता है। इसका इसमें परिमाण किया जाता है। इस व्रतमें अपनी इच्छाओंको परिमित—सीमित किया जाता है इसलिये इसका दूसरा नाम इच्छापरिमाणव्रत भी है। इस अणुव्रत में अपनी इच्छाके अनुसार परिग्रहका परिमाण किया जाता है, इसलिए इसका दूसरा नाम इच्छापरिमाण भी है।

भावार्थ :—क्षेत्र (खेतर), वास्तु (मकान आदि), हिरण्य (रूपिया-चांदी), स्वर्ण (सोना या सुवर्णके आभूषण), धन (गाय आदि), धान्य (अनाज), दासी, दास कुप्य

(वस्त्रादि) और बर्तन—ये दश प्रकारके परिग्रहका परिमाण करके उससे अधिककी वांछा (इच्छा) नहीं करनी उसे परिग्रहपरिमाण अणुव्रत कहते हैं। इसे इच्छापरिमाण अणुव्रत भी कहते हैं।

विशेष

पुरुषार्थ सिद्धि-उपायमें कहा है कि—

मोहके उदयके निमित्तसे उत्पन्न हुआ ममत्व परिणाम ही मूर्च्छा है, और जो मूर्च्छा है वह ही परिग्रह है। (श्लोक १११)

तत्त्वार्थसूत्रमें श्री उमास्वामीने भी मूर्च्छाको ही परिग्रह कहा है—

''मूर्च्छा परिग्रहः। अध्याय ७/१७ बाह्य धन-धान्यादि पदार्थोंमें तथा अंतरंग क्रोधादि कषायोंमें ममत्वभाव रखना वह मूर्च्छा है।''

जहाँ-जहाँ मूर्च्छा है वहाँ-वहाँ अवश्य परिग्रह है और जहाँ मूर्च्छा नहीं वहाँ परिग्रह भी नहीं। मूर्च्छाकी परिग्रह साथे व्याप्ति है।

कोई जीव नग्न है, बाह्य परिग्रहसे रहित है, लेकिन अगर उसे अंतरंगमें मूर्च्छा अर्थात् ममत्व परिणाम हो तो वह परिग्रहवान ही है; और ममत्वके त्यागी दिगंबर मुनिको उपकरणरूप पीछी, कमंडल होने पर भी अंतरंगमें ममत्व नहीं होनेसे वह वास्तविक परिग्रहसे रहित ही है। (श्लोक ११२ भावार्थ)

धन-धान्यादि बाह्य वस्तु मूर्च्छा प्रगट करनेमें निमित्त मात्र है; जिससे उस कारणमें कार्यका उपचार करके उसे उपचारसे परिग्रह कहा है। वास्तवमें परिग्रहका लक्षण मूर्च्छा ही है।

अंतरंगके १४ प्रकारके परिग्रह हिंसाके पर्याय होनेसे उसमें हिंसा सिद्ध ही है और दश प्रकारके बहिरंग परिग्रहोंमें ममत्व परिणाम ही निश्चयसे हिंसा भावको प्राप्त होता है। (श्लोक ११९)

केवलीको समवसरणादि विभूति होती है, लेकिन ममत्वपरिणाम बिना वह परिग्रह नहीं है।

जो कोई परिग्रहको अंगीकार करके कहता है कि मुझे इसमें ममत्व परिणाम नहीं, तो वह असत्य है, क्योंकि ममत्व बिना वह अंगीकार होता ही नहीं है।

तस्यातिचारानाह—

अतिवाहनातिसंग्रहविस्मयलोभातिभारवहनानि।
परिमितपरिग्रहस्य च विक्षेपाः पञ्च लक्ष्यन्ते॥६२॥

'विक्षेपाः' अतिचाराः। पंच 'लक्ष्यन्ते' निश्चीयन्ते। कस्य? 'परिमितपरिग्रहस्य' न केवलमहिंसाद्यणुव्रतस्य पंचातीचारा निश्चीयन्ते अपि तु परिमितपरिग्रहस्यापि। चशब्दोऽत्रापिशब्दार्थे। के तस्यातीचारा इत्याह—अतिवाहनेत्यादि। लोभातिगृद्धिनिवृत्त्यर्थं परिग्रहपरिमाणे कृते पुनर्लोभावेशवशादतिवाहनं करोति। यावन्तं हि मार्गं बलीवर्दादयः सुखेन गच्छन्ति ततोऽप्यतिरेकेण वाहनमतिवाहनं। अतिशब्दः प्रत्येकं लोभान्तानां सम्बध्यते। इदं

जहाँ प्रमाद-योग है वहाँ ही निश्चयसे परिग्रह है और जहाँ प्रमाद-योग (ममत्व) नहीं, वहाँ परिग्रह नहीं है-ऐसा समझना। ६१.

अब (परिग्रह परिमाण अणुव्रतके) अतिचार कहते हैं :—

श्लोक ६२
परिग्रहपरिमाण अणुव्रतके अतिचार

अन्वयार्थ—[परिमितपरिग्रहस्य च] परिग्रहपरिमाण अणुव्रतके भी [अतिवाहनाति-संग्रहविस्मयलोभातिभारवहनानि] अतिवाहन—''जहाँ तक बैल आदि सुखपूर्वक बोझा ले जा सकते हैं उसके आगे लोभके कारण ले जाना'' अतिसंग्रह ''आगे इसका भाव बढ़ जावेगा इस लिए लोभके कारण उस वस्तुका अधिक संग्रह करना'' अतिविस्मय ''दूसरेको लाभ देखकर अत्यंत विषाद करना'' अतिलोभ-''लाभ होनेपर भी अधिक लाभकी इच्छा करना'' अतिभारवहन-''मर्यादासे अधिक बोझा लादना'' ये [पंच] पांच [विक्षेपाः] अतिचार [लक्ष्यन्ते] निश्चय किये जाते हैं॥६२॥

टीकार्थ—विक्षेपका अर्थ अतिचार है। जिस प्रकार अहिंसादि अणुव्रतोंके पाँच-पाँच अतिचार बतलाये गये हैं उसी प्रकार परिग्रहपरिमाणाणुव्रतके भी पाँच अतिचार निश्चित किये जाते हैं। श्लोकमें आया हुआ 'च' शब्द 'अपि' अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। वे अतिचार इस प्रकार हैं—**अतिवाहन** लोभकी तीव्रताको कम करनेके लिये परिग्रहका परिमाण कर लेने पर भी कोई लोभके आवेशसे अधिक वाहन करता है अर्थात् बैल आदि पशु जितने मार्गको सुखसे पार करते हैं उससे अधिक मार्गपर उन्हें चलाता है तो उसकी यह क्रिया **अतिवाहन** कहलाती

धान्यादिकमग्रे विशिष्टं लाभं दास्यतीति लोभावेशादतिशयेन तत्संग्रहं करोति। तत्प्रतिपन्नलाभेन विक्रीते[1] तस्मिन् मूलतोऽप्यसंगृहीत्वादधिकेऽर्थे लब्धे लोभावेशादतिविस्मयं विषादं करोति। विशिष्टेऽर्थे लब्धेऽप्यधिकलाभाकांक्षावशादतिलोभं करोति। लोभावेशादधिक-भारारोपणमतिभारवाहनं। ते विक्षेपाः पंच॥६२॥

है। इस व्रतके धारी किसी मनुष्यने बैल आदिकी संख्या तो कम कर ली, परन्तु उनकी संख्याके अनुपातसे खेती तथा मार्गका यातायात कम नहीं किया, इसलिये उन कम किये हुए बैल आदिको ही अधिक चलाकर अपना काम पूरा करता है। ऐसी स्थितिमें अतिवाहन नामका अतिचार होता है। **अतिसंग्रह**—'यह धान्यादिक आगे चलकर अधिक लाभ देगा' इस लोभके वशसे कोई उसका अत्यधिक संग्रह करता है। उसका यह कार्य **अतिसंग्रह** नामका अतिचार है। **अतिविस्मय** संगृहीत वस्तुको वर्तमान भावसे बेच देनेपर किसीका मूल भी वसूल नहीं हुआ और दूसरेके द्वारा ठहरकर बेचनेपर उसे अधिक लाभ हुआ, इस स्थितिमें लोभके आवेशसे अतिविस्मय अतिखेद करता है। यह **अतिविस्मय** नामका अतिचार है। **अतिलोभ**—विशिष्ट लाभ मिलनेपर भी और भी अधिक लाभकी इच्छासे कोई अधिक लोभ करता है तो उसका यह अतिलोभ नामका अतिचार है। **अतिभारारोपण**—लोभके आवेशसे अधिक भार लादना, **अतिभारारोपण** नामका अतिचार है। एक अतिभारारोपण अतिचार अहिंसाणुव्रतका भी है परन्तु वहाँ कष्ट देनेका भाव रहता है और यहाँ अधिक लाभ प्राप्त करनेका—अथवा अतिभारारोपणका एक अर्थ यह भी हो सकता है कि अपने कारोबारको इतना अधिक फैला लेना, जिसकी वह स्वयं सँभाल नहीं कर सकता है और उसके कारण उसे सदा व्यग्र रहना पड़ता है।

भावार्थ :—परिग्रहपरिमाण–अणुव्रतके पाँच अतिचार :—

(१) अतिवाहन :—हाथी, घोडा, बैल आदि अधिक सवारी रखनी और उसे अधिक अंतर तक रस्ते चलाना।

(२) अतिसंग्रह :—भविष्यमें लाभ होगा ऐसा समझ कर वस्तुओंका अधिक संग्रह करना।

(३) अतिविस्मय :—दूसरेका लाभ देखकर अत्यंत विषाद करना।

(४) अतिलोभ :—विशेष लाभ होने पर भी अधिक लाभकी आशा करना।

(५) अतिभारवहन :—मर्यादासे अधिक भार लादना। ६२.

एवं प्ररूपितानि पंचाणुव्रतानि निरतिचाराणि किं कुर्वन्तीत्याह—

पञ्चाणुव्रतनिधयो निरतिक्रमणाः फलन्ति सुरलोकं।
यत्रावधिरष्टगुणा दिव्यशरीरं च लभ्यन्ते॥६३॥

'फलन्ति' फलं प्रयच्छन्ति। के ते? 'पंचाणुव्रतनिधयः' पंचाणुव्रतन्येव निधयो निधानानि। कथंभूतानि? 'निरतिक्रमणा' निरतिचाराः। किं फलन्ति? 'सुरलोकं'। यत्र सुरलोके 'लभ्यन्ते'। कानि? 'अवधिरवधिज्ञानं'। 'अष्टगुणा' अणिमामहिमेत्यादयः। 'दिव्यशरीरं च' सप्तधातुविवर्जितं शरीरं। एतानि सर्वाणि यत्र लभ्यन्ते॥६३॥

इस प्रकारसे प्ररूपित अतिचार रहित पाँच अणुव्रतोंका क्या फल आता है वह कहते हैं :—

श्लोक ६३
पंचाणुव्रत धारण करनेका फल

अन्वयार्थ—[निरतिक्रमणाः] अतिचार रहित [पञ्च] पांच [अणुव्रतनिधयः] अणुव्रतरूपी निधि [सुरलोकम्] स्वर्गरूपी [फलंति] फल देती है [यत्र] जहाँ पर [अवधिः] अवधिज्ञान [अष्टगुणाः] अणिमा आदि आठ गुण [च] और [दिव्य शरीरम्] सात धातुसे रहित वैक्रियिक शरीर [लभ्यन्ते] प्राप्त होते हैं॥६३॥

टीकार्थ—अतिचार रहित पाँच अणुव्रत निधियोंके समान हैं। इनका निरतिचार पालन करनेसे नियमपूर्वक स्वर्गकी प्राप्ति होती है और उस स्वर्गकी जहाँ कि अवधिज्ञान—भवप्रत्ययनामका अवधिज्ञान नियमसे प्राप्त होता है। अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व, ये आठ ऋद्धियाँ तथा धातु, उपधातुसे रहित परम सुन्दर वैक्रियिक शरीर प्राप्त होता है।

भावार्थ :—अतिचार रहित पाँच अणुव्रतका पालन करनेसे स्वर्गलोककी प्राप्ति होती है। वहाँ अवधिज्ञान, अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व–यह आठ ऋद्धियाँ और सात धातु रहित दिव्य वैक्रियिक शरीर प्राप्त होता है।

इस गाथासे यह सिद्ध होता है कि निरतिचार अणुव्रतका फल संवर–निर्जरा नहीं लेकिन पुण्य बंध है, क्योंकि स्वर्गगति कोई वीतराग धर्मका फल नहीं है परंतु वह शुभ भावका फल है।

इह लोके किं[1] न कस्याप्यहिंसाद्यणुव्रतानुष्ठानफलप्राप्तिर्दृष्टा येन परलोकार्थं तदनुष्ठीयते इत्याशंक्याह—

मातंगो धनदेवश्च वारिषेणस्ततः परः।
नीली जयश्च संप्राप्ताः पूजातिशयमुत्तमम् ॥६४॥

हिंसादिविरत्यणुव्रतात् मातंगेन चांडालेन उत्तमः पूजातिशयः प्राप्तः।

अस्य कथा

सुरम्यदेशे पोदनपुरे[2] राज महाबलः[3]। नन्दीश्वराष्टम्यां राज्ञा[4] अष्टदिनानि

धर्मी जीवको पाँचवें गुणस्थानमें ऐसे शुभभाव आये बिना नहीं रहते, परंतु वह उसे श्रद्धामें हेय समझता है। ६३.

इस लोकमें क्या किसीको भी अहिंसादि अणुव्रतका पालन करनेसे फल प्राप्ति दिखी, जिससे परलोकके लिए उसका अनुष्ठान करनेमें आता है? ऐसी आशंका करके कहते हैं—

श्लोक ६४
पंचाणुव्रतधारियोंमें जगत्प्रसिद्ध होनेवालोंके नाम

अन्वयार्थ—[मातंगः] अहिंसाणुव्रतमें यमपाल चांडाल [च] और [धनदेवः] सत्याणुव्रतमें धनदेव श्रेष्ठी [ततः परः] उससे अनंतर अचौर्याणुव्रतमें [वारिषेणः] वारिषेण राजकुमार [नीली] ब्रह्मचर्याणुव्रतमें नीली नामकी श्रेष्ठिपुत्री [च] और [जयः] परिग्रहपरिमाणव्रतमें जयकुमार राजपुत्र [उत्तमम्] उत्तम [पूजातिशयम्] पूजाके महत्वको [संप्राप्ताः] प्राप्त हुए ॥६४॥

टीकार्थ—हिंसाविरति नामक अणुव्रतसे यमपाल चाण्डालने उत्तम प्रतिष्ठा प्राप्त की। इसकी कथा इस प्रकार है—

यमपाल चाण्डालकी कथा

सुरम्य देश पोदनपुर नगरमें राजा महाबल रहता था। नन्दीश्वर पर्वमें अष्टमीके दिन

---

१. किं कस्याप्य घ। २.पोदनापुरे क–ग पाठः। ३. पुत्रो बलः घ। ४. राजाज्ञया घ।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ - ३६४२५०

[1]जीवामारणघोषणायां कृतायां बलकुमारेण चात्यन्तमांसासक्तेन कंचिदपि पुरुषमपश्यता राजोद्याने[2] राजकीयमेण्ढकः प्रच्छन्नेन[3] मारयित्वा संस्कार्यं भक्षितः। राज्ञा च मेण्ढकमारणवार्तामाकर्ण्य रुष्टेन मेण्ढकमारको गवेषयितुं प्रारब्धः। तदुद्यानमालाकारेण च वृक्षोपरि चटितेन न तन्मारणं कुर्वाणो दृष्टः। रात्रौ च निजभार्यायाः कथितं। ततः[4] प्रच्छन्नचरपुरुषेणाकर्ण्य राज्ञः कथितं। प्रभाते मालाकारोऽप्याकारितः। तेनैव पुनः कथितं मदीयामाज्ञां मम पुत्रः[5] खण्डयतीति रुष्टेन राज्ञा कोट्टपालो भणितो बलकुमारं नवखण्डं कारयेति। ततस्तं कुमारं मारणस्थानं नीत्वा[6] मातङ्गमानेतुं[7] ये गताः पुरुषास्तान् विलोक्य मातङ्गेनोक्तं प्रिये! मातङ्गो ग्रामं गत इति कथय त्वमेतेषामित्युक्त्वा गृहकोणे प्रच्छन्नो भूत्वा स्थितः। तलारैश्चाकारिते मातङ्गे कथितं मातंग्या [8]सोऽद्य ग्रामं गतः। भणितं च तलारैः स पायोऽपुण्यवानद्य ग्रामं गतः कुमारमारणात्तस्य बहुसुवर्णरत्नादिलाभो भवेत्। तेषां

राजाने यह घोषणा की कि आठ दिन तक जीवघात नहीं किया जायेगा। राजाका बल नामका एक पुत्र था, जो कि मांस खानेमें अत्यंत आसक्त था। उसने यह विचारकर कि यहाँ कोई पुरुष दिखाई नहीं दे रहा है, इसलिये छिपकर राजाके बगीचेमें राजाके मेंढाको मरवाकर तथा पकवाकर खा लिया। राजाने जब मेंढा मारे जानेका समाचार सुना, तब वह बहुत क्रुद्ध हुआ। उसने मेंढा मारनेवालेकी खोज शुरू कर दी। उस बगीचेका माली पेड़के ऊपर चढ़ा था। उसने मेंढाको मारते हुए राजकुमारको देख लिया था। मालीने रातमें यह बात अपनी स्त्रीसे कही। तदनन्तर छिपे हुए गुप्तचर पुरुषने राजासे यह समाचार कह दिया। प्रातःकाल मालीको भी बुलाया गया। उसने भी यह समाचार राजासे कह दिया। मेरी आज्ञाको मेरा पुत्र ही खण्डित करता है इससे रुष्ट होकर राजाने कोटपालसे कहा कि बलकुमारके नौ टुकड़े करा दो अर्थात् उसे मरवा दो।

तदनन्तर उस कुमारको मारनेके स्थानपर ले जाकर चाण्डालको लानेके लिये जो आदमी गये थे उन्हें देखकर चाण्डालने अपनी स्त्रीसे कहा कि हे प्रिये! तुम इन लोगोंसे यह कह दो कि चाण्डाल गाँव गया है। ऐसा कहकर वह घरके कोनेमें छिपकर बैठ गया। जब सिपाहियोंने चाण्डालको बुलाया तब चाण्डालीने कह दिया कि वह आज गाँव गया है। सिपाहियोंने कहा कि वह पापी अभागा आज गाँव चला गया। राजकुमारको मारनेसे उसे बहुत भारी सुवर्ण

---

१. जीवामाणे घ। २. राज्योद्याने ख–ग पाठः। ३. प्रच्छन्नो घ। ४. ततः प्रच्छन्नचरपुरुषेणाकर्ण्य राज्ञः कथितं इति पाठः घ पुस्तके नास्ति। ५. पुत्रोऽपि घ। ६. यमपालमातङ्गं घ। ७. मातङ्गं नेतुं घ। ८. सौ अद्य घ।

Shri Digambar Jain Swadhyay Mandir Trust, Songadh - 364250

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ - ३६४२५०

वचनमाकर्ण्य द्रव्यलुब्धया तया[1] हस्तसंज्ञया स दर्शितो ग्रामं गत इति पुनः पुनर्भणन्त्या। ततस्तैस्तं गृहान्निःसार्य तस्य मारणार्थं स कुमारः समर्पितः। तेनोक्तं नाहमद्य चतुर्दशीदिने जीवघातं करोमि। ततस्तलारैः स नीत्वा राज्ञः कथितः, देव! अयं राजकुमारं न मारयति। तेन च राज्ञः कथितं सर्पदृष्टो मृतः श्मशाने निक्षिप्तः सर्वौषधिमुनिशरीरस्य[2] वायुना पुनर्जीवितोऽहं तत्पार्श्वे चतुर्दशीदिवसे मया जीवाहिंसाव्रतं गृहीतमतोऽद्य न मारयामि देवो यज्जानाति तत्करोतु। अस्पृश्यचाण्डालस्य[3] व्रतमिति संचिन्त्य रुष्टेन राज्ञा द्वावपि गाढं बन्धयित्वा सुमारद्रहे[4] निक्षेपितौ। तत्र मातङ्गस्य प्राणात्ययेऽप्यहिंसाव्रतपरित्यजतो व्रतमाहात्म्याज्जलदेवतया जलमध्ये [5]सिंहासनमणिमण्डपिकादुन्दभिसाधुकारादिप्रातिहार्यादिकं कृतं। महाबलराजेन चैतदाकर्ण्य भीतेन पूजयित्वा निजच्छत्रतले स्नापयित्वा[6] स स्पृश्यो विविष्ट[7] कृत इति प्रथमाणुव्रतस्य।

और रत्नादिका लाभ होता। उनके वचन सुनकर चाण्डालीको धनका लोभ आ गया। अतः वह मुखसे तो बार-बार यही कहती रही कि वह गाँव गया है परन्तु हाथके संकेतसे उसे दिखा दिया। तदनन्तर सिपाहियोंने उसे घरसे निकाल कर मारनेके लिये वह राजकुमार सौंप दिया। चाण्डालने कहा कि मैं आज चतुर्दशीके दिन जीवघात नहीं करता हूँ। तब सिपाहियोंने उसे ले जाकर राजासे कहा कि देव! यह राजकुमारको नहीं मार रहा है। उसने राजासे कहा कि एक बार मुझे साँपने डस लिया था, जिससे मृत समझकर मुझे स्मशानमें डाल दिया गया था। वहाँ सर्वौषधि ऋद्धिके धारक मुनिराजके शरीरकी वायुसे मैं पुनः जीवित हो गया। उस समय मैंने उन मुनिराजके पास चतुर्दशीके दिन जीवघात न करनेका व्रत लिया था, इसलिये आज मैं नहीं मार रहा हूँ—आप जो जानो सो करें। 'अस्पृश्य चाण्डालके भी व्रत होता है!' यह विचारकर राजा बहुत रुष्ट हुआ और उसने (चांडाल और कुमार) दोनोंको मजबूत बँधवाकर सुमार (शिशुमार) नामक तालाबमें डलवा दिया। उन दोनोंमें चाण्डालने प्राणघात होनेपर भी अहिंसाव्रतको नहीं छोड़ा था, इसलिये उसके व्रतके माहात्म्यसे जलदेवताने जलके मध्य सिंहासन, मणिमय मण्डप, दुन्दुभिबाजोंका शब्द तथा साधुकार—अच्छा किया आदि शब्दोंका उच्चारण कर चांडालकी महिमा की। महाबल राजाने जब यह समाचार सुना तब भयभीत होकर उसने चाण्डालका सम्मान किया तथा अपने छत्रके नीचे उसका अभिषेक कराकर उसे स्पर्श करनेके योग्य विशिष्ट पुरुष घोषित कर दिया। यह प्रथम अणुव्रतकी कथा पूर्ण हुई।

---

१. तथा मातङ्गभीतया ग-घ पाठः। २. शरीरस्पर्शि घ। ३. चाण्डालस्यापि घ। ४. शिशुमारह्रदे पाठः ग-घ पुस्तके। ५. सिंहासनमणिमण्डपिकादेवदुंदुभि-साधुकारादिप्रातिहार्यकृतं घ। ६. स्थापयित्वा ग। ७. स स्पृश्यो विशिष्टः कृतः इति घ।

Shri Digambar Jain Swadhyay Mandir Trust, Songadh - 364250

अनृतविरत्यणुव्रताद्धनदेवश्रेष्ठिना पूजातिशयः प्राप्तः।

अस्य कथा

जम्बूद्वीपे पूर्वविदेहे पुष्कलावतीविषये पुण्डरीकिण्यां पुर्यां वणिजौ जिनदेवधनदेवौ स्वल्पद्रव्यौ। तत्र धनदेवः सत्यवादी। द्रव्यस्य लाभं द्वावप्यर्धमर्धं ग्रहीष्याव इति निःसाक्षिकां व्यवस्थां कृत्वा दूरदेशं गतौ बहुद्रव्यमुपार्ज्य व्याघुट्य कुशलेन पुण्डरीकिण्यामायातौ। तत्र जिनदेवो लाभार्धं धनदेवाय न ददाति। स्तोकद्रव्यमौचित्येन ददाति ततो झकटके[1] न्याये[2] च सति स्वजनमहाजनराजाग्रतो निःसाक्षिकव्यवहारबलाज्जिनदेवो वदति न मयाऽस्य लाभार्धं भणितमुचितमेव भणितं। धनदेवश्च सत्यमेव वदति द्वयोरर्धमेव। ततो राजनियमात्तयोर्दिव्यं दत्तं धनदेवः शुद्धो नेतरः। ततः सर्वं द्रव्यं धनदेवस्य समर्पितं तथा सर्वैः पूजितः साधुकारितश्चेति द्वितीयाणुव्रतस्य।

सत्याणुव्रतसे धनदेव सेठने पूजातिशयको प्राप्त किया था। उसकी कथा इस प्रकार है।

धनदेवकी कथा

जम्बूद्वीपके पूर्व विदेह क्षेत्रमें पुष्कलावती देशमें एक पुण्डरीकिणी नामक नगरी है। उसमें जिनदेव और धनदेव नामक दो अल्पपूँजीवाले व्यापारी रहते थे। उन दोनोंमें धनदेव सत्यवादी था। एक बार वे दोनों 'जो लाभ होगा उसे आधा आधा ले लेवेंगे। ऐसे बिना गवाहकी व्यवस्था कर दूर देश गये। वहाँ बहुत–सा धन कमाकर वापस लौटे और कुशल–पूर्वक पुण्डरीकिणी नगरी आ गये। उनमें जिनदेव, धनदेवके लिये लाभका आधा भाग नहीं देता था। वह उचित समझकर थोड़ा–सा द्रव्य उसे देता था। तदनन्तर झगड़ा होनेपर न्याय होने लगा। पहले कुटुम्बीजनोंके सामने, फिर महाजनोंके सामने और अन्तमें राजाके आगे मामला उपस्थित किया गया। परन्तु बिना गवाहीका व्यवहार होनेसे जिनदेव कह देता कि मैंने इसके लिये लाभका आधा भाग देना नहीं कहा था, उचित भाग ही देना कहा था। धनदेव सत्य ही कहता था कि दोनोंका आधा–आधा भाग ही निश्चित हुआ था। तदनन्तर राजकीय नियमके अनुसार उन दोनोंको दिव्य[3] न्याय दिया गया। अर्थात् उनके हाथोंपर जलते हुए अङ्गारे रखे गए। इस दिव्यन्यायसे धनदेव निर्दोष सिद्ध हुआ, दूसरा नहीं। तदनन्तर सब धन धनदेवके लिये दिया गया और धनदेव सबलोगोंके द्वारा पूजित हुआ तथा धन्यवादको प्राप्त हुआ। इस प्रकार दूसरी अणुव्रतकी कथा है।

---

१. कटकेति पाठः। २. न्यायस्य च घ। ३. जिन अभियोगोंसे गवाही नहीं होती थी, उनमें शुद्धपक्षका निर्णय करनेके लिये अग्निपरीक्षा, विषपरीक्षा और तुलरोहणपरीक्षा की जाती थी, इसे दिव्यन्याय कहते थे।

चौर्यविरत्यणुव्रताद्वारिषेणेन पूजातिशयः प्राप्तः। अस्य कथा स्थितीकरणगुण-व्याख्यानप्रघट्टके कथितेह द्रष्टव्येति तृतीयाणुव्रतस्य।

ततः परं नीली जयश्च। ततस्तेभ्यः परं यथा भवत्येवं पूजातिशयं प्राप्तौ। तत्राब्रह्मविरत्यणुव्रतान्नीली वणिक्पुत्री पूजातिशयं प्राप्ता।

अस्याः कथा

लाटदेशे[1] भृगुकच्छपत्तने राजा वसुपालः। वणिग्जिनदत्तो भार्या जिनदत्ता पुत्री नीली अतिशयेन रूपवती। तत्रैवापरः श्रेष्ठी समुद्रदत्तो भार्या सागरदत्ता पुत्रः सागरदत्तः। एकदा महापूजायां वसन्तौ कायोत्सर्गेण[2] संस्थितां सर्वाभरणविभूषितां नीलीमालोक्य सागरदत्तेनोक्तं किमेषापि[3] देवता काचिदेतदाकर्ण्य तन्मित्रेण प्रियदत्तेन भणितं—जिनदत्तश्रेष्ठिन इयं पुत्री नीली। तद्रूपालोकनादतीवासक्तो भूत्वा कथमियं प्राप्यत इति तत्परिणयनचिन्तया दुर्बलो

चौर्यविरति अणुव्रतसे वारिषेणने पूजाका अतिशय प्राप्त किया था। इसकी कथा स्थितिकरणगुणके व्याख्यानके प्रकरणमें कही गई है। वह इस प्रकरणमें भी देखना चाहिये। इस प्रकार तृतीय अणुव्रतकी कथा है। मातङ्ग धनदेव और वारिषेणके आगे नीली और जयकुमार पूजातिशयको प्राप्त हुए हैं। उनमें अब्रह्मविरति अणुव्रत—ब्रह्मचर्याणुव्रतसे नीली नामकी वणिक्पुत्री पूजातिशयको प्राप्त हुई है। उसकी कथा इस प्रकार है—

नीलीकी कथा

लाटदेशके भृगुकच्छ नगरमें राजा वसुपाल रहता था। वहीं एक जिनदत्त नामका सेठ रहता था। उसकी स्त्रीका नाम जिनदत्ता था। उनके एक नीली नामकी पुत्री थी, जो अत्यन्तरूपवती थी। उसी नगरमें एक समुद्रदत्त नामका सेठ रहता था, उसकी स्त्रीका नाम सागरदत्ता था और उन दोनोंके एक सागरदत्त नामका पुत्र था। एकबार महापूजाके अवसरपर मन्दिरमें कायोत्सर्गसे खड़ी हुई तथा समस्त आभूषणोंसे सुन्दर नीलीको देखकर सागरदत्तने कहा कि क्या यह भी कोई देवी है? यह सुनकर उसके मित्र प्रियदत्तने कहा कि यह जिनदत्त सेठकी पुत्री नीली है। नीलीकारूप देखनेसे सागरदत्त उसमें अत्यन्त आसक्त हो गया और यह किस तरह प्राप्त हो सकती है, इस प्रकार उससे विवाहकी चिन्तामें दुर्बल हो गया। समुद्रदत्तने यह सुनकर उससे कहा कि हे पुत्र! जैनको छोड़कर अन्य किसीके लिये जिनदत्त इस पुत्रीको विवाहके लिये नहीं देता है।

---

१. लाटदेशे ग। २. कान्योत्सर्गस्थिता घ। ३. किमेषा घ।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ - ३६४२५०

जातः। समुद्रदत्तेन चैतदाकर्ण्य भणितः—हे पुत्र! जैनं मुक्त्वा नान्यस्य जिनदत्तो ददातीमां पुत्रिकां परिणेतुं। ततस्तौ कपटश्रावको जातौ परिणीता च सा, ततः पुनस्तौ बुद्धभक्तौ जातौ, नील्याश्च पितृगृहे गमनमपि निषिद्धं, एवं वंचने जाते भणितं जिनदत्तेन—इयं मम न जाता कूपादौ वा पतिता यमेन वा नीता इति। नीली च श्वसुरगृहे भर्तुः वल्लभा भिन्नगृहे[1] जिनधर्ममनुतिष्ठन्ती तिष्ठति। दर्शनात् संसर्गाद्वचनधर्मदेवाकर्णनाद्वा कालेनेयं बुद्धभक्ता भविष्यतीति पर्यालोच्य समुद्रदत्तेन भणिता—नीली–पुत्रि! ज्ञानिनां वन्दकानामस्मदर्थं भोजनं देहि। ततस्तया वन्दकानामामंत्र्याहूय च तेषामेकैका प्राणहितातिपिष्टा[2] संस्कार्य तेषामेव भोक्तुं दत्ता। तैर्भोजनं भुक्त्वा गछद्भिः पृष्टं—क्व प्राणहिताः? तयोक्तं भवन्त एव ज्ञानेन जानन्तु यत्र तास्तिष्ठन्ति, यदि पुनर्ज्ञानं नास्ति तदा वमनं कुर्वन्तु भवतामुदरे प्राणहितास्तिष्ठन्तीति। एवं वमने कृते दृष्टानि प्राणहिताखण्डानि। ततो रुष्टश्च श्वसुरपक्षजनः। ततः सागरदत्तभगिन्या कोपात्तस्या

तदनन्तर वे दोनों पिता पुत्र कपटसे जैन हो गये और नीलीसे विवाह कर लिया। विवाहके पश्चात् वे फिर बुद्धभक्त हो गये। उन्होंने नीलीके पिताके घर जाना भी बन्द कर दिया। इस प्रकार धोखा होनेपर जिनदत्तने यह कहकर संतोष कर लिया कि यह पुत्री मेरे हुई ही नहीं है अथवा कुआँ आदिमें गिर गई है अथवा मर गई है। नीली अपने पतिको प्रिय थी, अतः वह श्वसुरालमें, जिनधर्मका पालन करती हुई एक भिन्न घरमें रहने लगी।

समुद्रदत्तने यह विचारकर कि बौद्ध साधुओंके दर्शनसे, संसर्गसे, उनके वचन, धर्म और देवका नाम सुननेसे काल पाकर यह बुद्धकी भक्त हो जायेगी, एक दिन समुद्रदत्तने कहा कि ''नीली बेटी! बौद्ध साधु बहुत ज्ञानी होते हैं, उन्हें भोजन बनाकर खिलाओ।'' तदनन्तर नीलीने बौद्ध साधुओंको निमन्त्रित कर बुलाया और उनकी एक–एक प्राणहिता–(पनहिया) जूतीको अच्छी तरह पोसकर तथा मसालोंसे सुसंस्कृत कर उन्हें खानेके लिए दे दिया। वे बौद्ध साधु भोजन कर जब जाने लगे तो उन्होंने पूछा कि हमारी जूतियाँ कहाँ हैं? नीलीने कहा कि आप ही अपने ज्ञानसे जानिये, वे कहाँ है? यदि आपको ज्ञान नहीं है तो वमन कीजिये, आपकी जूतियाँ आपके ही पेटमें स्थित हैं। इस प्रकार वमन किये जाने पर उनमें जूतियोंके टुकड़े दिखाई दिये। इस घटनासे नीलीके श्वसुरपक्षके लोग बहुत रुष्ट हो गये।

तदनन्तर सागरदत्तकी बहनने क्रोधवश उसे परपुरुषके संसर्गका झूठा दोष लगाया। जब

---

१. विभिन्न घ। २. मृष्टा ग घ। नगर सर्वस्त्री।

Shri Digambar Jain Swadhyay Mandir Trust, Songadh - 364250

असत्यपरपुरुष दोषोद्भावना कृता। तस्मिन् प्रसिद्धिं गते सा नीली देवाग्रे संन्यासं गृहीत्वा कायोत्सर्गेण स्थिता, दोषोत्तारे भोजनादौ प्रवृत्तिर्मम नान्यथेति। ततः क्षुभितनगरदेवतया आगत्य रात्रौ सा भणिता—हे महासति! मा प्राणत्यागमेवं कुरु, अहं राज्ञः प्रधानानां पुरजनस्य स्वप्नं ददामि। लग्ना यथा नगरप्रतोल्यः कीलिता महासतीवामचरणेन संस्पृश्य उद्घटिष्यन्यतीति। ताश्च प्रभाते भवच्चरणं स्पृष्ट्वा एवं वा उद्घटिष्यन्तीति[1] पादेन प्रतोलीस्पर्शं कुर्यास्त्वमिति भणित्वा राजादीनां तथा स्वप्नं दर्शयित्वा पत्तनप्रतोलीः कीलित्वा स्थिता सा नगरदेवता। प्रभाते कीलिताः प्रतोलीर्दृष्ट्वा राजादिभिस्तं स्वप्नं स्मृत्वा[2] नगरस्त्रीचरणताडनं प्रतोलीनां कारितं। न चैकापि प्रतोली कयाचिदप्युद्घटिता। सर्वासां पश्चान्नीली तत्रोत्क्षिप्य नीता। तच्चरणस्पर्शात् सर्वा अप्युद्घटिताः प्रतोल्यः, निर्दोषा राजादिपूजिता च नीली जाता चतुर्थाणुव्रतस्य।

परिग्रहविरत्यणुव्रताज्जयः पूजातिशयं प्राप्तः।

इस दोषकी प्रसिद्धि सब ओर फैल गई, तब नीली जिनेन्द्र भगवानके आगे संन्यास लेकर कायोत्सर्गसे खड़ी हो गई और उसने नियम ले लिया कि इस दोषसे पार होनेपर ही मेरी भोजन आदिमें प्रवृत्ति होगी, अन्य प्रकार नहीं। तदनन्तर क्षोभको प्राप्त हुये नगरदेवताने आकर रात्रिमें उससे कहा कि हे महासती! इस तरह प्राणत्याग मत करो, मैं राजाको तथा नगरके प्रधान पुरुषोंको स्वप्न देती हूँ कि नगरके सब प्रधान द्वार कीलित हो गये हैं, वे महापतिव्रता स्त्रीके बाँये चरणके स्पर्शसे खुलेंगे। वे प्रधान द्वार प्रातःकाल आपके पैरका स्पर्शकर खुलेंगे, ऐसा कहकर वह नगरदेवता राजा आदिको वैसा स्वप्न दिखाकर तथा नगरके प्रधान द्वारोंको बन्दकर बैठ गया।

प्रातःकाल नगरके प्रधान द्वारोंको कीलित देखकर राजा आदिने पूर्वोक्त स्वप्नका स्मरणकर नगरकी सब स्त्रियोंके पैरोंसे द्वारोंकी ताड़ना कराई। परन्तु किसी भी स्त्रीके द्वारा एक भी प्रधान द्वार नहीं खुला। सब स्त्रियोंके बाद नीलीको भी वहाँ ले जाया गया। उसके चरणोंके स्पर्शसे सभी प्रधान द्वार खुल गये। इस प्रकार नीली निर्दोष घोषित हुई और राजा आदिके द्वारा सम्मानको प्राप्त हुई। यह चतुर्थ अणुव्रतकी कथा पूर्ण हुई।

परिग्रहविरति अणुव्रतसे जयकुमार पूजातिशयको प्राप्त हुआ था। उसकी कथा इस प्रकार है—

---

१. 'ताश्च प्रभाते। २. भवच्चरणं स्पृष्ट्वा एवं व उद्घटिष्यन्तीति' इति पङ्क्तिः घ पुस्तके नास्ति।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ - ३६४२५०

अस्य कथा

कुरुजांगलदेशे हस्तिनागपुरे कुरुवंशे राजा सोमप्रभः, पुत्रो जयः परिमितपरिग्रहो भार्यासुलोचनायामेव प्रवृत्तिः। एकदा पूर्वविद्याधर [1]भवकथानानन्तरं समायातपूर्वजन्मविद्यौ[2] [3]हिरण्यधर्मप्रभावतीविद्याधररूपमादाय च मेर्वादौ वन्दनाभक्तिं कृत्वा कैलासगिरौ भरतप्रतिष्ठापितचतुर्विंशतिजिनालयान् वन्दितुमायातौ सुलोचनाजयौ। तत्प्रस्तावे च सौधर्मेन्द्रेण जयस्य स्वर्गे परिग्रहपरिमाणव्रतप्रशंसा कृता। तां परीक्षितुं रतिप्रभदेवः समायातः। ततः स्त्रीरूपमादाय चतसृभिर्विलासिनीभिः सह जयसमीपं गत्वा भणितो जयः। सुलोचनास्वयंवरे येन त्वया सह संग्रामः कृतः तस्यं नमिविद्याधरपते[4] राज्ञीं सुरूपामभिनवयौवनां सर्वविद्याधारिणीं तद्विरक्तचित्तामिच्छ, यदि तस्य राज्यमात्मजीवितं च वाञ्छसीति। एतदाकर्ण्य जयेनोक्तं—हे सुन्दरि! मैवं ब्रूहि, परस्त्री मम जननीसमानेति। ततस्तया जयस्योपसर्गे महति कृतेऽपि चित्तं न चलितं। ततो मायामुपसंहृत्य पूर्ववृत्तं कथयित्वा प्रशस्य वस्त्रादिभिः

जयकुमारकी कथा

कुरुजांगल देशके हस्तिनापुर नगरमें कुरुवंशी राजा सोमप्रभ रहते थे। उनके जयकुमार नामका पुत्र था। वह जयकुमार परिग्रहपरिमाणव्रतका धारी था तथा अपनी स्त्री सुलोचनामें ही प्रवृत्ति रखता था। एक दिन, पूर्व विद्याधरके भवोंकी कथाके बाद जिन्हें अपने पूर्वभवोंका ज्ञान हो गया था, ऐसे जयकुमार और सुलोचना हिरण्यधर्मा और प्रभावती नामक विद्याधर युगलकारूप रखकर मेरु आदि पर वन्दना-भक्ति करके कैलास पर्वतपर भरत चक्रवर्तीके द्वारा प्रतिष्ठापित चौबीस जिनालयोंकी वन्दना करनेके लिये आये। उसी अवसर पर सौधर्मेन्द्रने स्वर्गमें जयकुमारके परिग्रहपरिमाणव्रतकी प्रशंसा की। उसकी परीक्षा करनेके लिये रतिप्रभ नामका देव आया। उसने स्त्रीकारूप रख चार स्त्रियोंके साथ जयकुमारके समीप जाकर कहा कि सुलोचनाके स्वयंवरके समय जिसने तुम्हारे साथ युद्ध किया था उस नमि विद्याधर राजाकी रानीको जो कि अत्यन्तरूपवती, नवयौवनवती, समस्त विद्याओंको धारण करनेवाली और (नमिराजासे) विरक्तचित्त है, स्वीकृत करो, यदि उसका राज्य और अपना जीवन चाहते हो तो। यह सुनकर जयकुमारने कहा कि हे सुन्दरी! ऐसा मत कहो, परस्त्री मेरे लिये माताके समान है। ऐसा सुन उस स्त्रीने जयकुमारके ऊपर बहुत उपसर्ग किया, परन्तु उसका चित्त विचलित नहीं हुआ। ऐसा सुन वह रतिप्रभदेव मायाको संकुचित कर, पहलेका सब समाचार

१. 'भवकथनानन्तरं समायातपूर्वजन्मविद्यो हिरण्यधर्मप्रभावती' इत्यंशो घ० पुस्तके नास्ति।

२. जन्माद्यः ग-घ। ३. वर्म ग-घ। ४. नमिविद्याधराधिपते घ।

Shri Digambar Jain Swadhyay Mandir Trust, Songadh - 364250

पूजयित्वा स्वर्गं गत इति पंचमाणुव्रतस्य॥१८॥

एवं पंचानामहिंसादिव्रतानां प्रत्येकं गुणं प्रतिपाद्येदानीं तद्विपक्षभूतानां हिंसाद्यव्रतानां दोषं दर्शयन्नाह—

धनश्रीसत्यघोषौ च तापसारक्षकावपि।
उपाख्येयास्तथा श्मश्रुनवनीतो यथाक्रमम्॥६५॥

धनश्रीश्रेष्ठिन्या हिंसातो बहुप्रकारं दुःखफलमनुभूतं। सत्यघोषपुरोहितेनानृतात्। तापसेन चौर्यात्। आरक्षकेन कोट्टपालेन ब्रह्माणि वृत्यभावात्। ततोऽव्रतप्रभवदुःखानुभवने उपाख्येया दृष्टान्तत्वेन प्रतिपाद्याः। के ते। धनश्रीसत्यघोषौ च। न केवलं एतौ एवं किन्तु तापसारक्षकावपि। तथा तेनैव प्रकारेण श्मश्रुनवनीतो वणिक्, यतस्तेनापि

कह प्रशंसा कर और वस्त्र आदिसे पूजाकर स्वर्ग चला गया। इस प्रकार पञ्चम अणुव्रतकी कथा पूर्ण हुई॥१८॥६४॥

भावार्थ :—(श्लोक ६४)—(१) अहिंसाणुव्रतमें यमपाल चांडाल, (२) सत्याणुव्रतमें धनदेव शेठ, (३) अचौर्याणुव्रतमें श्रेणिकका पुत्र वारिषेण, (४) ब्रह्मचर्याणुव्रतमें एक वैश्यकी पुत्री नीली और (५) परिग्रहपरिमाणअणुव्रतमें राजपुत्र जयकुमारने विशेषरूपसे प्रसिद्धि पाई है। ६४.

इस प्रकारसे पाँच अहिंसादिक व्रतोंमें प्रत्येकका फल प्रतिपादन करके अब इसके प्रतिपक्ष भूत हिंसादि अव्रतोंके दोष दर्शाकर कहते हैं—

श्लोक ६५
हिंसादि पांच अव्रतोमें (पापोंमें) प्रसिद्ध होनेवालोंके नाम

अन्वयार्थ—[यथाक्रमम्] क्रमसे [धनश्रीसत्यघोषौ] हिंसा करनेमें धनश्री नामकी वैश्य स्त्री, असत्य बोलनेमें सत्यघोष—श्रीभूति पुरोहित [अपिच] तथा [तापसारक्षकौ] चोरी करनेमें तापसने, अब्रह्मचर्यमें यमदंड नामका कोटपाल [तथा] और परिग्रहमें [श्मश्रु नवनीतः] श्रमश्रुनवनीत—लुब्धदत्त वणिकपुत्र [उपाख्येयाः] कहे गये हैं॥६५॥

टीकार्थ—धनश्री नामकी सेठानीने हिंसासे बहुत प्रकारका दुःखदायक फल भोगा है। सत्यघोष पुरोहितने असत्य बोलनेसे, तापसने चोरीसे और कोतवालने ब्रह्मचर्यका अभाव होनेसे दुःख भोगा है। इसी प्रकार श्मश्रुनवनीत नामके वणिक्ने परिग्रह पापके कारण बहुत दुःख

परिग्रहनिवृत्यभावतो बहुतरदुःखमनुभूतं। यथाक्रमं उक्तक्रमानतिक्रमेण हिंसादिविरत्यभावे एते उपाख्येयाः प्रतिपाद्याः। तत्र धनश्री हिंसातो बहुदुःखं प्राप्ता।

अस्याः कथा

लाटदेशे भृगुकच्छपत्तने राजा लोकपालः। वणिग्धनपालो भार्या धनश्री मनागपि[1] जीववधेऽविरता। तत्पुत्री सुन्दरी पुत्रो गुणपालः। अपुत्रकाले धनश्रिया यः पुत्रबुद्ध्या कुण्डलो नाम बालकः पोषितः, धनपाले मृते तेन सह धनश्रीः कुकर्मरता जाता। गुणपाले च गुणदोषपरिज्ञानके[2] जाते धनश्रिया तच्छंकितया[3] भणितः कुण्डलः प्रसरे गोधनं चारयितुमटव्यां गुणपालं प्रेषयामि, [4]लग्नस्त्वं तत्र तं मारय येनावयोर्निरंकुशमवस्थानं भवतीति ब्रुवाणां मातरमाकर्ण्य सुन्दर्या गुणपालस्य कथितं—अद्य[5] रात्रौ गोधनं गृहीत्वा प्रसरे त्वामटव्यां प्रेषयित्वा कुण्डलहस्तेन माता मारयिष्यत्यतः सावधानो भवेस्त्वमिति।

भोगा है। अतः ये सब ऊपर बताये हुए क्रमसे दृष्टान्त देने योग्य हैं। उनमें धनश्री हिंसा पापके फलसे दुर्गतिको प्राप्त हुई थी। इसकी कथा निम्न प्रकार है।

धनश्रीकी कथा

लाटदेशके भृगुकच्छ नगरमें राजा लोकपाल रहता था। वहीं एक धनपाल नामका सेठ रहता था। उसकी स्त्रीका नाम धनश्री था। धनश्री जीवहिंसासे किंचित् भी विरक्त नहीं थी अर्थात् निरन्तर जीवहिंसामें तत्पर रहती थी। उसकी सुन्दरी नामकी पुत्री और गुणपाल नामका पुत्र था। जब धनश्रीके पुत्र नहीं हुआ था तब उसने एक कुण्डल नामक बालकका पुत्रबुद्धिसे पालन–पोषण किया। समय पाकर जब धनपालकी मृत्यु हो गई तब धनश्री उस कुण्डलके साथ कुकर्म करने लगी। इधर धनश्रीका पुत्र गुणपाल जब गुण और दोषोंको जानने लगा तब उससे शंकित होकर धनश्रीने कुण्डलसे कहा कि मैं गोंखरमें गाएँ चरानेके लिये गुणपालको जंगल भेजूँगी सो तुम उसके पीछे लगकर उसे वहाँ मार डालो, जिससे हम दोनोंका स्वच्छन्द रहना हो जायगा—कोई रोक नहीं सकेगा। यह सब कहती हुई माताको सुन्दरीने सुन लिया, इसलिये उसने अपने भाई गुणपालसे कह दिया कि आज रात्रिमें गोधन लेकर गोंखरमें माता तुम्हें जंगल भेजेगी और वहाँ कुण्डलके हाथसे तुम्हें मरवा डालेगी, इसलिये तुम्हें सावधान रहना चाहिये।

---

१. मनागपि न जोववधविरता घ।
२. परिज्ञायके घ।
३. तत्सक्ततया।
४. प्रेषयामो लग्नास्त्वं घ।
५. अत्र घ।

धनश्रिया च रात्रिपश्चिमप्रहरे गुणपालो भणितो–हे पुत्र कुंडलस्य शरीरं विरूपकं वर्तते अतः प्रसरे गोधनं गृहीत्वाद्य त्वं व्रजेति। स च गोधनमटव्यां नीत्वा काष्ठं [1]च वस्त्रेण पिधाय तिरोहितो भूत्वा स्थितः। कुण्डलेन चागत्य गुणपालोऽयमिति मत्वा वस्त्रप्रच्छादितकाष्ठे घातः कृतो गुणपालेन च स खड्गेन हत्वा मारितः। गृहे आगतो गुणपालो धनश्रिया पृष्टः क्व रे कुण्डलः। तेनोक्तं कुण्डलवार्तामयं खड्गोऽभिजानाति। ततो रक्तलिप्तं बाहुमालोक्य स तेनैव खड्गेन मारितः। तं च मारयन्तीं धनश्रियं दृष्ट्वा सुन्दर्या मुशलेन सा हता। कोलाहले जाते कोट्टपालैर्धनश्रीर्धृत्वा राज्ञोऽग्रे नीता। राज्ञा च गर्दभारोहणे[2] कर्णनासिकाछेदनादिनिग्रहे कारिते मृत्वा दुर्गतिं गतेति प्रथमाव्रतस्य।

सत्यघोषोऽनृताद्बहुदुःखं प्राप्तः।

इत्यस्य कथा

जंबूद्वीपे भरतक्षेत्रे सिंहपुरे राजा सिंहसेनो राज्ञी रामदत्ता, पुरोहितः श्रीभूतिः। स

धनश्रीने रात्रिके पिछले पहर गुणपालसे कहा हे पुत्र! कुण्डलका शरीर ठीक नहीं है इसलिये आज तुम गोंखरमें गोधन लेकर जाओ। गुणपाल गोधनको लेकर जंगल गया और वहाँ एक काष्ठको कपड़ेसे ढँककर छिपकर बैठ गया। कुण्डलने आकर 'यह गुणपाल है' ऐसा समझकर वस्त्रसे ढके हुए काष्ठपर प्रहार किया। उसी समय गुणपालने तलवारसे उसे मार डाला। जब गुणपाल घर आया तब धनश्रीने पूछा कि रे गुणपाल! कुण्डल कहाँ गया? गुणपालने कहा कि कुण्डलकी बातको यह तलवार जानती है। तदनन्तर खूनसे लिप्त बाहुको देखकर धनश्रीने उसी तलवारसे गुणपालको मार दिया। भाईको मारती देख सुन्दरीने उसे मूसलसे मारना शुरू किया। इसी बीचमें कोलाहल होनेसे कोतवालोंने धनश्रीको पकड़कर राजाके आगे उपस्थित किया। राजाने उसे गधेपर चढ़ाया तथा कान, नाक आदि कटवाकर दण्डित किया, जिससे मरकर दुर्गतिको प्राप्त हुई। इस तरह प्रथम हिंसा अव्रतसे सम्बद्ध कथा पूर्ण हुई।

सत्यघोष असत्य बोलनेसे बहुत दुःखको प्राप्त हुआ था। इसकी कथा इस प्रकार है—

सत्यघोषकी कथा

जम्बूद्वीपके भरतक्षेत्र सम्बन्धी सिंहपुर नगरमें राजा सिंहसेन रहता था। उसकी रानीका

---

१. 'च' शब्दो नास्ति घ। २स. रोहणं घ।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ - ३६४२५०

ब्रह्मसूत्रे कर्तिकां बध्वा भ्रमति। वदति च यद्यसत्यं ब्रवीमि तदाऽनया कर्तिकया निजजिह्वाच्छेदं करोमि। एवं कपटेन वर्तमानस्य तस्य सत्यघोष इति द्वितीयं नाम संजातम्। लोकाश्च विश्वस्तास्तत्पार्श्वे द्रव्यं धरन्ति च। तद्द्रव्यं किंचितेषां समर्घ्य स्वयं गृह्णाति। पूत्कर्तुं बिभेति लोकः। न च पूत्कृतं राजा शृणोति। अथैकदा पद्मखण्डपुरादागत्य समुद्रदत्तो वणिक्पुत्रस्तत्र सत्यघोषपार्श्वेऽनर्घाणि[1] पंच माणिक्यानि धृत्वा परतीरे द्रव्यमुपार्जयितुं गतः। तत्र च तदुपार्ज्य व्याघुटितः स्फुटितप्रवहण एकफलकेनोत्तीर्य समुद्रं धृतमाणिक्यवांछया सिंहपुरे सत्यघोषसमीपमायातः। तं च रंकसमानमागच्छन्तमालोक्य तन्माणिक्यहरणार्थिना सत्यघोषेण प्रत्ययपूरणार्थं समीपोपविष्टपुरुषाणां कथितं। अयं पुरुषः स्फुटितप्रवहणः ततो ग्रहिलो जातोऽत्रागत्य[2] माणिक्यानि याचिष्यतीति। तेनागत्य प्रणम्य चोक्तं भो सत्यघोषपुरोहित! ममार्थोपार्जनार्थं गतस्योपार्जितार्थस्य[3] महाननर्थो जात इति मत्वा यानि मया तव रत्नानि धर्तुं समर्पितानि तानीदानीं प्रसादं कृत्वा देहि, येनात्मानंस्फुटितप्रवहणात्

नाम रामदत्ता था। उसी राजाका एक श्रीभूति नामका पुरोहित था। वह जनेऊमें कैंची बाँधकर घूमा करता था और कहता था कि यदि मैं असत्य बोलूँ तो इस कैंचीसे अपनी जिह्वाका छेद कर लूँ। इस तरह कपटसे रहते हुए उस पुरोहितका सत्यघोष यह दूसरा नाम चल पड़ा। लोग विश्वासको प्राप्त होकर उसके पास अपना धन रखने लगे। वह उन धनमेंसे कुछ तो रखने-वालोंको दे देता था। और बाकी स्वयं ग्रहण कर लेता था। लोग रोनेसे डरते थे और कोई रोता भी था तो राजा उसकी सुनता भी नहीं था।

तदनन्तर एक समय पद्मखण्ड नगरसे एक समुद्रदत्त नामका सेठ आया। वह वहाँ सत्यघोषके पास अपने पाँच बहुमूल्य रत्न रखकर धन उपार्जित करनेके लिये दूसरे पार चला गया और वहाँ धनोपार्जन करके जब लौट रहा था तब उसका जहाज फट गया। काठके एक पहियेसे वह समुद्रको पारकर रखे हुए मणियोंको प्राप्त करनेकी इच्छासे सिंहपुरमें सत्यघोषके पास आया। रंकके समान आते हुए उसे देखकर उसके मणियोंको हरनेके इच्छुक सत्यघोषने विश्वासकी पूर्तिके लिये समीपमें बैठे हुए लोगोंसे कहा कि यह पुरुष जहाज फट जानेसे पागल हो गया है और यहाँ आकर मणि माँगेगा। उस सेठने आकर तथा प्रणामकर कहा कि हे सत्यघोष पुरोहित! मैं धन कमानेके लिये गया था। धनोपार्जन करनेके बाद मेरे ऊपर बड़ा संकट आ पड़ा है इसलिये मैंने जो रत्न तुम्हें रखनेके लिये दिये थे वे रत्न कृपाकर मुझे दे दीजिये। जिससे जहाज फट जानके कारण निर्धनताको प्राप्त हुए अपने आपका उद्धार कर सकूँ।

---

१. ऽनर्घ्याणि घ। २. ऽत्रागत्या मां रत्नानि घ। ३. गतस्योपार्जितार्थस्यापि घ।

Shri Digambar Jain Swadhyay Mandir Trust, Songadh - 364250

गतद्रव्यं समुद्धरामि। तद्वचनमाकर्ण्य कपटेन[1] सत्यघोषेण समीपोपविष्टा जना भणिता मया प्रथमं यद् भणितं तद् भवतां सत्यं जातं। तैरुक्तं भवन्त एव जानन्त्ययं ग्रहिलोऽस्मात् स्थानान्निःसार्यतामित्युक्त्वा तैः समुद्रदत्तो गृहान्निःसारितः ग्रहिल इति भण्यमानः। पत्तने पूत्कारं कुर्वन् ममानध्यपंचमाणिक्यानि सत्यघोषेण गृहीतानि। तथा राजगृहसमीपे चिंचावृक्षमारुह्य पश्चिमरात्रे पूत्कारं कुर्वन् षण्मासान् स्थितः। तां पूत्कृतिमाकर्ण्य रामदत्तया भणितः सिंहसेनः—देव! नायं पुरुषः ग्रहिलः। राज्ञापि भणितं किं सत्यघोषस्य चौर्यं संभाव्यते? पुनरुक्तं राज्ञ्या देव! संभाव्यते तस्य चोर्यं यतोऽयमेतचादृशमेव सर्वदा वचनं ब्रवीति। एतदाकर्ण्य भणितं राज्ञा यदि सत्यघोषस्यैतत् संभाव्यते तदा त्वं परीक्षयेति। लब्धादेशया रामदत्तया सत्यघोषो राजसेवार्थमागच्छनाकार्य पृष्टः—किं बृहद्वेलायामागतोऽसि? तेनोक्तं—मम ब्राह्मणीभ्राताद्य प्राघूर्णकः समायातस्तं भोजयतो बृहद्वेला लग्नेति। पुनरप्युक्तं तया—क्षणमेकमत्रत्रोपविश! ममातिकौतुकं जातं। अक्षक्रीडां कुर्मः। राजापि तत्रैवागतस्तेनाप्येवं कुर्वित्युक्तं। ततोऽक्षद्यूते क्रीडया संजाते रामदत्तया

उसके वचन सुनकर कपटी सत्यघोषने पासमें बैठे हुए लोगोंसे कहा कि देखो, मैंने पहले आप लोगोंसे बात कही थी वह सत्य निकली। लोगोंने कहा कि आप ही जानते हैं, इस पागलको इस स्थानसे निकाल दिया जावे। ऐसा कहकर उन्होंने समुद्रदत्तको घरसे निकाल दिया। 'वह पागल है' ऐसा कहा जाने लगा। 'सत्यघोषने मेरे पाँच बहुमूल्य रत्न ले लिये हैं' इस प्रकार रोता हुआ वह नगरमें घूमने लगा। राजभवनके पास एक इमलीके वृक्षपर चढ़कर वह पिछली रातमें रोता हुआ यही कहता था। यह करते हुए उसे छह माह निकल गये।

एक दिन उसका रोना सुनकर रामदत्ता रानीने राजा सिंहसेनसे कहा कि देव! यह पुरुष पागल नहीं है। राजाने भी कहा कि तो क्या सत्यघोष चोरी करे ऐसी संभावना हो सकती है? रानीने फिर कहा कि देव! उसके चोरीकी संभावना हो सकती है क्योंकि यह सदा ऐसे ही वचन कहता है। यह सुनकर राजाने कहा कि यदि सत्यघोषके चोरीकी संभावना है तो तुम परीक्षा करो। आज्ञा पाकर रामदत्ताने एक दिन राजाकी सेवाके लिये आते हुए सत्यघोषको बुलाकर पूछा कि आज बहुत देरसे क्यों आये हैं? सत्यघोषने कहा कि आज मेरी ब्राह्मणीका भाई पाहुना बनकर आया था, उसे भोजन कराते हुए बहुत देर लग गई। रानीने फिर कहा—अच्छा, यहाँ थोड़ी देर बैठो, मुझे बहुत शौक है। हम अक्षक्रिडा करें—जुआ खेलें। राजा भी वहीं आ गये और उन्होंने यह कह दिया कि ऐसा करो।

---

१. कपटोपेतसत्य घ।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ - ३६४२५०

निपुणमतिविलासिनी कर्णे लगित्वा भणिता सत्यघोषः पुरोहितो राज्ञीपार्श्वे तिष्ठति तेनाहं ग्रहिलमाणिक्यानि याचितुं प्रेषितेति तद्ब्राह्मण्यग्रे भणित्वा तानि याचयित्वा च शीघ्रमागच्छेति। ततस्तया गत्वा याचितानि। तद्ब्राह्मण्या च पूर्व सुतरां निषिद्धया न दत्तानि। तद्विलासिन्या चागत्य देवीकर्णे कथितं सा न ददातीति। ततो जितमुद्रिकां तस्य साभिज्ञानं दत्त्वा पुनः प्रेषिता तथापि तया न दत्तानि। ततस्तस्य कर्तिकायज्ञोपवीतं जितं साभिज्ञानं दत्तं दर्शितं च तया। ब्राह्मण्या तद्दर्शनात्तुष्टया[1] भीतया च समर्पितानि माणिक्यानि तद्विलासिन्याः। तया च रामदत्तायाः समर्पितानि। तया च राज्ञो दर्शितानि। तेन च बहुमणिक्यमध्ये निक्षेप्याकार्य च ग्रहिलो भणितः रे निजमाणिक्यानि परिज्ञाय गृहाण। तेन च तथैव गृहीतेषु तेषु राज्ञा रामदत्तया च वणिक्पुत्रःप्रतिपन्नः। ततो राज्ञा सत्यघोषः पृष्टः—इदं कर्म त्वया[2] कृतमिति। तेनोक्तं देव! न करोमि, किं ममेदृशं कर्तुं युज्यते? ततोऽतिरुष्टेन तेन राज्ञा तस्य दण्डत्रयं कृतं। गोमयभृतं भाजनत्रयं भक्षय,

---

तदनन्तर जब जुआँका खेल होने लगा तब रामदत्ता रानीने निपुणमति नामकी स्त्रीसे उसके कानमें लगकर कहा कि, 'सत्यघोष पुरोहित, रानीके पास बैठे हैं, उन्होंने मुझे पागलके रत्न माँगनेके लिये भेजा है' ऐसा उसकी ब्राह्मणीको कहकर वे रत्न माँगकर शीघ्र आओ। तदनन्तर निपुणमतिने जाकर वे रत्न माँगे, परन्तु ब्राह्मणीने नहीं दिये, क्योंकि सत्यघोषने उसे पहले ही मना कर रक्खा था कि किसीके माँगनेपर रत्न नहीं देना। निपुणमतिने आकर रानीके कानमें कहा कि वह नहीं देती है। तदनन्तर रानीने पुरोहितकी अंगूठी जीत ली, उसे पहिचानकेरूपमें देकर निपुणमतिको फिरसे भेजा, परन्तु उसने फिर भी नहीं दिये। अबकी बार रानीने पुरोहितका कैंची सहित जनेऊ जीत लिया। निपुणमतिने उसे पहिचानकेरूपमें दिया और दिखाया। उसे देखकर ब्राह्मणी आश्वस्त हुई तथा 'नहीं देती हूँ तो पुरोहित कुपित होंगे', इस तरह भयभीत भी हुई, अतः उसने वे मणि निपुणमतिको दे दिये और निपुणमतिने रामदत्ताको सौंप दिये। रामदत्ताने राजाको दिखाये। राजाने उन रत्नोंको बहुतसे रत्नोंमें मिलाकर उस पागलसे कहा कि अपने रत्न पहिचान कर उठा ले। उसने उसी प्रकार जब अपने रत्न उठा लिये तब राजा और रानीने उसे वणिकपुत्र—सेठ स्वीकृत किया अर्थात् यह मान लिया कि यह पागल नहीं है किन्तु वणिक्पुत्र है।

तदनन्तर राजाने सत्यघोषसे पूछा कि तुमने यह कार्य किया है? उसने कहा कि देव! मैंने नहीं किया हैं। मुझे ऐसा करना क्या युक्त है? तदनन्तर अत्यन्त कुपित हुए राजाने उसके

---

१. हृष्टया तया घ। २. त्वया कृतं किं न कृतमिति घ।

Shri Digambar Jain Swadhyay Mandir Trust, Songadh - 364250

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ - ३६४२५०

मल्लमुष्टिघातत्रयं वा सहस्व, द्रव्यं वा सर्वं देहि। तेन च पर्यालोच्य गोमयं खादितुमारब्धं। तदशक्तेन मुष्टिघातः सहितुमारब्धः। तदशक्तेन द्रव्यं दातुमारब्धं। एवं दण्डत्रयमनुभूय मृत्वातिलोभवशाद्राजकीयभांडागारे[1] अगंधनसर्पो जातः। तत्रापि मृत्वा दीर्घसंसारी जात इति द्वितीयाव्रतस्य।

तापसश्चौर्याद्बहुदुःखं प्राप्तः।

इत्यस्य कथा

वत्सदृश कौशाम्बीपुरे राजा सिंहरथो राज्ञी विजया। तत्रैकश्चौरः कौटिल्येन तापसो भूत्वा परभूमिमस्पृशदवलम्बमान[2] शिक्यस्थो दिवसे पंचाग्निसाधनं करोति। रात्रौ च कौशांबीं मुषित्वा तिष्ठति। एकदा महाजनान्मुष्टं [3]नगरमाकर्ण्य राज्ञा कोट्टपालो भणितो रे सप्तरात्रमध्ये चौरं निजशिरो वाऽऽनय। ततश्चौरमलभमानश्चिन्तापरः तलारोऽपराह्णे" बुभुक्षितब्राह्मणेन केनचिदागत्य भोजनं प्रार्थितः। तेनोक्तं—हे ब्राह्मण! अच्छान्दसोऽसि मम

लिये तीन दण्ड निर्धारित किये—१. तीन थाली गोबर खाओ, २. पहलवानोंके तीन मुक्के खाओ अथवा ३. समस्त धन देओ। उसने विचारकर पहले गोबर खाना प्रारम्भ किया, पर जब गोबर खानेमें असमर्थ रहा, तब पहलवानोंके मुक्के सहन करना शुरू किया, पर जब उसमें भी असमर्थ रहा तब सब धन देना प्रारम्भ किया। इस प्रकार तीनों दण्डोंको भोगकर वह मरा और तीव्रलोभके कारण राजाके खजानेमें अंगधन जातिका साँप हुआ। वहाँ भी मरकर दीर्घ संसारी हुआ। इस प्रकार द्वितीय अव्रतकी कथा पूर्ण हुई।

तापस चोरीसे बहुत दुःखको प्राप्त हुआ, इसकी कथा इस प्रकार है।

तापसकी कथा

वत्सदेशकी कौशाम्बी नगरीमें राजा सिंहरथ रहता था। उसकी रानीका नाम विजया था। वहाँ एक चोर कपटसे तापस होकर रहता था। वह दूसरेकी भूमिका स्पर्श न करता हुआ लटकते हुए सींके पर बैठकर दिनमें पञ्चाग्नि तप करता था और रात्रिमें कौशाम्बी नगरीको लूटता था। एक समय 'नगर लुट गया है' इस तरह महाजनसे सुनकर राजाने कोटवाल से कहा—रे कोटवाल! सात रात्रिके भीतर चोर लाओ या अपना शिर लाओ। तदनन्तर चोरको न पाता हुआ कोटवाल चिन्तामें निमग्न हो अपराह्णकालमें बैठा था कि किसी भूखे ब्राह्मणने

---

१. अंगध घ। २. मस्पृशन् विलम्ब्यमान घ। ३. तन्नगर घ।

Shri Digambar Jain Swadhyay Mandir Trust, Songadh - 364250

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ - ३६४२५०

प्राणसन्देहो वर्तते त्वं च भोजनं प्रार्थयसे। एतद्वचनमाकर्ण्य पृष्टं ब्राह्मणेन कुतस्ते प्राणसन्देहः ?। कथितं च तेन। तदाकर्ण्य पुनः पृष्टं ब्राह्मणेन—अत्र किं कोऽप्यतिनिस्पृहवृत्तिपुरुषोऽप्यस्ति ? उक्तं तलारेण–अस्ति विशिष्टस्तपस्वी, न च तस्यैतत् सम्भाव्यते। भणितं ब्राह्मणेन—स एव चौरो भविष्यति[1] अतिनिस्पृहत्वात्। श्रूयतामत्र मदीया कथा–मम ब्राह्मणी महासती परपुरुषशरीरं न स्पृशतीति निजपुत्रस्याप्यतिकुक्कुटात् कर्पटेन सर्व शरीरं प्रच्छाद्य स्तनं दादाति। रात्रौ तु [2]गृहपिण्डारेण सह कुकर्म करोति (१)। तद्दर्शनात् संजातवैराग्योऽहं संवलार्थं[3] सुवर्णशलाकां वंशयष्टिमध्ये निक्षिप्य तीर्थयात्रायां निर्गतः। अग्रे गच्छतश्च ममैकब्टुको मिलितो न तस्य विश्वासं गच्छाम्यहं यष्टिरक्षां यत्नतः करोमि। तेनाकलिता सा यष्टिःसगर्मेति। एकदा रात्रौ कुंभकारगृहे निद्रां कृत्वा द्रादूगत्वा तेन निजमस्तके लग्नं कुथितं तृणमालोक्यातिकुक्कुटेन ममाग्रतो, हा हा मया परतृणमदत्तं

आकर उससे भोजन माँगा। कोटवालने कहा—हे ब्राह्मण! तुम अभिप्रायको नहीं जानते। मुझे तो प्राणोंका सन्देह हो रहा है और तुम भोजन माँग रहे हो। यह वचन सुनकर ब्राह्मणने पूछा कि तुम्हें प्राणोंका सन्देह किस कारणसे हो रहा है? कोटवालने कारण कहा। उसे सुनकर ब्राह्मणने फिर पूछा यहाँ क्या कोई अत्यन्त निःस्पृह वृत्तिवाला पुरुष रहता है। कोटवालने कहा कि विशिष्ट तपस्वी रहता है, परन्तु उसका यह कार्य सम्भव नहीं है। ब्राह्मणने कहा कि वही चोर होगा, क्योंकि वह अत्यन्त निःस्पृह है। इस विषयमें मेरी कहानी सुनिये—

(१) मेरी ब्राह्मणी अपने आपको महासती कहती है और 'मैं पर पुरुषके शरीरका स्पर्श नहीं करती', यह कहकर तीव्र कपटसे समस्त शरीरको कपड़ेसे आच्छादित कर अपने पुत्रको स्तन देती है—दूध पिलाती है। परन्तु रात्रिमें गृहके वरेदीके साथ कुकर्म करती है।

यह देख मुझे वैराग्य उत्पन्न हो गया और मैं मार्गमें हितकारी भोजनके लिये सुवर्णशलाकाको बाँसकी लाठीके बीच रखकर तीर्थयात्राके लिये निकल पड़ा। (२) आगे चलनेपर मुझे एक ब्रह्मचारी बालक मिल गया—वह हमारे साथ हो गया। मैं उसका विश्वास नहीं करता था, इसलिये उस लाठीकी बड़े यत्नसे रक्षा करता था। उस बालकने ताड़ लिया—समझ लिया कि यह लाठी सगर्मा है—इसके भीतर कुछ धन है। एक दिन वह बालक रात्रिमें कुम्भकारके घर सोया। प्रातः वहाँसे चलकर जब दूर आ गया तब मस्तकमें लगे हुए सड़े तृणको देखकर कपटवश उसने मेरे आगे कहा कि हाय हाय मैं दूसरेके तृणको ले आया। ऐसा

---

१. भविष्यतीति निःस्पृहत्वात् घ। २. पिण्डारो महिषी वाले क्षेपक्षेपण शाखि।

३. शान्बलार्थमिति ख, ग।

Shri Digambar Jain Swadhyay Mandir Trust, Songadh - 364250

[1]ग्रसितमित्युक्त्वा व्याघुट्य तृणं तत्रैव कुंभकारगृहे निक्षिप्य दिवसावसाने कृतभोजनस्य ममागत्य मिलितः। भिक्षार्थं गच्छतस्तस्यातिशुचिरयमिति मत्वा विश्वसितेन मया यष्टिः कुक्कुरादिनिवारणार्थं समर्पिता। तां गृहीत्वा स गतः (२)। ततो मया महाटव्यां गच्छतातिवृद्धपक्षिणोऽतिकुर्कुटं दृष्टं। यथा एकस्मिन् महति वृक्षे मिलिताः पक्षिगणो रात्रावेकेनातिवृद्धपक्षिणा निजभाषया भणितो रे रे पुत्राः! अहं अतीव गन्तुं न शक्नोमि। बुभुक्षितमनाः कदाचिद्भवत्पुत्राणां भक्षणं करोमि चित्तचापल्यादतो मम मुखं प्रभाते बध्वा सर्वेऽपि गच्छन्तु। तैरुक्तं हा हा तात! पितामहस्त्वं किं तवैतत् संभाव्यते? तेनोक्तं—"बुभुक्षितः किं न करोति पापं" इति। एवं प्रभाते तस्य पुनर्वचनात् तन्मुखं बद्ध्वा ते गताः। स च बद्धो गतेषु चरणाभ्यां मुखाद्बन्धनं[2] दूरीकृत्वा तद्बालकान् भक्षयित्वा तेषामागमनसमये पुनः चरणाभ्यां बन्धनं मुखे संयोज्यातिकुर्कुटेन क्षीणोदरो भूत्वा स्थितः (३)। ततो नगरगतेन चतुर्थमतिकुर्कुटं दृष्टं मया। यथा तत्र नगरे एकश्चौरस्तपस्विरूपं धृत्वा

कहकर वह लौटा और उस तृणको उसी कुम्भकारके घर पर डालकर सांयकालके समय तब हमसे मिला जब कि मैं भोजन कर चुका था। वह बालक जब भिक्षाके लिये जाने लगा तब मैंने सोचा कि यह तो बहुत पवित्र है, इस तरह उसका विश्वास कर कुत्ते आदिको भगानेके लिये मैंने वह लाठी उसको दे दी। उसे लेकर वह चला गया।

(३) तदनन्तर महाअटवीमें जाते हुए मैंने एक वृद्धपक्षीका बड़ा कपट देखा। एक बड़े वृक्षपर रात्रिके समय बहुत पक्षियोंका समूह एकत्रित हुआ। उसमें अत्यन्त वृद्धपक्षीने रात्रिके समय अपनी भाषामें दूसरे पक्षियोंसे कहा कि हे पुत्रो! अब मैं अधिक चल नहीं सकता। कदाचित् भूखसे पीड़ित होकर आप लोगोंके पुत्रोंका भक्षण करने लगूँ, इसलिये प्रातःकाल आप लोग हमारे मुखको बाँधकर जाइये। पक्षियोंने कहा कि हाय पिताजी! आप तो हमारे बाबा हैं, आपमें इसकी संभावना कैसे की जा सकती है? वृद्धपक्षीने कहा कि 'बुभुक्षितः किं न करोति पापम्' भूखा प्राणी क्या पाप नहीं करता?' इस तरह प्रातःकाल सब पक्षी उस वृद्धके कहनेसे उसके मुखको बाँधकर चले गये। वह बँधा हुआ वृद्ध पक्षी, सब पक्षियोंके चले जानेपर अपने पैरोंसे मुखका बन्धन दूर कर उन पक्षियोंके बच्चोंको खा गया और जब उनके आनेका समय हुआ तब फिरसे पैरोंके द्वारा मुखमें बन्धन डालकर कपटसे क्षीणोदर होकर पड़ गया।

(४) तदनन्तर मैं एक नगरमें पहुँचा। वहाँ मैंने चौथा कपट देखा। वह इस प्रकार कि

---

१. हिसितं घ।

२. बन्धनमुत्तार्य घ।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ - ३६४२५०

बृहच्छिलां च मस्तकस्योपरि हस्ताभ्यामूर्ध्वं गृहीत्वा नगरमध्ये तिष्ठति दिवा रात्रौ चातिकुकुर्टेन 'अपसर जीव पादं ददामि, अपसर जीव पादं ददामीति' भणन् भ्रमति। 'अपसरजीवेति' चासौ भक्तसर्वजनैर्भण्यते। स च गर्तादिविजनस्थाने दिगवलोकनं कृत्वा सुवर्णभूषित-मेकाकिनं प्रणमन्तं तया शिलया मारयित्वा तद्रव्यं गृह्णाति (४)। इत्यतिकुर्कुट-चतुष्टयमालोक्य मया श्लोकोऽयं कृतः—

अबालस्पर्शका नारी ब्राह्मणोऽतृणहिंसकः।
वने काष्ठमुखः पक्षी पुरेऽपसरजीवकः॥ इति

इति कथयित्वा तलारं धीरयित्वा सन्ध्यायां ब्राह्मणः शिक्यतपस्विसमीपं गत्वा तपस्विप्रतिचारकैर्निर्घाट्यमानोजोऽपि रात्र्यन्धो भूत्वा तत्र पतित्वैकदेशे स्थितः। ते च प्रतिचारकाः रात्र्यन्धपरीक्षणार्थं तृणकट्टिकांगुल्यादिकं तस्याक्षिसमीपं नयन्ति। स च पश्यन्नपि न पश्यति। बृहद्रात्रौ गुहायामन्धकूपे नगरद्रव्यं ध्रियमाणमालोक्य तेषां खादनपानादिकं वालोक्य[1] प्रभाते राज्ञा मार्यमाणस्तलारो रक्षितः तेन रात्रिदृष्टमावेद्य। स शिक्यस्थस्तपस्वी

उस नगरमें एक चोर तपस्वीकारूप रखकर तथा दोनों हाथोंसे मस्तकके ऊपर एक बड़ी शिलाको उठाकर दिनमें खड़ा रहता था और रात्रिमें 'हे जीव हटो मैं पैर रख रहा हूँ, हे जीव हटो मैं पैर रख रहा हूँ' इस प्रकार कहता हुआ भ्रमण करता था। समस्त भक्तजन उसे 'अपसर जीव' इस नामसे कहने लगे थे। वह चोर जब कोई गड्ढा आदि एकान्त स्थान मिलता तो सब ओर देखकर सुवर्णसे विभूषित प्रणाम करते हुए एकाकी पुरुषको उस शिलासे मार डालता और उसका धन ले लेता था। इन चार तीव्र कपटोंको देखकर मैंने यह श्लोक बनाया था—

अबालेति—पुत्रका स्पर्श न करनेवाली स्त्री, तृणका घात न करने वाला ब्राह्मण, वनमें काष्ठमुख पक्षी और नगरमें अपसर जीवक ये चार महा कपट मैंने देखे हैं।

ऐसा कहकर तथा कोटवाल को धीरज बँधाकर वह ब्राह्मण सींकेमें रहने वाले तपस्वीके पास गया। तपस्वीके सेवकोंने उसे वहाँसे निकालना भी चाहा, परन्तु वह रात्रिको अंधा बनकर एक कोनेमें बैठ गया। तपस्वीके उन सेवकोसे 'यह सचमुच ही रात्र्यन्ध है या नहीं' इसकी परीक्षा करनेके लिये तृणकी काड़ी तथा अंगुली आदिक उसके नेत्रोंके पास चलायी, परन्तु वह देखता हुआ भी नहीं देखता रहा। जब बड़ी रात्रि हो गई तब उसने गुहारूप अन्धकूपमें रखे जाते हुए नगरके धनको देखा और उन लोगोंके खान पान आदिको देखा। प्रातःकाल उसने जो कुछ रात्रिमें देखा था उसे कहकर राजाके द्वारा मारे जानेवाले कोटवालकी रक्षा की। सींकेमें

---

१. खानपानस्त्र्यादिकं चालोक्य घ।-

Shri Digambar Jain Swadhyay Mandir Trust, Songadh - 364250

चौरस्तेन तलारेण बहुकदर्थनादिभिः कदर्थ्यमानो मृत्वा दुर्गतिं गतस्तृतीयाव्रतस्य।

[1]आरक्षिणाऽब्रह्मनिवृत्त्यभावाद्दुःखं प्राप्तम्।

अस्य कथा

[2]आहीरदेशे नासिक्यनगरे राजा कनकरथो राज्ञी कनकमाला, [3]तलारो यमदण्डस्तस्य माता बहुसुन्दरी तरुणरण्डा पुंश्चली। सा एकदा बध्वा धर्तुं समर्पिताभरणं गृहीत्वा रात्रौ संकेतितजारपार्श्वे गच्छन्ती यमदण्डेन दृष्टा सेविता चैकान्ते। तदाभरणं चानीय तेन निजभार्याया दत्तं। तया च दृष्ट्वा भणितं—[4]मदीयमिदमाभरणं, मया श्वश्रूहस्ते धृतं' तद्वचनमाकर्ण्य तेन चिन्तितं या मया सेविता सा मे जननी भविष्यतीति। ततस्तस्या जारसंकेतगृहं गत्वा तां सेवित्वा तस्यामासक्तो गूढवृत्त्या तया सह कुकर्मरतः स्थितः। एकदा

बैठने वाला वह तपस्वी उस कोटवालके द्वारा पकड़ा गया और बहुत भारी यातनाओंसे दुःखी होता हुआ मरकर दुर्गतिको प्राप्त हुआ।

इस प्रकार तृतीय अव्रतकी कथा पूर्ण हुई।

अब्रह्मा—कुशील सेवनसे निवृत्ति न होनेके कारण यमदण्ड कोटवालने दुःख प्राप्त किया। इसकी कथा इस प्रकार है—

यमदण्ड कोटवालकी कथा

आहीर देशके नासिक नगरमें राजा कनकरथ रहते थे उनकी रानीका नाम कनकमाला था। उनका एक यमदण्ड नामका कोटवाल था। उसकी माता अत्यन्त सुन्दर थी। वह यौवन अवस्थामें ही विधवा हो गई थी तथा व्यभिचारिणी बन गई थी। एक दिन उसकी पुत्रवधूने रखनेके लिये आभूषण दिया। उस आभूषणको पहिनकर वह रात्रिमें अपने पहलेसे संकेतित जारके पास जा रही थी। यमदण्डने उसे देखा और एकान्तमें उसका सेवन किया। यमदण्डने उसका आभूषण लाकर अपनी स्त्रीको दिया। स्त्रीने देखकर कहा कि यह आभूषण तो मेरा है, मैंने रखनेके लिये सासके हाथमें दिया था। स्त्रीके वचन सुनकर यमदण्ड कोटवालने विचार किया कि मैंने जिसके साथ उपभोग किया है वह मेरी माता होगी। तदनन्तर यमदण्ड, माताके जारके संकेतगृह (मिलनेके स्थान) पर जाकर उसका पुनः सेवन किया और उसमें आसक्त होकर गूढरीतिसे उसके साथ कुकर्म करने लगा।

---

१. आरक्षेण घ। २. अहीरदेशे ख, ग। ३. तलवरो घ। ४. मदीयमाभरणं घ।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ - ३६४२५०

तद्भार्ययाऽसहनादतिरुष्टया रजक्याः कथितं। मम भर्ता निजमात्रा सह तिष्ठति। रजक्या च मालाकारिण्याः कथितं। अतिविश्वस्ता मालाकारिणी च कनकमालाराज्ञीनिमित्तं पुष्पाणि गृहीत्वा गता। तया च पृष्टा सा कुतूहलेन, जानासि हे कामष्यपूर्वां[1] वार्तां। तया च तलारद्विष्टतया कथितं राज्ञ्याः, देवि! यमदण्डतलारो[2] निजजनन्या सह तिष्ठति। कनकमालया च राज्ञः कथितं। राज्ञा च गूढपुरुषद्वारेण तस्य कुकर्म निश्चित्य [3]तलारो [4]गृहीतो दुर्गतिं गतश्चतुर्थाव्रतस्य।

परिग्रहनिवृत्यभावात् श्मश्रुनवनीतेन बहुतरं दुःखं प्राप्तं।

अस्य कथा

अस्त्ययोध्यायां श्रेष्ठी भवदत्तो भार्या धनदत्ता पुत्रो लुब्धदत्तः वाणिज्येन दूरं गतः। तत्र [5]स्वमुपार्जितं तस्य चौरेर्नीतं। ततोऽतिनिर्धनेन[6] तेन मार्गे आगच्छता तत्रैकदा गोदुहः[7]

एक दिन उसकी स्त्रीको जब यह सहन नहीं हुआ तब उसने अत्यन्त कुपित होकर धोबिनसे कहा कि मेरा पति अपनी माताके साथ रमता है। धोबिनने मालिनसे कहा और मालिन कनकमाला रानीकी अत्यन्त विश्वासपात्र थी, वह जब कनकमाला रानीके लिये फूल लेकर गई तब रानीने कुतूहल वश उससे पूछा कि कोई अपूर्व बात जानती हो? मालिन कोटवालसे द्वेष रखती थी, अतः उसने रानीसे कह दिया कि देवि! यमदण्ड कोटवाल अपनी माताके साथ रमण करता है। कनकमालाने यह समाचार राजासे कहा और राजाने गुप्तचरके द्वारा उसके कुकर्मका निश्चय कर कोटवालको पकड़वाया। दण्डित होनेपर वह दुर्गतिको प्राप्त हुआ। इस प्रकार चतुर्थ अव्रतकी कथा पूर्ण हुई।

परिग्रहपापसे निवृत्ति न होनेके कारण श्मश्रुनवनीतने बहुत दुःख प्राप्त किया। इसकी कथा इस प्रकार है—

श्मश्रुनवनीतकी कथा

अयोध्यानगरीमें भवदत्त नामका सेठ रहता था। उसकी स्त्रीका नाम धनदत्ता था और पुत्रका नाम लुब्धदत्त था। एक बार वह लुब्धदत्त व्यापारके निमित्त दूर (देश) गया। वहाँ उसने जो धन कमाया था वह सब चोरोंने चुरा लिया। तदनन्तर अत्यन्त निर्धन होकर किसी मार्गसे

---

१. कामष्यपूर्ववार्ता घ। २. तलवरो घ। ३. तलवरो घ। ४. निगृहीतो घ।
५. समुपार्जितं द्रव्यं तत्तस्य घ। ६. ततो निर्धनेन घ। ७. गोकुले ख-ग-घ।

Shri Digambar Jain Swadhyay Mandir Trust, Songadh - 364250

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ - ३६४२५०

तक्रं पातुं याचितं। तक्रे पीते स्तोकं नवनीतं कूर्चे लग्नमालोक्य गृहीत्वा चिन्तितं तेन वाणिज्यं भविष्यत्यनेन मे, एवं च तत्संचिन्वतस्तस्य श्मश्रुनवनीत इति नाम जातं। एवमेकदा प्रस्थप्रमाणे घृते जाते घृतस्य[1] भाजनं पादान्ते धृत्वा शीतकाले तृणकुटीरकद्वारे अग्निं च पादान्ते कृत्वा[2] रात्रो संस्तरे पतितः संचिन्तयति, अनेन घृतेन बहुतरमर्थमुपार्ज्य सार्थवाहो भूत्वा [3]सामन्तमहासामन्तराजाधिराजपदं प्राप्य क्रमेण सकलचक्रवर्ती भविष्यामि यदा, तदा च मे सप्ततलप्रासादे शय्यागतस्य पादान्ते[4] समुपविष्टं स्त्रीरत्नं पादौ मुष्ट्या ग्रहीष्यति न जानासि पादमर्दनं कर्तुमिति स्नेहेन भणित्वा स्त्रीरत्नमेवंपादेन ताडयिष्यामि, एवं चिन्तयित्वा[5] तेन चक्रवर्तिरूपाविष्टेन पादेन हत्वा पातितं[6] तद्घृतभाजनं तेन च घृतेन द्वारे संधुक्षितोऽग्निः सुतरां प्रज्वलितः। ततो द्वारे प्रज्वलिते निःसर्तुमशक्तो दग्धो मृतो दुर्गति गतः इच्छाप्रमाणरहितपंचमाव्रतस्य ॥६५॥

आ रहा था। वहाँ उसने किसी समय एक गोपालसे पीनेके लिये छाँछ माँगी। छाँछ पी चुकनेपर उसका कुछ मक्खन मूछोंमें लग गया। उसे देख उसने वह मक्खन यह विचार कर निकाल लिया कि इससे व्यापार होगा। इस तरह वह प्रतिदिन मक्खनका संचय करने लगा, जिससे उसका श्मश्रुनवनीत यह नाम प्रचलित हो गया।

इस प्रकार एक दिन प्रस्थप्रमाण घी हो गया, तब वह घीके बर्तनको अपने पैरोंके समीप रखकर तथा शीतकालमें झोपड़ीके द्वारपर पैरोंके समीप अग्नि रखकर बिस्तरपर पड़ गया। वह बिस्तरपर पड़ा-पड़ा विचार करता है कि इस घीसे बहुत धन कमाकर मैं सेठ हो जाऊँगा, फिर धीरे-धीरे सामन्त, महासामन्त, राजा और अधिराजाका पद प्राप्तकर शय्यातलपर पड़ा होऊँगा। चरणोंके समीप बैठी हुई सुन्दर स्त्री मुट्ठीसे मेरे पैर दाबेगी। और मैं स्नेहवश उससे कहूँगा कि तुझे पैर दबाना भी नहीं आता। ऐसा कहकर मैं पैरसे उसे ताड़ित करूँगा। ऐसा विचारकर उसने अपने आपको सचमुच ही चक्रवर्ती समझ लिया और पैरसे ताड़ितकर घीका बर्तन गिरा दिया। उस घीसे द्वारपर रखी हुई अग्नि बहुत जोरसे प्रज्वलित हो गई। द्वार जलने लगा, जिससे इच्छाओंके परिमाणसे रहित वह निकलनेमें असमर्थ हो वहीं जलकर मर गया और दुर्गतिको प्राप्त हुआ।

इस प्रकार पञ्चम अव्रतकी कथा पूर्ण हुई।

---

१. तस्य घ। २. धृत्वा ग। ३. राज्यपदं। ४. तदुपविष्टं घ।

५. चिन्तयता नेम घ। ६. पतितं घ श्रवणोत्तमाः घ।

Shri Digambar Jain Swadhyay Mandir Trust, Songadh - 364250

यानि चेतानि पंचाणुव्रतान्युक्तानि मद्यादित्रयत्यागसमन्वितान्यष्टौ मूलगुणा भवन्तीत्याह—

मद्यमांसमधुत्यागैः सहाणुव्रतपञ्चकम्।
अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणां [1]श्रमणोत्तमाः ॥६६॥

'गृहिणामष्टौ मूलगुणानाहुः'। के ते? श्रमणोत्तमा जिनाः। किं तत्? 'अणुव्रतपंचकं'। कैः सह? 'मद्यमांसमधुत्यागैः' मद्यं च मांसं च मधु च तेषां त्यागास्तैः ॥६६॥

भावार्थ :—(१) हिंसामें धनश्री शेठानी, (२) असत्यमें सत्यघोष, (३) चोरीमें एक तपस्वी, (४) कुशीलमें यमदंड कोटवाल और (५) परिग्रहमें श्मश्रुनवनीत (लुब्ध दत्त) वैश्य—यह विशेषरूपसे प्रसिद्ध हुए हैं।

''.....कोई कठोर (अच्छा) आचरण होनेसे सम्यक्चारित्र हुआ कहता है। वहाँ जिसने जैन धर्म अंगीकार किया हो अथवा कोई छोटी-मोटी प्रतिज्ञा ग्रहण की हो उसे श्रावक कहते हैं। अब श्रावक तो पंचम गुणस्थानवर्ती होने पर ही होता है, परंतु पूर्ववत् उपचारसे उसे श्रावक कहते हैं.....'' जिसने बादमें पंचम गुणस्थान प्राप्त किया हो उसे ही यह उपचार लागू पड़ता है, दूसरेको यह नहीं लागू पड़ता है। व्रत संबंधी जो दृष्टांत (कथारूप) आए हैं वे सभी इस द्रष्टिसे समझना। ६५.

यह पाँच अणुव्रत कहे हैं वह मधादि त्रयके त्याग सहित आठ मूलगुण हैं ऐसा कहते हैं—

श्लोक ६६
श्रावकके अष्ट मूलगुण

अन्वयार्थ—[श्रमणोत्तमाः] गणधरदेव [गृहिणाम्] गृहस्थोंके [मद्यमांसमधुत्यागैः सह] मद्यत्याग, मांसत्याग और मधुत्यागके साथ [अणुव्रतपंचकम्] पांच अणुव्रतोंको [अष्टौ] आठ [मूलगुणान्] मूलगुण [आहुः] कहते हैं॥६६॥

टीकार्थ—श्रमण, श्रवण अथवा शमन ये सब मुनियोंके नाम हैं। इनमें जो उत्तम गणधरादिक देव हैं वे श्रमणोत्तम कहलाते हैं। उन्होंने गृहस्थोंके आठ मूलगुण इस प्रकार

---

१. श्रवणोत्तमाः घ।

एवं पंचप्रकारमणुव्रतं प्रतिपाद्येदानीं त्रिप्रकारं गुणव्रतं प्रतिपादयन्नाह—

बतलाये हैं—१. मद्यत्याग, २. मांसत्याग, ३. मधुत्याग, ४. अहिंसाणुव्रत, ५. सत्याणुव्रत, ६. अचौर्याणुव्रत, ७. ब्रह्मचर्याणुव्रत और परिग्रहपरिमाणाणुव्रत।

भावार्थ :—(१) मद्यत्याग, (२) मांसत्याग, (३) मधुत्याग सहित, (४) अहिंसाणु व्रत, (५) सत्याणु व्रत, (६) अचौर्याणुव्रत, (७) ब्रह्मचर्याणुव्रत और (८) परिग्रह परिमाण—अणुव्रत—ये श्रावकके आठ मूलगुण हैं।

विशेष

आठ मूलगुण संबंधी कोई कोई आचार्योंकी विवक्षामें भेद है, लेकिन उसमें विरोध नहीं है।

श्री समन्तभद्राचार्यने इस ग्रंथमें (श्लोक ६६में) मद्य, मांस, मधु इन तीनोंके त्याग सहित, अहिंसादि पाँच अणुव्रतके पालनमें आठ मूलगुण कहे हैं।

श्री अमृतचन्द्राचार्यने पुरुषार्थ सिद्धि–उपायमें गाथा–६१में कहा है कि ''हिंसाका त्याग करनेकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको प्रथम ही यत्नपूर्वक मद्य, मांस, मधु तथा पाँच उदुम्बर फलोंका त्याग करना चाहिए; और श्लोक ४२में कहा है कि ''समस्त हिंसादि पाँच पाप कहे हैं वह हिंसा ही है'' इस प्रकार तीनोंके त्यागमें अहिंसादि पाँच अणुव्रतोंका पालन भी स्वयं आ जाता है।

चारित्र पाहुड़में गाथा २३, पृष्ठ ९५की हिन्दी टीकामें पं० जयचंदजी छाबड़ाने लिखा है कि—

''पाँच उदुम्बर, मद्य, मांस और मधु सहित—इन आठोंका त्याग करना वह आठ मूलगुण है, अथवा कोई ग्रंथमें ऐसा कहा है कि जो पाँच अणुव्रत पालता है और मध, मांस तथा मधुका त्याग करे ये आठ मूलगुण है, इसमें विरोध नहीं, विवक्षा भेद है।

पाँच उदुंबर फल और तीन मकारका त्याग करनेसे जिन वस्तुओंमें साक्षात् त्रस जीव देखे उन सभीका भक्षण नहीं करे.....तो इसमें तो अहिंसा–अणुव्रत आ गया है.....''

इस प्रकार आठ मूलगुण संबंधी आचार्योंके कथनोंके भावोंमें तफावत नहीं ऐसा समझना। ६६

इस प्रकार पाँच प्रकारके अणुव्रतोंका प्रतिपादन करके अब तीन प्रकारके गुणव्रतोंका प्रतिपादन करते हैं—

दिग्व्रतमनर्थदण्डव्रतं च भोगोपभोगपरिमाणम्।
अनुबृंहणाद्गुणानामाख्यान्ति गुणव्रतान्यार्याः॥६७॥

'आख्यान्ति' प्रतिपादयन्ति। कानि? 'गुणव्रतानि'। के ते? 'आर्याः' गुणैर्गुणवद्भिर्वा अर्यन्ते प्राप्यन्त इत्यार्यास्तीर्थकरदेवादयः। किं तद्गुणव्रतं? 'दिग्व्रतं' दिग्विरतिं। न केवलमेतदेव किन्तु 'अनर्थदण्डव्रतं' चानर्थदण्डविरतिं। तथा 'भोगोपभोग-परिमाणं' सकृद्भुज्यत इति भोगोऽशनपानगन्धमाल्यादिः पुनः पुनरुपभुज्यत इत्युपभोगो [१]वस्त्राभरणयानशयनादिस्तयोः परिमाणं कालनियमेन यावज्जीवनं वा। एतानि त्रीणि कस्माद्गुणवतान्युच्यन्ते? 'अनुबृंहणात्' वृद्धिं नयनात्। केषां? 'गुणानाम्' अष्टमूल-गुणानाम्॥६७॥

श्लोक ६७
तीन गुणव्रतोंके नाम

अन्वयार्थ—[आर्याः] श्रेष्ठ पुरुष [दिग्व्रतम्] दिग्व्रत [अनर्थदंडव्रतम्] अनर्थदंडव्रत [च] और [भोगोपभोगपरिमाणम्] भोगोपभोगपरिमाणव्रतको [गुणानात्] मूलगुणोंको [अनबृंहणात्] बढ़ानेवाला होनेसे [गुणव्रतानि] गुणव्रत [आख्यांति] कहते हैं॥६७॥

टीकार्थ—'गुणैः गुणवद्भिर्वा अर्यन्ते प्राप्यन्त इत्यार्याः' इस व्युत्पत्तिके अनुसार जो गुणों अथवा गुणवान् मनुष्योंके द्वारा प्राप्त किये जावें उन्हें आर्य कहते हैं। ऐसे आर्य तीर्थंकरदेव, गणधर, प्रतिगणधर अथवा अन्य आचार्य कहलाते हैं **'गुणाय व्रतं गुणव्रतम्'** गुणके लिये जो व्रत हैं उन्हें गुणव्रत कहते हैं। उपरितन श्लोकमें कहे गये आठ मूलगुणोंकी वृद्धिमें सहायक होनेसे दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोगपरिमाणव्रत इन तीनको आर्यपुरुषोंने गुणव्रतोमें परिगणित किया है। दशों दिशाओंमें आने-जानेकी सीमा निर्धारित करना दिग्व्रत है। मन, वचन, कायके निष्प्रयोजन व्यापार परित्यागको अनर्थदण्डव्रत कहते हैं और भोग तथा उपभोगकी वस्तुओंके समयका नियम लेकर अथवा जीवनपर्यन्तके लिये परिमाण करना भोगोपभोगपरिमाणव्रत है। जो वस्तु एकबार भोगनेमें आती है उसे भोग कहते हैं, जैसे भोजन, पेयपदार्थ तथा गन्धमाला आदि। और जो बार-बार भोगनेमें आवे उसे उपभोग कहते हैं; जैसे वस्त्र, आभूषण, यान-वाहन, शयन-शय्या आदि। इनका परिमाण कालका नियम लेकर अथवा जीवनपर्यन्तके लिए—दोनों प्रकारसे होता है।

१. स्त्रीजनोपसेवनादि स्र जंफनादि घ।

तत्र दिग्व्रतस्वरूपं प्ररूपयन्नाह—

दिग्वलयं परिगणितं कृत्वातोऽहं बहिर्न यास्यामि।
इति सङ्कल्पो दिग्व्रतमामृत्यणुपापविनिवृत्त्यै॥६८॥

'दिग्व्रतं' भवति। कोऽसौ? 'संकल्पः'। कथंभूतः? 'अतोऽहं बहिर्न यास्यामी'त्येवंरूपः। किं कृत्वा? 'दिग्वलयं परिगणितं कृत्वा' समर्यादं कृत्वा। कथं? 'आमृति' मरणपर्यन्तं यावत्। किमर्थं? 'अणुपापविनिवृत्त्यै' सूक्ष्मस्यापि पापस्य

भावार्थ :—(१) दिग्व्रत, (२) अनर्थदंडव्रत और (३) भोगोपभोगपरिमाणव्रत यह तीनों गुणव्रत हैं। ये आठ मूलगुणोंकी वृद्धि करते हैं, इसलिए तीर्थंकरदेव इन्हें गुणव्रत कहते हैं। जो एक ही बार भोगनेमें आता है वह भोग कहलाता है। जैसे कि—भोजन, पान, गंध, पुष्प–माला आदि। और जो बारबार भोगनेमें आये उसे उपभोग कहते हैं। जैसे वस्त्र, आभूषण, मकान, वादन, स्त्रीजन आदि भोग और उपभोग ये दोनों प्रकारकी वस्तुओंका त्याग–मर्यादा नियमपूर्वक अथवा यमपूर्वक होता है। जो त्याग कुछ कालकी मर्यादाके लिए किया जाये उसे नियम कहते हैं और जो त्याग जीवनपर्यन्त किया जाये उसे यम कहते हैं। (देखो श्लोक ८७) ६७.

दिग्व्रतके स्वरूपका प्ररूपण करके कहते है—

श्लोक ६८
दिग्व्रतका स्वरूप

अन्वयार्थ—[अणुपापविनिवृत्त्यै] सूक्ष्म पापके भी निराकरण करनेके लिए [आमृति] मरणपर्यंत [दिग्वलयं परिगणितं कृत्वा] दशों दिशाओंमें मर्यादा करके [अतःबहिः] उस सीमाके बाहिर [अहम्] मैं [न यास्यामि] नहीं जाऊँगा [इति संकल्पः] इस प्रकारका संकल्प [दिग्व्रतम्] दिग्व्रत नामक गुणव्रत है॥६८॥

टीकार्थ—पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऐशान, आग्नेय, नैऋत्य, वायव्यी, ऊर्ध्व और अधः इस प्रकार दश दिशाएँ होती हैं। इन सबके समूहका नाम दिग्वलय है। इन दशों दिशाओंकी सीमा निश्चित कर ऐसा संकल्प करना कि मैं इससे बाहर नहीं जाऊँगा, दिग्व्रत कहलाता है। दिग्व्रत मरणपर्यन्तके लिये धारण किया जाता है अर्थात् इसमें देशावकाशिक व्रतके समान घड़ी, घंटा आदि समयकी सीमा नहीं रहती। दिग्व्रतका प्रयोजन सूक्ष्म पापोंकी

विनिवृत्त्यर्थम् ॥६८॥

तत्र दिग्वलयस्य परिगणितत्वे कानि मर्यादा इत्याह—

मकराकरसरिदटवीगिरिजनपदयोजननानि मर्य्यादाः।
प्राहुर्दिशां दशानां प्रतिसंहारे प्रसिद्धानि॥६९॥

'प्राहुर्मर्यादाः'। कानीत्याह—'मकराकरेत्यादि'—मकराकरश्च समुद्रः सरितश्च नद्यो

निवृत्ति करना है। मर्यादाके भीतर स्थूलपापोंसे निवृत्ति रहती है परन्तु मर्यादाके बाहर यातायात सर्वथा बन्द हो जानेसे वहाँ सूक्ष्म पापोंकी भी निवृत्ति हो जाती है।

भावार्थ :—सूक्ष्म पापोंसे भी बचनेके लिए दशों दिशाओंकी मर्यादा करके (परिमाण करके) 'उससे बाहर मैं जीवन पर्यंत नहीं जाऊँगा' ऐसे संकल्प–प्रतिज्ञाको दिग्व्रत कहते हैं।

पंचम गुणस्थानवर्ती अणुव्रतधारीको स्थूल पापोंका तो हंमेशा सर्वत्र त्याग होता है, परंतु सूक्ष्म पापोंका त्याग नहीं होता। उन्हें सूक्ष्म पाप संबंधी अत्याग भाव होनेसे द्रव्य हिंसाके अभावमें भी उसे सूक्ष्म पाप संबंधी कर्म बंध होता है। यह निरर्थक कर्म बंध रोकनेके लिए तथा त्यागभावकी वृद्धिके लिए दशों दिशाओंकी मर्यादा करके मर्यादाके बाहर जीवन पर्यंत नहीं जानेकी प्रतिज्ञा करता है। इस प्रतिज्ञाकी मर्यादासे बाहर पाँच पापोंके (स्थूल और सूक्ष्म) सर्वथा जीवन पर्यन्त त्याग हो जानेसे उसका वह त्याग महाव्रत जैसा होता है। (देखो–गाथा–७०)

दिग्व्रतमें क्षेत्र सीमित (मर्यादित) रहनेसे त्याग भावमें वृद्धि होती है—अहिंसाव्रत पुष्ट होता है और लोभवृत्ति मर्यादित हो जाती है। ६८.

वहाँ दिग्व्रतके परिमाण करनेमें मर्यादा किस प्रकारसे होती है वह कहते हैं—

श्लोक ६९
दिग्व्रत धारण करनेकी मर्यादा

अन्वयार्थ—[दशानां दिशाम्] दशही दिशाओंके [प्रतिसंहारे] ''इसके आगे नहीं जावेंगे इस प्रकारके'' त्यागमें [प्रसिद्धानि] लेनेवाले और देनेवाले दोनोंके लिए प्रसिद्ध [मकराकरसरिदटवीगिरिजनपदयोजनानि] समुद्र, नदी, वन, पर्वत, देश और योजन इसप्रकार [मर्यादाः] सीमा [प्राहुः] कही है।

टीकार्थ—मकराकर समुद्रको कहते हैं, सरित् गंगा, सिन्धु आदि नदियोंको कहते हैं,

गंगाद्याः, अटवी दंडकारण्यादिका, गिरिश्च पर्वतः सह्यविन्ध्यादिः, जनपदो देशो वराट[1]-वापीतटादिः, 'योजनानि' विंशतित्रिंशदादिसंख्यानि। किंविशिष्टान्येतानि? 'प्रसिद्धानि' दिग्विरतिमर्यादानां दातुर्गृहीतुश्च प्रसिद्धानि। कासां मर्यादाः? 'दिशां'। कतिसंख्यावच्छिन्नानां 'दशानां'। कस्मिन् कर्त्तव्ये सति मर्यादाः? 'प्रतिसंहारे' इतः परतो न यास्यामीति व्यावृतौ।।६९।।

अटवीका अर्थ दण्डकवन आदि सघन जंगल है, गिरिका अर्थ सह्य, विन्ध्य आदि पर्वत है।

जनपदका अर्थ वराट, वापीतट आदि देश है और योजन का अर्थ बीस योजन, तीस योजन आदि है। लोकव्यवहारमें चार कोशका एक योजन लिया जाता है। व्रत देनेवाले और व्रत लेने वालेको जिनका परिचय प्राप्त है उन्हें प्रसिद्ध कहते हैं। पूर्वादि दशो दिशाओं सम्बन्धी सीमा निश्चित करनेके लिए समुद्र, नदी, जंगल, देश अथवा योजनके खम्भों आदिको मर्यादारूपसे स्वीकृत किया जाता है।

भावार्थ :—दिग्व्रतमें, लोकमें समुद्र, नदी, जंगल, पर्वत, देश, योजन आदि जो प्रसिद्ध हैं, इनसे चार दिशा, चार विदिशा और ऊपर तथा नीचे ऐसी दशों दिशामें जाने-आनेके लिए प्रतिज्ञापूर्वक मर्यादा कर जिंदगी पर्यंत इस मर्यादासे बाहर न जाना-उसे दिग्व्रत कहते हैं।

यहाँ पहाड़ आदि तथा हवाई जहाजसे ऊपर चढ़नेकी अपेक्षा उपरकी दिशामें और कुँआ या समुद्रादिमें नीचे जानेकी अपेक्षासे नीचेकी दिशाका ग्रहण समझना; उपर-नीचे जानेके लिए जो मर्यादा बांधी हो वह मर्यादासे बाहर नहीं जाना उसे दिग्व्रत कहते हैं।

विशेष

दिग्व्रतके धारक पुरुष ऐसा नियम करते हैं कि मैं इस दिशामें, इस समुद्र तक, इस नदी तक, इस पर्वत तक, इस देश तक या इतने योजन तक जाऊँगा, उससे बाहर नहीं जाऊँगा।

परिग्रहकी लालसाएँ कम होनेसे यह व्रत करनेसे हिंसादि पाप स्वयमेव बंद हो जाते हैं। ६९.

---

१. वरतटादिः घ।

एवं दिग्विरतिव्रतं धारयतां मर्यादातः परतः किं भवतीत्याह—

अवधेर्बहिरणुपापंप्रतिविरतेर्दिग्व्रतानि धारयताम्।
पञ्चमहाव्रतपरिणतिमणुव्रतानि प्रपद्यन्ते॥७०॥

'अणुव्रतानि प्रपद्यन्ते'। कां? 'पंचमहाव्रतपरिणतिं'। केषां? 'धारयतां'। कानि? 'दिग्व्रतानि'। कुतस्तत्परिणतिं प्रपद्यन्ते। 'अणुपापप्रतिविरतेः' सूक्ष्ममपि पापं प्रतिविरतेः व्यावृत्तेः। क्व? 'बहिः'। कस्मात्? 'अवधेः' कृतमर्यादायाः॥७०॥

तथा तेषां तत्परिणतावपरमपि हेतुमाह :—

इस प्रकारसे दिग्व्रत धारण करने वालोंको मर्यादासे बाहर क्या होता है वह कहते हैं—

श्लोक ७०
दिग्व्रत धारण करनेका फल

अन्वयार्थ—[अवधेः बहिः] मर्यादाके बाहिर [अणुपापंप्रतिविरतेः] सूक्ष्म पापके भी त्याग हो जानेसे [दिग्व्रतानि] दिग्व्रतोंको [धारयताम्] धारण करनेवालोंके [अणुव्रतानि] पांच अणुव्रत [पञ्चमहाव्रतपरिणतिम्] पांच महाव्रतकी परिणतिको [प्रपद्यन्ते] प्राप्त होते हैं॥७०॥

टीकार्थ—जो मनुष्य दशों दिशाओंमें आने-जानेकी मर्यादाकर दिग्व्रतोंको धारण करते हैं उनके मर्यादाके बाहर सूक्ष्म पाप भी छूट जाते हैं, इसीलिए उनके अणुव्रत महाव्रत जैसी अवस्थाको प्राप्त हो जाते हैं।

भावार्थ :—की हुई मर्यादासे बाहर सूक्ष्म हिंसादिक पापोंके त्यागसे, दिग्व्रत धारीयोंके अणुव्रत पाँच महाव्रतोंके परिणामको प्राप्त होते हैं अर्थात् उपचारसे वे महाव्रत कहलाते हैं, किन्तु अंतरंगमें महाव्रतोंके घातक निमित्तरूप प्रत्याख्यानावरण कषायकी सत्ता रहनेसे उन्हें परमार्थतः महाव्रत नहीं कह सकते।

दिग्व्रतधारी द्वारा की गई मर्यादासे बाहरकी तृष्णा घट जाती है। बाहरके क्षेत्र संबंधी कोई प्रकारके विकल्प मनमें उत्पन्न नहीं होते हैं और त्रस-स्थावर जीवोंकी हिंसाके आस्रव भावका अभाव होता है। इस कारणसे वह मर्यादासे बाहरके क्षेत्रमें महाव्रती समान आचरण करते हैं। ७०।

तथा अणुव्रत महाव्रतोंके परिणामको प्राप्त होनेमें दूसरे भी कारण कहे हैं—

प्रत्याख्यानतनुत्वान्मन्दतराश्चरणमोहपरिणामाः।
सत्त्वेन दुखःधारा महाव्रताय प्रकल्प्यन्ते॥७१॥

'चरणमोहपरिणामा' भावरूपाश्चारित्रमोहपरिणतयः। 'कल्प्यन्ते' उपचर्यन्ते। किमर्थं? महाव्रतनिमित्तं। कथंभूताः सन्तः? 'सत्वेन' 'दुःखधारा' अस्तित्वेन महता कष्टेनावधार्यमाणाः सन्तोऽपि तेऽस्तित्वेन लक्षयितुं न शक्यन्त इत्यर्थः। कुतस्ते दुखधाराः? 'मन्दतरा' अतिशयेनानुत्कटाः। मन्दतरत्वमप्येषां कुतः? 'प्रत्याख्यानतनुत्वात्'। प्रत्याख्यान-शब्देन हि प्रत्याख्यानावरणाः द्रव्यक्रोधमानमायालोभा गृह्यन्ते। नामैकदेशे हि प्रवृत्ताः शब्दा नाम्न्यपि वर्तन्ते भीमादिवत्। प्रत्याख्यानं हि सविकल्पेन हिंसादिविरतिलक्षणः संयमस्तदा-वृण्वन्ति ये ते प्रत्याख्यानावरणा द्रव्यक्रोधादयः; यदुदये ह्यात्मा कार्स्न्यात्तद्विरतिं कर्तुं न

श्लोक ७१
उपचारसे महाव्रत होनेका कारण।

अन्वयार्थ—[प्रत्याख्यानतनुत्वात्] प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ कर्मके मंद उदयसे [मन्दतराः] अत्यंत मंद और [सत्त्वेन दुःखधारा] अस्तित्वरूपसे समझनेके लिए कठिन ऐसे [चरणमोहपरिणामाः] भाव चारित्रमोहरूप परिणाम [महाव्रताय] महाव्रतके लिए [प्रकल्प्यन्ते] कल्पना [उपचार] किये जाते हैं॥७१॥

टीकार्थ—**'नामैकदेशेन सर्वदेशो गृह्यते'**—नामके एकदेशसे सर्वदेशका ग्रहण होता है' इस नियमसे जिस प्रकार भीमपदसे भीमसेनका बोध होता है उसी प्रकार यहाँ प्रत्याख्यानशब्दसे प्रत्याख्यानावरण द्रव्यक्रोध, मान, माया, लोभका ग्रहण होता है, क्योंकि प्रत्याख्यान शब्दका अर्थ विकल्पपूर्वक हिंसादि पापोंका त्यागरूप संयम होता है। उस संयमको जो आवृत्त करते हैं अर्थात् जिनके उदयसे यह जीव हिंसादिपापोंका पूर्ण त्याग करनेके लिए समर्थ नहीं हो पाता है वे प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ कहलाते हैं। ये द्रव्य और भावके भेदसे दो प्रकारके होते हैं। पौद्गलिककर्मप्रवृत्तिको द्रव्यप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ कहते हैं और उनके उदयसे आत्मामें जो हिंसादिपापोंके त्याग न करनेरूप भाव होते हैं उन्हें भावप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ कहते हैं। जब गृहस्थके इन प्रकृतियोंका इतना मन्द उदय हो जाता है कि चारित्रमोहके परिणामोंका अस्तित्व भी बड़ी कठिनाईसे समझा जाता है तब उनके उपचारसे महाव्रत जैसी अवस्था हो जाती है। दिग्व्रतके धारक जीवके मर्यादाके बाहरके क्षेत्रमें हिंसादिपापोंकी स्थूल तथा सूक्ष्म दोनों प्रकारकी निवृत्ति हो जाती है,

शक्नोति, अतो द्रव्यरूपाणां क्रोधादीनां तनुत्वान्मन्दोदयत्वाद्भावरूपाणामेषां मन्दतरत्वं सिद्धं।

ननु कुतस्ते महाव्रताया कल्प्यन्ते न पुनः साक्षान्महाव्रतरूपा भवन्तीत्याह :—

पञ्चानां पापानां हिंसादीनां मनोवचःकायैः।
कृतकारितानुमोदैस्त्यागस्तु महाव्रतं महताम्॥७२॥

'त्यागस्तु' पुनर्महाव्रतं भवति। केषां त्यागः 'हिंसादीनां' 'पंचानां'। कथंभूतानां

इसलिये उनके अणुव्रत उपचारसे महाव्रतपनेको प्राप्त होते हैं परमार्थसे नहीं। परमार्थसे व्यवहार तभी हो सकता है जब उनके प्रत्याख्यानावरण कषायका मन्द उदय भी दूर हो जावे।

भावार्थ :—'प्रत्याख्यानावरण' कषायका मंद परिणमन होनेसे चारित्र मोहनीय कर्मके परिणाम भी मन्दतर हो जाते हैं। वे (परिणाम) 'हैं' 'विद्यमान हैं' ऐसा भी महा मुश्किलसे निर्णय कर पाते हैं, किन्तु ये परिणाम महाव्रतको विकृत करते हैं, क्योंकि उनका प्रत्याख्यानावरण कषायका उदय है और जहाँ तक कषाय-वेदनीयकी तीसरी चौकड़ी (प्रत्याख्यानावरण क्रोध-मान-माया-लोभ)का अभाव नहीं करे तब तक महाव्रत प्रगट नहीं होते—ऐसा सिद्धान्त है।

की हुई मर्यादाओंके बाहरके क्षेत्रोंमें स्थावर जीवोंकी हिंसा, चोरी आदि सूक्ष्म पापोंकी प्रवृत्तिओंका तथा स्वयंके निमित्तसे होने वाले संभवित विरोधी, आरंभी और उद्यमी स्थूल हिंसाका परित्याग होनेसे, गुणव्रती श्रावकके अणुव्रत उपचारसे महाव्रतपनेको पाते हैं। ७१.

उसमें (दिग्व्रतकी मर्यादाके बाहर श्रावकके अणुव्रतोंमें महाव्रतकी) कल्पना कैसे की जाती है (अर्थात् उपचारसे उनको महाव्रत कैसे कहा जाता है) और वे साक्षात् महाव्रतरूप कैसे नहीं? वह कहते हैं—

श्लोक ७२
महाव्रतका स्वरूप

अन्वयार्थ—[हिंसादीनाम्] हिंसा आदिक [पंचानाम्] पांच [पापानाम्] पापोंका [मनोवचः कायैः] मन, वचन, काय [तु] तथा [कृतकारितानुमोदैः] कृत, कारित और अनुमोदनासे [त्यागः] त्याग करना [महताम्] श्रेष्ठ पुरुषोंका [महाव्रतम्] महाव्रत होता है॥७२॥

टीकार्थ—पापबन्धमें कारणभूत हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह इन पाँच

'पापानां' पापोपार्जनहेतुभूतानां। कैस्तेषां त्यागः 'मनोवचःकायैः'। तैरपि कैः कृत्वा त्यागः ? 'कृतकारितानुमोदैः'। अयमर्थ :—हिंसादीनां मनसा कृतकारितानुमोदैस्त्यागः। तथा वचसा कायेन चेति। केषां तैस्त्यागो महाव्रतं ? 'महतां' प्रमत्तादिगुणस्थानवर्तिनां विशिष्टात्मनाम् ॥७२॥

इदानीं दिग्विरतिव्रतस्यातिचारानाह—

ऊर्ध्वाधस्तात्तिर्यग्व्यतिपाताः क्षेत्रवृद्धिरवधीनाम्।
विस्मरणं दिग्विरतेरत्याशाः पञ्च मन्यन्ते ॥७३॥

पापोंका कृत, कारित, अनुमोदना और मन, वचन, काय इनका नौ कोटियोंसे त्याग करना महाव्रत कहलाता है। यह महाव्रत प्रमत्तसंयतादि गुणस्थानवर्ती मुनियोंके ही होता है, अन्यके नहीं।

भावार्थ :—मन, वचन, काय तथा कृत, कारित, अनुमोदनाके भावसे ये नौ विकल्पोंसे अर्थात् मनसे कृत कारित अनुमोदनाके भावसे, वचनसे कृत, कारित, अनुमोदनाके भावसे और कायसे कृत, कारित, अनुमोदनाके भावसे–ऐसे नौ कोटिसे हिंसादिक पापोंका परित्याग करना वह महाव्रत कहलाता है। यह महाव्रत प्रमत्त संयत नामके छठवें गुणस्थानसे ही होता है क्योंकि उन्हें कषायकी तीन चौकड़ीका अभाव होता है।

दिग्व्रत धारीयोंको भी मर्यादासे बाहर पाँच पापोंका नव कोटिसे त्याग होता है; परंतु उन्हें वह त्याग साक्षात् महाव्रतरूप नहीं है, क्योंकि उनके महाव्रतको विकृत करे या घाते ऐसे प्रत्याख्यानावरण क्रोध–मान–माया–लोभके उदय निमित्त होते हैं। इसलिए दिग्व्रतधारीयों द्वारा की हुई मर्यादासे बाहरके पाँच पापोंका त्याग साक्षात् महाव्रतरूप नहीं होता है, परंतु वह उपचरित महाव्रतरूप होता है। (ज्यादा समझनेके लिए देखो श्लोक ७१का भावार्थ)

अब दिग्विरति व्रतका अतिचार कहते हैं—

श्लोक ७३
दिग्व्रतके अतिचार

अन्वयार्थ—[ऊर्ध्वाधस्तात्तिर्यग्व्यतीपाताः] (अज्ञान और प्रमादसे) ऊपरकी, नीचेकी अथवा विदिशाकी मर्यादाका उल्लंघन करना [क्षेत्रवृद्धिः] क्षेत्रकी मर्यादा बढ़ा लेना [अवधीनां विस्मरणम्] मर्यादा भूल जाना ये [दिग्विरतेः] दिग्व्रतके [पंच] पांच [अत्याशाः] अतिचार

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ - ३६४२५०

'दिग्विरतेरत्याशा' अतीचाराः 'पंच मन्यन्तेऽ'भ्युपगम्यन्ते। तथा हि। अज्ञानात् प्रमादाद्वा ऊर्ध्वदिशोऽधस्ताद्दिशस्तिर्यग्दिशश्च व्यतीपाता [1]विशेषेणातिक्रमणानि त्रयः। तथाऽज्ञानात् प्रमादाद्वा 'क्षेत्रवृद्धिः' क्षेत्राधिक्यावधारणं। तथाऽ'वधीनां' दिग्विरतेः कृतमर्यादानां 'विस्मरणं' मिति॥७३॥

[2]इदानीमनर्थदण्डविरतिलक्षणं द्वितीयं गुणव्रतं व्याख्यातुमाह—

[मन्यंते] माने जाते हैं॥७३॥

टीकार्थ—ऊपर पर्वत आदिपर चढ़ते समय, नीचे कुआँ, बावड़ी या खदान आदिमें उतरते समय और तिर्यग् अर्थात् समान धरातलपर चलते समय प्रमाद अथवा अज्ञानके कारण सीमाका उल्लंघन करना, प्रमाद और अज्ञानसे किसी दिशाका क्षेत्र बढ़ा लेना और व्रत लेते समय दशों दिशाओंमें आने-जानेकी जो सीमायें निश्चित की थीं उन्हें भूल जाना ये पाँच दिग्विरतिव्रतके अतिचार माने जाते हैं।

भावार्थ :—दिग्व्रतके पाँच अतिचार कहे गये हैं। वे निम्न प्रकार हैं-अनजाने या प्रमादसे—

(१) ऊर्ध्वभाग व्यतिक्रम :—ऊपरकी दिशामें की गई मर्यादाका उल्लंघन करना-पर्वत और वृक्ष आदिके शिखर उपर की गई मर्यादासे बाहर चढ़ना।

(२) अधोभाग व्यतिक्रम :—नीचेकी दिशामें की गई मर्यादाका उल्लंघन करना-कुँआ, वाव, समुद्र आदिमें की गई मर्यादासे ज्यादा नीचे उतरना।

(३) तिर्यग्भाग व्यतिक्रम :—तिर्यग् दिशाओंमें की गई मर्यादाका उल्लंघन करना।

(४) अवधि विस्मरण :—की गई मर्यादाओंको भूल जाना।

(५) क्षेत्रवृद्धि :—क्षेत्रकी मर्यादाकी वृद्धि करना।

की गई मर्यादाओंका उल्लंघन जो अनजानपनेसे या असावधानीसे किया जाये तो उससे अनाचारका दोष नहीं होता, परंतु अतिचारका दोष लगता है। जो ईरादापूर्वक जान-बूझके या लोभके वश मर्यादाका उल्लंघन किया जाये तो उससे व्रतभंग होता है। यह बात टीकाकारने 'अज्ञानात् प्रमादात् वा' शब्दों द्वारा स्पष्ट की है। ७३.

अब अनर्थदंडके विरति स्वरूप दूसरे गुणव्रतका व्याख्यान करते हुए कहते हैं—

---

१. विशेषातिक्रमणानि घ।

२. इदानीं द्वितीयमनर्थदण्डव्रतं इति ख।

Shri Digambar Jain Swadhyay Mandir Trust, Songadh - 364250

अभ्यन्तरं दिगवधेरपार्थकेभ्यः सपापयोगेभ्यः।
विरमणमनर्थदण्डव्रतं विदुर्व्रतधराग्रण्यः ॥७४॥

'अनर्थदण्डव्रतं विदु'र्जानन्ति। के ते? 'व्रतधराग्रण्यः' व्रतधारणां यतीनां मध्येऽग्रण्यः प्रधानभूतास्तीर्थंकरदेवादयः। 'विरमणं व्यावृत्तिः। केभ्यः? 'सपापयोगेभ्यः' पापेन सह योगः सम्बन्धः पापयोगस्तेन सह वर्तमानेभ्यः पापोपदेशाद्यनर्थदण्डेभ्यः। किंविशिष्टेभ्यः? 'अपार्थकेभ्यः' निष्प्रयोजनेभ्यः। कथं तेभ्यो विरमणं। 'अभ्यन्तरं दिगवधेः' दिगवधेरभ्यन्तरं यथा भवत्येवं तेभ्यो विरमणं। अतएव दिग्विरतिव्रतादस्य भेदः। तद्व्रते हि मर्यादातो बहिः पापोपदेशादिविरमणं अनर्थदण्डविरतिव्रते तु ततोऽभ्यन्तरे तद्विरमणं॥७४॥

अथ के ते अनर्थदण्डा यतो विरमणं स्यादित्याह—

श्लोक ७४
अनर्थदंडव्रतका स्वरूप

अन्वयार्थ—[दिगवधेः] दिशाओंकी मर्यादाके [अभ्यंतरम्] भीतर [अपार्थकेभ्यः] निष्प्रयोजन [सपापयोगेभ्यः] जिनका पापके साथ सम्बन्ध है ऐसे पापोपदेश आदिसे [विरमणम्] विरक्त होनेको [व्रतधराग्रण्यः] व्रतधारियोंमें श्रेष्ठ पुरुष [अनर्थदंडव्रतम्] अनर्थदंडव्रत [विदुः] जानते हैं॥७४॥

टीकार्थ—व्रतधरका अर्थ पञ्चमहाव्रतोंको धारण करनेवाले मुनि होते हैं। उन मुनियोंमें जो अग्रणी–प्रधान हैं वे व्रतधराग्रणी कहलाते हैं। इस तरह मुनियोंमें प्रधान तीर्थंकरदेवादिने आदिने अनर्थदण्डव्रतका लक्षण इस प्रकार कहा है कि दिग्विरतिव्रतकी मर्यादाके भीतर प्रयोजनरहित, पापपूर्ण मनवचनकायके व्यापाररूप योगोंसे निवृत्त होना अनर्थदण्डव्रत है। दिग्व्रतमें मर्यादाके बाहर होनेवाले पापपूर्ण निरर्थककार्योंसे निवृत्ति होती है और अनर्थदण्डव्रतमें दिग्व्रतकी सीमाके भीतर होनेवाले पापपूर्ण निरर्थक कार्योंसे निवृत्ति होती है। यही इन दोनोंमें अन्तर है।

भावार्थ :—दिग्व्रतमें की हुई मर्यादाके अंदर निष्प्रयोजन (बिना मतलब) पापोपदेशादिरूप पापपूर्ण मन–वचन–कायकी प्रवृत्तिसे विरक्त होना, उसे तीर्थंकरदेवादि अनर्थदंडव्रत कहते हैं।

दिग्व्रतमें और अनर्थदंडव्रतमें फर्क यह है कि—

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ - ३६४२५०

[1]पापोपदेशहिंसादानापध्यानदुःश्रुतीः पञ्च।
प्राहुः प्रमादचर्यामनर्थदण्डानदण्डधराः ॥७५॥

दंडा इव दण्डा अशुभमनोवाक्कायाः परपीडाकरत्वात्, तान्न धरन्तीत्यदण्डधरा गणधरदेवादयस्ते प्राहुः। कान्? 'अनर्थदण्डान्'। कति? 'पंच'। कथमित्याह 'पापेत्यादि'। पापोपदेशश्च हिंसादानं च अपध्यानं च दुःश्रुतिश्च एताश्चतस्रः 'प्रमादचर्या' चेति पंचामी ॥७५॥

तत्र पापोपदेशस्य तावत् स्वरूपं प्ररूपयन्नाह—

दिग्व्रतमें की हुई मर्यादासे बाहर पापोपदेशादि संबंधी मन-वचन-कायकी प्रवृत्तिसे व्यावृत्ति (विरक्ति) होती है, जब कि अनर्थदंडव्रतमें दिग्व्रतमें की हुई मर्यादाके अंदर प्रयोजनरहित पापोपदेशादिकी प्रवृत्तिसे व्यावृत्ति होती है। ७४.

अब यह अनर्थदंड क्या है कि जिससे व्यावृत्ति होनी चाहिए? वह कहते हैं—

श्लोक ७५
अनर्थदंडके पांच भेद

अन्वयार्थ—[अदंडधराः] अदंड अर्थात् अशुभ, मन, वचन और कायकी प्रवृत्तिसे रहित गणधरादिक [पापोपदेशहिंसादानापध्यानदुःश्रुतीः] पापोपदेश, हिंसादान, अपध्यान, दुःश्रुति और [प्रमादचर्या] प्रमादचर्या इन [पंच] पांचको [अनर्थदंडान्] अनर्थदंड [प्राहुः] कहते हैं ॥७५॥

टीकार्थ—मन-वचन-कायके अशुभ व्यापारको दण्ड कहते हैं क्योंकि वे दण्ड-डंडेके समान दूसरोंको पीड़ा करते हैं। तथोक्त दण्डोंको न धारण करनेवाले गणधरदेव आदिने पापोपदेश, हिंसादान, अपध्यान, दुःश्रुति और प्रमादचर्या इन पाँचको अनर्थदण्ड कहा है। इनसे निवृत्त होना सो पाँच प्रकारका अनर्थदण्डव्रत है।

भावार्थ:—प्रयोजन बिना मन-वचन-कायरूप योगकी परको पीड़ाकारक अशुभ प्रवृत्तिको अनर्थदंड कहते हैं। उसके पाँच भेद कहे हैं—(१) पापोपदेश, (२) हिंसादान, (३) अपध्यान, (४) दुःश्रुति, (५) प्रमादचर्या प्रत्येकका स्वरूप ग्रन्थकार स्वयं आगे बताएगें। ७५.

उनमें (पाँच अनर्थदंडमें) पहले पापोपदेशके स्वरूपका प्ररूपण करते हुए कहते हैं :—

---

१. अनर्थदण्डः पंचधाऽपध्यानपापोपदेशप्रमादाचरितहिंसाप्रदानाशुभश्रुतिभेदात्॥

Shri Digambar Jain Swadhyay Mandir Trust, Songadh - 364250

[1]तिर्य्यक्क्लेशवणिज्याहिंसारम्भप्रलम्भनादीनाम्।
[2]कथाप्रसङ्ग प्रसवः स्मर्त्तव्यः पाप उपदेशः॥७६॥

'स्मर्तव्यो' ज्ञातव्यः। कः? 'पापोपदेशः' पापः पापोपार्जनहेतुरुपदेशः। कथंभूतः? 'कथाप्रसंगः' कथानां तिर्यक्क्लेशादिवार्तानां प्रसंगः पुनः पुनः प्रवृत्तिः। किंविशिष्टः? 'प्रसवः' प्रसूत इति प्रभवः उत्पादकः। केषामित्याह—'तिर्यगित्यादि', तिर्यक्क्लेशश्च हस्तिदमनादिः, वाणिज्या च वाणिजां कर्म क्रयविक्रयादि, हिंसा च प्राणिवधः, 'आरंभश्च' कृष्यादिः, 'प्रलम्भनं' च वचनं तानि आदिर्येषां मनुष्यक्लेशादीनां तानि तथोक्तानि तेषाम्॥७६॥

श्लोक ७६
पापोपदेश नामका अनर्थदंड

अन्वयार्थ—[तिर्य्यक्क्लेशवणिज्याहिंसारम्भप्रलम्भनादीनाम्]' तिर्यंचोंको क्लेश देना, व्यापार करना, हिंसा, आरंभ और छल कपट इत्यादिक सम्बन्धी [कथाप्रसंगप्रसवः] बार बार कथा करना [पापोपदेशः] पापोपदेश [स्मर्त्तव्यः] समझना चाहिए॥७६॥

टीकार्थ—जो उपदेश पापके उपार्जनमें कारण हो उसे पापोपदेश कहा है। तिर्यक्क्लेश आदि उसके भेद हैं। हाथी आदिको वशमें करनेकी प्रक्रिया तिर्यक्क्लेश है, लेन-देन आदि व्यापारियोंका कार्य वणिज्या है, प्राणीवध करना हिंसा है, खेती आदिक आरम्भ है तथा दूसरोंको किस तरह ठगना आदिकी कला प्रलम्भन है। तिर्यक्क्लेशके समान मनुष्यक्लेश भी होता है अर्थात् ऐसी क्रियाएँ जिनमें कि मनुष्यको क्लेश होता है। इन सबकी कथाओंका प्रसङ्ग उपस्थित करना अर्थात् बार-बार इनका उपदेश देना पापोपदेश नामक अनर्थदण्ड है। इसका परित्याग करनेसे पापोपदेशनार्थदण्डव्रत होता है।

---

१. क्लेशतिर्यग्वणिज्यावधकारंभकादिषु पापसंयुतं वचनं पापोपदेशः। तद्यथाअस्मिन् देशे दासा दास्यः सुलभास्तानमुं देशं नीत्वा विक्रये कृते महानर्थलाभो भवतीति क्लेशवणिज्या। गोमहिष्यादीनमुत्र गृहीत्वाऽन्यत्र देशे व्यवहारे कृते भूरिवित्तलाभ इति तिर्यग्वणिज्या। वागुरिकसौकरिकशाकुनिकादिभ्यो मृगवराहशकुन्तप्रभृतयोऽमुष्मिन् देशे सन्तीति वचनं बधकोपदेशः। आरंभकेभ्यः कृषीवलादिभ्यः क्षित्युदकज्वलनपवनवनस्पत्यारंभोऽनेनोपायेना कर्तव्य इत्याख्यानमारंभकोपदेशः इत्येवं प्रकारं पापसंयुक्तं वचनं पापोपदेशः।

२. प्रसवः कथाप्रसङ्ग घ।

अथ हिंसादानं किमित्याह—

परशुकृपाणखनित्रज्वलनायुधशृङ्गिशृंखलादीनाम्।
वधहेतूनां दानं [1]हिंसादानं ब्रुवन्ति बुधाः॥७७॥

'हिंसादानं ब्रुवन्ति'। के ते? 'बुधा' गणधरदेवादयः। किं तत्? 'दानं'। यत्केषां? 'वधहेतूनां' हिंसाकारणानां। केषां तत्कारणानामित्याह—'परश्वित्यादि'। परशुश्च कृपाणश्च खनित्रं च ज्वलनश्चाऽऽयुधानि च क्षुरिकालकुटादीनि शृंगि च विषसामान्यं शृंखला च ता आदयो येषां ते तथोक्तास्तेषाम्॥७७॥

भावार्थ :—तिर्यंचोंको क्लेश उत्पन्न करे ऐसा उपदेश, व्यापार संबंधी उपदेश, हिंसा तथा आरंभका उपदेश, छेतरपिंडी(धोखाधड़ी)का उपदेश आदि निष्प्रयोजन पापके उपदेशका अर्थात् ऐसे पाप उत्पन्न करे ऐसी वार्ताओंके प्रसंग बारबार उपस्थित करना; उसे पापोपदेश अनर्थदंड कहते हैं।[2] ७६.

अब हिंसादान क्या है वह कहते हैं :—

श्लोक ७७
हिंसादान नामका अनर्थदंड

अन्वयार्थ—[परशुकृपाणखनित्रज्वलनायुधशृंगिशृंखलादीनाम्] कुल्हाडी, तलवार, कुदंड, अग्नि, शस्त्र, विष और सांखल (सांकल)आदि [वधहेतुनाम्] हिंसाके साधनोंके [दानम्] देनेको [बुधाः] पण्डित लोक [हिंसादानम्] हिंसादान नामका अनर्थदंड [ब्रुवन्ति] कहते हैं॥७७॥

टीकार्थ—फरसा तथा कुल्हाड़ी आदिको परशु कहते हैं, तलवारको कृपाण कहते हैं, जमीन खोदनेके साधन गेंती, कुदारी, फावड़ा आदिको खनित्र कहते हैं, अग्निको ज्वलन कहते हैं, छुरी, लाठी, भाला आदिको आयुध कहते हैं, विष सामान्यको श्रृङ्गी कहते हैं और बन्धनके साधनको श्रृङ्खला कहते हैं। ये सब हिंसाके साधन हैं। इनका दूसरोंके लिये देना सो हिंसादान अनर्थदण्ड है। इसका त्याग करना हिंसादान–अनर्थदण्डव्रत है।

---

१. विषशस्त्राग्निरज्जुकशादण्डादिहिंसोपकरणप्रदानीनाम्तिभेदात् हिंसाप्रदानमित्युच्यते।

२. क्लेशतिर्यग्वाणिज्यावधकारंभकादिषु पापसंयुतं वचनं पापोपदेशः।

इदानीमपध्यानस्वरूपं व्याख्यातुमाह—

वधबन्धच्छेदादेर्द्वेषाद्रागाच्च परकलत्रादेः।
आध्यानमपध्यानं[1] शासति जिनशासने विशदाः॥७८॥

'अपध्यानं शासति' प्रतिपादयन्ति। के ते? 'विशदा' विचक्षणाः। क्व? 'जिनशासने'। किं तत्? 'आध्यानं' चिन्तनं। कस्य? 'वधबंधच्छेदादेः'। कस्मात्? 'द्वेषात्'। न केवलं द्वेषादपि 'रागाद्वा' ध्यानं। कस्य? 'परकलत्रादेः'॥७८॥

साम्प्रतं दुःश्रुतिस्वरूपं प्ररूपयन्नाह—

भावार्थ :—मनुष्य तथा तिर्यंचोंकी हिंसाके कारणभूत फरसी, तलवार, कुदाल, फावड़ा, अग्नि (बंदुक, तोप, बम आदि) आयुध (अस्त्र-शस्त्र), बिष, बेड़ी (सांकल) आदि हिंसाके साधन दूसरोंको देना उसे बुद्धिमान आचार्य हिंसादान अनर्थदंड कहते हैं। ७७.

अब अपध्यानके स्वरूपका व्याख्यान करते हुए कहते हैं :—

श्लोक ७८
अपध्यान नामका अनर्थदंड

अन्वयार्थ—[द्वेषात्] द्वेषके कारण [वधबंधच्छेदादेः] मारना, बांधना, छेदना आदि सम्बन्धी [च] और [रागात्] रागसे [परकलत्रादेः] दूसरेकी स्त्री आदि सम्बन्धी [आध्यानम्] चिंतवन करनेको [जिनशासने विशदाः] जैन शास्त्रमें निपुण लोक [अपध्यानम्] अपध्यान नामका अनर्थदंड [शासति] कहते हैं॥७८॥

टीकार्थ—द्वेषके कारण किसीके मर जाने, बँध जाने अथवा अंगोपाङ्गके छिद जाने आदिका और रागके कारण परस्त्री आदिका अपध्यान-बार-बार चिन्तन करना सो अपध्यान नामक अनर्थदण्ड है ऐसा जिनशासनके ज्ञाता पुरुष कहते हैं।

भावार्थ :—रागसे अन्यकी स्त्री तथा द्वेषसे परपुत्रादिका वध, बंध और छेदादि हो—ऐसा चिंतन करना उसे जिनशासनमें कुशल विद्वान अपध्यान अनर्थदंड कहते हैं। ७८.

अब दुःश्रुतिका स्वरूप प्ररूपण करते हुए कहते हैं :—

---

१. परेषां जयपराजयवधाऽङ्गच्छेदस्वहरणादि कथं स्यादिति मनसा चिन्तनमपध्यानं।

२. विषशस्त्राग्निरज्जुकशादण्डादिहिंसोपकरणप्रदानं हिंसाप्रदानमित्युच्यते।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ - ३६४२५०

आरम्भसङ्गसाहसमिथ्यात्वद्वेषरागमदमदनैः।
चेतःकलुषयतां श्रुतिरवधीनां [1]दुःश्रुतिर्भवति॥७९॥

'दुःश्रुतिर्भवति'। कासौ? 'श्रुतिः' श्रवणं। केषां? 'अवधीनां' शास्त्राणां। किं कुर्वतां? 'कलुषयतां मलिनयतां' किं तत्? चेतः' क्रोधमानमायालोभाद्याविष्टं चित्तं कुर्वतामित्यर्थः। कैः कृत्वेत्याह—'आरंभेत्यादि' आरंभश्च कृष्यादिः संगश्च परिग्रहः तयोः प्रतिपादनं वार्तानीतौ विधीयते। 'कृषिः पशुपाल्यं[2] वाणिज्यं च वार्ता' इत्यभिधानात्, साहसं चात्यद्भुतं कर्म वीरकथायां प्रतिपाद्यते, मिथ्यात्वं चाद्वैतक्षणिकमित्यादि, प्रमाणविरुद्धार्थ-प्रतिपादकशास्त्रेण क्रियते, द्वेषश्च विद्वेषीकरणादिशास्त्रेणाभिधीयते रागश्च वशीकरणादि-शास्त्रेण विधीयते, मदश्च 'वर्णानां ब्राह्मणो गुरु'रित्यादिग्रन्थाज्ज्ञायते, मदनश्च [3]रतिगुण-

श्लोक ७९
दुःश्रुति नामका अनर्थदंड

अन्वयार्थ—[आरंभसङ्गसाहसमिथ्यात्वद्वेषरागमदमदनैः] आरम्भ, परिग्रह, साहस, मिथ्यात्व, द्वेष, राग, अभिमान और कामविकार इनसे [चेतः] अंतःकरणको [कलुषयताम्] कलुषित करनेवाले [अवधीनाम्] शास्त्रोंका [श्रुतिः] सुनना [दुःश्रुतिः] दुःश्रुति नामका अनर्थदंड [भवति] होता है।

टीकार्थ—खेती आदिको आरम्भ कहते हैं और परिग्रहको सङ्ग कहते हैं। इन दोनोंका वर्णन वार्तानीति में किया जाता है क्योंकि **'कृषिः पशुपाल्यं वाणिज्यं च वार्ता'** इत्यभिधानात्' अर्थात् खेती, पशुपालन और व्यापार यह सब वार्ता है, यह कहा गया है। अर्थशास्त्रको वार्ता कहते हैं। साहसका अर्थ अत्यन्त आश्चर्यजनक कार्य है। इसका वर्णन वीर मनुष्योंकी कथामें किया जाता है। अद्वैतवाद तथा क्षणिकवाद आदि मिथ्यात्व है। इसका वर्णन प्रमाण विरुद्ध अर्थके प्रतिपादक शास्त्रके द्वारा किया जाता है। द्वेषका अर्थ प्रसिद्ध है यह द्वेष विद्वेषीकरण—द्वेष उत्पन्न करनेवाले शास्त्रके द्वारा कहा जाता है। वशीकरण आदि शास्त्रके द्वारा राग उत्पन्न किया जाता है। मद अहंकारको कहते हैं। इसकी उत्पत्ति **'वर्णानां ब्राह्मणोः**

१. हिंसारागादिप्रवर्धितदुष्टकथाश्रवणशिक्षणव्यावृत्तिरशुभश्रुतिरित्याख्यायते। २. कृषिः पशुपाल्यवाणिज्या च घ। ३. परेषां जयपराजयवधाऽङ्गच्छेदस्वहरणादि कथं स्यादिति मनसा चिन्तनमपध्यानं।

३. रतिविलासगुणपताकादि घ।

Shri Digambar Jain Swadhyay Mandir Trust, Songadh - 364250

विलासपताकादिशास्त्रादुत्कटो भवति तैः एतैः कृत्वा चेतः कलुषयतां शास्त्राणां श्रुतिर्दुःश्रुतिर्भवति।।७९।।

अधुना प्रमादचर्यास्वरूपं निरूपयन्नाह—

क्षितिसलिलदहनपवनारम्भं विफलं वनस्पतिच्छेदं।
सरणं सारणमपि च [1]प्रमादचर्यां प्रभाषन्ते।।८०।।

गुरु' वर्णोंका ब्राह्मण गुरु है इत्यादि ग्रन्थोंसे जानी जाती है। मदनका अर्थ काम है। यह रतिगुणविलासपताका आदि शास्त्रोंसे उत्कृष्ट होता है। इस प्रकार आरम्भ आदिके द्वारा चित्तको कलुषित करनेवाले शास्त्रोंका श्रवण करना दुःश्रुति नामक अनर्थदण्ड है। इसका त्याग करना दुःश्रुति–अनर्थदण्डव्रत है।

भावार्थ :—जो आरंभ, परिग्रह, साहस, मिथ्यात्व, द्वेष, राग, मद और मदन (काम)के कथन करके चित्तको कलुषित (मलिन) करे ऐसे शास्त्रोंका श्रवण करना उसे दुःश्रुति अनर्थदंड कहते हैं।

कृषिशास्त्रादि आरंभका, राजविद्या, वणिग्विद्याका ग्रंथादि परिग्रहका, वीरकथा अभिमन्यु नाटकादि साहसका, प्रमाणविरुद्ध अद्वैत शास्त्रादि मिथ्यात्वका, कौटिल्य–पुराणादि रागका, वशीकरणशास्त्रादि द्वेषका, 'वर्णोमें ब्राह्मण गुरु है' इत्यादि प्रतिपादक शास्त्रादि मदका और रतिरहस्य, भामिनीविलास ग्रंथादि मदन (विषयभोग)का प्रतिपादन करके चित्तको कलुषित करते हैं। इसलिए ऐसे शास्त्रोंके (विकथा) नाटक, उपन्यास, कहानी आदिका पठन, पाठन, श्रवण और मनन वह दुःश्रुति अनर्थदंड है। ७९

अब प्रमादचर्या अनर्थदंडके स्वरूपका निरूपण करके कहते हैं :—

श्लोक ८०
प्रमादचर्या अनर्थदंड

अन्वयार्थ—[विफलम्] निष्प्रयोजन [क्षितिसलिलदहनपवनारम्भम्] पृथ्वी, पानी, अग्नि और हवा इनका आरम्भ करना, [वनस्पतिच्छेदम्] वनस्पति तोड़ना [सरणम्] पर्यटन करना, [अपिच] तथा [सारणम्] पर्यटन करवाना इन सबको [प्रमादचर्या] प्रमादचर्या नामका

---

१. प्रयोजनमन्तरेणापि वृक्षादिच्छेदन–भूमिकुट्टन–सलिलसेचन–वधकर्म प्रमादचरितमिति कथ्यते।

'प्रभाषन्ते' प्रतिपादयन्ति। कां? 'प्रमादचर्यां। किं तदित्याह—'क्षितीत्यादि'। क्षितिश्च सलिलं च दहनश्च पवनश्च तेषामारम्भं क्षितिखननसलिलप्रक्षेपणदहनप्रज्वलन-पवनकरणलक्षणं। किंविशिष्टं? 'विफलं' निष्प्रयोजनं। तथा 'वनस्पतिच्छेदं' विफलं। न केवलमेतदेव किन्तु 'सरणं सारणमपि च' सरणं स्वयं निष्प्रयोजनं पर्यटनं सारणमन्यस्य निष्प्रयोजनं गमनप्रेरणं॥८०॥

एवमनर्थदण्डविरतिव्रतं प्रतिपाद्येदानीं तस्यातीचारानाह—

कन्दर्पं कौत्कुच्यं मौखर्यमतिप्रसाधनं पञ्च।
असमीक्ष्य चाधिकरणं व्यतीतयोऽनर्थदण्डकृद्विरतेः॥८१॥

अनर्थदंड [प्रभाषन्ते] कहते हैं॥८०॥

टीकार्थ—व्यर्थ ही पृथ्वीको खोदना, पानीको बिखेरना, अग्निको जलाना, वायुको रोकना, फल-फूल-पत्ती आदिको तोड़ना, स्वयं निष्प्रयोजन घूमना और दूसरोंको भी निष्प्रयोजन घुमाना यह सब प्रमादचर्यानामक अनर्थदण्ड है। इससे निवृत्त होनेको प्रमादचर्या-अनर्थदण्डव्रत कहते हैं।

भावार्थ:—क्षिति आरंभ (जमीन खोदना), सलिल आरंभ (पानी बहाना), दहनारंभ (अग्नि सुलगाना), पवनारंभ (पवन चलाना) तथा वनस्पति तोड़ना, निष्प्रयोजन यहाँ-वहाँ भटकना और अन्यको बिना कारण भटकनेके लिए प्रेरित करना आदि निष्प्रयोजन आरंभजनक क्रियाको प्रमादचर्या अनर्थदंड कहते हैं। ८०.

इस प्रकार अनर्थदंडविरति व्रतका प्रतिपादन करके अब इसके अतिचार कहते हैं।

श्लोक ८१
अनर्थदंडव्रतके अतिचार

अन्वयार्थ—[कंदर्पम्] कंदर्प-"रागकी अधिकतासे हास्यमिश्रित बीभत्स वचन बोलना" [कौत्कुच्यम्] कौत्कुच्य-"बीभत्स वचनोंके साथ शरीरसे कुचेष्टा करना" [मौखर्यम्] मौखर्य—"धृष्टतासे बहुत बकवाद करना" [अतिप्रसाधनम्] अतिप्रसाधन-"आवश्यकतासे अधिक भोगोपभोगकी सामग्री इकट्ठी करना [च] और [असमीक्ष्य अधिकरणम्]

'व्यतीतयो'ऽतीचारा भवन्ति। कस्य? 'अनर्थदण्डकृद्विरतेः' अनर्थ निष्प्रयोजनं दण्डं दोषं कुर्वन्तीत्यनर्थदंडकृतः पापोपदेशादयस्तेषां विरतिर्यस्य तस्य। कति? 'पंच'। कथमित्याह—'कन्दर्पेत्यादि', रागोद्रेकात्प्रहासमिश्रो भण्डिमाप्रधानो वचनप्रयोगः कंदर्पः, प्रहासो भंडिमावचनं भंडिमोपेतकायव्यापारप्रयुक्तं कौत्कुच्यं, धार्ष्ट्यप्रायं बहुप्रलापित्वं मौखर्यं, यावतार्थेनोपभोगपरिभोगौ भवतस्ततोऽधिकस्य करणमतिप्रसाधनम्, एतानि चत्वारि, असमीक्ष्याधिकरणं पंचमं असमीक्ष्य प्रयोजनमपर्यालोच्य आधिक्येन कार्यस्य करणमसमीक्ष्याधिकरणं ॥८१॥

साम्प्रतं भोगोपभोगपरिमाणलक्षणं गुणव्रतमाख्यातुमाह—

असमीक्ष्याधिकरण–''बिना सोचे विचारे अधिक कार्य करना'' ये [पंच] पांच [अनर्थदंडकृद्विरतेः] अनर्थदंडत्यागरूप व्रतके [व्यतीतयः] अतिचार हैं॥८१॥

टीकार्थ—यद्यपि कोषमें कंदर्पका अर्थ काम है, परन्तु यहाँ कामको उत्तेजित करनेवाले भद्दे वचन बोलना कंदर्प माना गया है। भद्दे वचन बोलते हुए हाथ आदि अङ्गोंसे शरीरकी कुचेष्टा करना कौत्कुच्य कहलाता है। आवश्यकतासे अधिक—निष्प्रयोजन बहुत बोलना मौखर्य कहलाता है। जितने पदार्थसे अपने उपभोग और परिभोगकी पूर्ति होती है उससे अधिकका संग्रह करना अतिप्रसाधन कहलाता है तथा असमीक्ष्य—प्रयोजनका विचार किये बिना ही अधिक कार्यका करना असमीक्ष्याधिकरण है। ये पाँच अनर्थदण्डविरतिव्रतके अतिचार हैं।

भावार्थ :—अनर्थदंडव्रतके पाँच अतिचार हैं वे निम्नानुसार हैं :—

(१) कंदर्प :—रागकी प्रबलतासे हास्य मिश्रित अशिष्ट (बुरे) वचन बोलना।

(२) कौत्कुच्य :—हास्य और झूठे वचन सहित कायासे कुत्सित चेष्टा करनी।

(३) मौखर्य :—धृष्टतासे ज्यादा बकवाद करना।

(४) अतिप्रसाधन :—आवश्यकतासे ज्यादा भोगोपभोगकी सामग्री इकट्ठी करनी।

(५) असमीक्ष्य–अधिकरण :—बिना प्रयोजन कार्य करना अथवा किसी वस्तु पर अधिकार कर लेना। ८१.

अब भोगोपभोगपरिमाणरूप गुणव्रतका व्याख्यान करते हैं :—

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ - ३६४२५०

अक्षार्थानां परिसंख्यानं भोगोपभोगपरिमाणम्।
अर्थवतामप्यवधौ रागरतीनां तनूकृतये॥८२॥

'भोगोपभोगपरिमाणं' भवति। किं तत्? 'यत्परिसंख्यानं' परिगणनं। केषां? 'अक्षार्थाना'मिन्द्रियविषयाणां। कथंभूतानामपि तेषां? 'अर्थवतामपि' सुखादिलक्षण-प्रयोजनसंपादकानामपि अथवाऽर्थवतां सग्रन्थानामपि श्रावकाणां। तेषां परिसंख्यानं। किमर्थं? 'तनूकृतये' [1]कृशतरत्वकरणार्थं। कासां? 'रागरतीनां' रागेण विषयेषु रागोद्रेकेण रतयः आसक्तयस्तासां। कस्मिन् सति? 'अवधौ' विषयपरिमाणे॥८२॥

अथ को भोगः कश्चोपभोगो यत्परिमाणं क्रियते इत्याशंक्याह—

श्लोक ८२
भोगोपभोगपरिमाणव्रतका स्वरूप

अन्वयार्थ—[अवधौ] परिग्रहपरिमाण व्रतमें की गई परिग्रहकी मर्यादा होते हुये भी [रागरतीनाम्] रागके कारण होनेवाली विषयोंमें आसक्तिको [तनूकृतये] कम करनेके लिए [अर्थवताम् अपि] सुखादिरूप प्रयोजनसे सहित भी [अक्षार्थानाम्] इन्द्रियोंके विषयोंका [परिसंख्यानम्] परिमाण करना [भोगोपभोगपरिमाणम्] भोगोपभोगपरिमाण व्रत होता है॥८२॥

टीकार्थ—परिग्रहपरिमाण व्रतकी जो सीमा निश्चित की थी उसके भीतर विषयसम्बन्धी रागके तीव्र उदयसे होनेवाली आसक्तियोंको अत्यन्त कृश करनेके लिये सुखादिरूप प्रयोजनको सिद्ध करनेवाले भी इन्द्रियसम्बन्धी विषयोंका जो परिसंख्यान–नियम किया जाता है वह भोगोपभोगपरिमाण नामका गुणव्रत है। टीकाकारने 'अर्थवतामपि' शब्दका एक अर्थ यह भी किया है कि अर्थ—परिग्रहरहित मुनि तो इन्द्रियविषयोंका परिगणन करते ही हैं परन्तु अर्थवान्—परिग्रहसहित गृहस्थ भी इन्द्रियविषयोंका जो परिगणन करते हैं वह भोगोपभोगपरिमाणव्रत कहलाता है।

भावार्थ :—इन्द्रियोंके विषयमें रागकी प्रबलतासे जो आसक्ति होती है उसे घटानेके लिए दिग्व्रतकी मर्यादाके अंदर भी प्रयोजनभूत इन्द्रियोंके विषयोंका भी परिमाण करना अर्थात् नित्य उपयोगमें आवे ऐसे इन्द्रियोंके विषयका नियत समय तक या जीवनपर्यंत परिमाण करना–उसे भोगोपभोगपरिमाण व्रत कहते हैं। ८२.

अब भोग क्या और उपभोग क्या, कि जिनका परिमाण करनेमें आता है? ऐसी

१. कृशत्वकरणाय घ०।

Shri Digambar Jain Swadhyay Mandir Trust, Songadh - 364250

[1]भुक्त्वा परिहातव्यो भोगो भुक्त्वा पुनश्च भोक्तव्यः।
उपभोगोऽशनवसनप्रभृतिः पञ्चेन्द्रियो विषयः॥८३॥

पंचेन्द्रियाणामयं 'पाञ्चेन्द्रियो विषयः'। 'भुक्त्वा' 'परिहातव्य' स्त्याज्यः स 'भोगो'ऽशनपुष्पगंधविलेपनप्रभृतिः। यः पूर्वं भुक्त्वा पुनश्च भोक्तव्यः स 'उपभोगो' वसनाभरणप्रभृतिः वसनं वस्त्रम्॥८३॥

आशंका करके कहते हैं :—

श्लोक ८३
भोग और उपभोगका निर्णय

अन्वयार्थ—[अशनवसनप्रभृतिः] भोजन और वस्त्र आदिक [पंचेन्द्रियः विषयः] पांच इन्द्रियोंके विषय [भुक्त्वा] भोगकर [परिहातव्य] छोड़ देना [भोगः] भोग है [च] और [भुक्त्वा] भोगकर [पुनः] फिरसे [भोक्तव्यः] भोगना [उपभोगः] उपभोग है॥८३॥

टीकार्थ—जो पदार्थ एक बार भोग कर छोड़ दिये जाते हैं फिरसे काममें नहीं आते ऐसे भोजन, पुष्प, गन्ध तथा विलेपन आदि पदार्थ भोग कहलाते हैं—और जो पहले भोगकर फिरसे भोगनेमें आते हैं ऐसे वस्त्र तथा आभूषण आदि उपभोग कहलाते हैं। इनकी सीमा निश्चित करना सो भोगोपभोगपरिमाणव्रत है।

भावार्थ :—जो पाँच इन्द्रियोंके विषय (पदार्थ) एकबार भोगनेके बाद फिरसे भोगने योग्य नहीं रहे उसे भोग कहते हैं; जैसे कि भोजन, गंध, माला आदि और जो पदार्थ बारबार भोगनेमें आते हैं उन्हें उपभोग कहते हैं; जैसे कि वस्त्र, आभूषण वगेरे (वगैरह)

जो भोग–उपभोगकी वस्तुओंको भोगने पर द्रव्यहिंसा होती है वह तो सर्वथा त्याज्य है, परंतु जो वस्तुओंको भोगनेमें द्रव्यहिंसा नही होती, लेकिन उसे भोगनेकी लालसारूप रागजनित भावहिंसा अवश्य होती है; इसलिए उसे घटानेके लिए उन वस्तुओंको कालकी मर्यादा द्वारा परिमाण करना योग्य है। ८३.

---

१. भोगसंख्यानं पंचविधं त्रसघातप्रमादबहुवधानिष्टानुपसेव्यविषयभेदात्। मधु मांसं सदा परिहर्तव्यं त्रसघातं प्रति निवृत्तचेतसा। मद्यमुपसेव्यमानं कार्याकार्यविवेकसंमोहकरमिति तद्वर्जनं प्रमादविरहाय अनुष्ठेयं।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ - ३६४२५०

[1]मद्यादिर्भोगरूपोऽपि त्रसजन्तुवधहेतुत्वादणुव्रतधारिभिस्त्याज्य इत्याह—

त्रसहतिपरिहरणार्थं क्षौद्रं पिशितं प्रमादपरिहृतये।
मद्यं च वर्जनीयं जिनचरणौ शरणमुपयातैः॥८४॥

'वर्जनीयं'। किं तत्? क्षौद्रं' मधु। तथा 'पिशितं'। किमर्थं? 'त्रसहतिपरिहरणार्थं' त्रसानां द्वीन्द्रियादीनां हतिर्वधस्तत्परिहरणार्थं। तथा 'मद्यं च' वर्जनीयं। किमर्थं? 'प्रमादपरिहृतये' माता भार्यति विवेकाभावः प्रमादस्तस्य परिहृतये परिहारार्थं। कैरेतद्वर्जनीयं? 'शरणमुपयातैः' शरणमुपगतैः। कौ? 'जिनचरणौ' श्रावकैस्तत्त्याज्यमित्यर्थः॥८४॥

शराब आदि पदार्थ भोगरूप होने पर भी, उनमें त्रस जीवोंका घात होनेके कारण अणुव्रतधारीयोंको इसका त्याग करना चाहिये ऐसा कहते हैं :—

श्लोक ८४
भोगोपभोग परिमाणव्रतमें विशेष त्याग

अन्वयार्थ—[जिनचरणौ शरणं उपयातैः] जिनेन्द्र भगवानके चरणोंमें शरणको प्राप्त पुरुषोंको [त्रसहतिपरिहरणार्थं] त्रसजीवोंकी हिंसाके निवारण करनेके लिए [क्षौद्रम्] मधु व [पिशितम्] मांस [च] और [प्रमादपरिहृतये] प्रमादके दूर करनेके लिए [मद्यम्] मदिरा [वर्जनीयम्] छोड़ देना चाहिए॥८४॥

टीकार्थ—जो जिनेन्द्र देवके चरणोंकी शरणको प्राप्त हैं अर्थात् जैनधर्मके धारक हैं ऐसे श्रावकोंको द्वीन्द्रियादि त्रसजीवोंकी हिंसासे बचनेके लिये मधु और मांसका त्याग करना चाहिये तथा प्रमादसे बचनेके लिये मद्य–मदिराका त्याग करना चाहिये। 'यह माता है अथवा स्त्री है' इस प्रकारके विवेकके अभावको प्रमाद कहते हैं।

भावार्थ :—मध (मधु) और मांस खानेसे त्रस जीवोंकी हिंसा होती है और शराब (मदिरा) पीनेसे उन्मत्तता–पागलपना आता है, सत् और असत्का विवेक नहीं रहता अर्थात् अति प्रमादकी उत्पत्ति होती है और त्रस हिंसा भी होती है इसलिए जिनेन्द्र देवके भक्तको ऐसी त्रसहिंसा और प्रमादको दूर करनेके लिए मधु, माँस और शराबका सर्वथा जीवनपर्यंत त्याग करना चाहिए। अफीम, गांजा, चरस, भांग, तम्बाकु वगैरह चीजें प्रमाद बढ़ानेवाली तथा आत्माके स्वभावको विकारी करती हैं इसलिए ऐसी चीजोंका भी त्याग करना चाहिए। ८४.

---

१. मद्यादिरूपभोगरूपोऽपि घ।

Shri Digambar Jain Swadhyay Mandir Trust, Songadh - 364250

तथैतदपि तैस्त्याज्यमित्याह—

[1]अल्पफलबहुविघातान्मूलकमार्द्राणि श्रृङ्गवेराणि।
नवनीतनिम्बकुसुमं कैतकमित्येवमवहेयम्॥८५॥

'अवहेयं' त्याज्यं। किं तत्? 'मूलकं'। तथा 'श्रृङ्गवेराणि' आर्द्रकाणि। किं विशिष्टानि? 'आर्द्राणि' अशुष्काणि[2]। तथा नवनीतं च। निम्बकुसुममित्युपलक्षणं सकलकुसुमविशेषाणां तेषां। तथा कैतकं केतक्या इदं कैतकं गुधरा इत्येवं, इत्यादि सर्वमवहेयं। कस्मात् 'अल्पफलबहुविघातात्'। अल्पं फलं यस्यासावल्पफलः, बहूनां त्रसजीवानां विघातो विनाशो बहुविघातः अल्पफलश्चासौ बहुविघातश्च तस्मात्॥८५॥

इस प्रकार इन सबका सर्वथा त्याग करना ऐसा कहते हैं :—

श्लोक ८५
छोड़नेयोग्य दूसरे पदार्थ

अन्वयार्थ—[अल्पफलबहुविघातात्] थोडा फल (प्रयोजन अल्प) और जीवोंका घात बहुत होनेसे [आर्द्राणि] नहीं पके हुए [मूलकम्] मूली [श्रृंगवेराणि] अदरख तथा [नवनीतनिम्बकुसुमम्] मक्खन, नीमका फूल और [कैतकं] केवडाके फूल [इति एवं] इत्यादिक [अवहेयम्] छोड़ना चाहिए॥८५॥

टीकार्थ—मूली, गीला[3] अर्थात् बिना सूखा अदरक, उपलक्षणसे आलू, घुइंया, गाजर, शकरकंद आदि, मक्खन, नीमके फूल, उपलक्षणमें सभी प्रकारके फूल तथा केतकीके फूल और इसी प्रकारके अन्य पदार्थ भी अल्पफल (प्रयोजन हो) और बहुत जीवोंका घात होनेसे छोड़ने योग्य हैं।

भावार्थ :—जिसको खानेसे लाभ कम और स्थावर त्रस जीवोंकी हिंसा अधिक

---

१. केतक्यर्जुनपुष्पादीनि बहुजन्तुयोनिस्थानानि श्रृङ्गवेरमूलकहरिद्रानिम्बकुसुमादीन्यनन्तकायव्यपदेशार्हाणि एतेषामुपसेवने बहुघातोऽल्पफलमिति तत्परिहारः श्रेयान्।

२. अपक्वानि घ।

३. संस्कृतटीकाकारने 'आद्राणि' शब्दकी व्याख्या करते हुए 'अशुष्काणि' पद दिया है। इससे ज्ञात होता है कि जो अदरक स्वतः स्वभावसे सूखकर सोंठरूपमें परिवर्तित हो गया है उसे व्रती मनुष्य ले सकता है।

प्रासुकमपि यदेवंविधं तत्त्याज्यमित्याह—

[1]यदनिष्टं तदव्रतयेद्यच्चानु[2]पसेव्यमेतदपि जह्यात्।
अभिसन्धिकृता विरतिर्विषयाद्योग्याद्व्रतं भवति॥८६॥

होवे ऐसे सचित्त हल्दी, कंदमूल आदि सर्व प्रकारके जमीकंद; मक्खन, नीम और केतकी आदिके सभी प्रकारके फूल तथा ऐसी दूसरी वस्तुओंका भोगोपभोग व्रतधारीको सर्वथा त्याग करना चाहिए। ऐसी वस्तुओंका परिमाण नहीं होता लेकिन जीवनपर्यंत इनका त्याग ही होता है।

साधारण वनस्पति और कंदमूल आदिमें अनंत निगोदिया जीव रहते हैं। उनका भक्षण करनेसे बहुत स्थावर जीवोंकी हिंसा होती है, इसलिए उनका सर्वथा त्याग करना चाहिए।

जिन वनस्पतिके पानमें रेखा, ग्रंथी, संधि प्रत्यक्ष दिखनेमें आती है, जिसमें तंतु होते है और जिसको तोड़नेसे एक सरीखा समभाग नहीं टुटता है, उल्टा सीधा टुटे वह निगोदिया जीव रहित प्रत्येक वनस्पति है। परंतु जिसके पानमें रेखाएँ, गाँठ प्रगट नहीं हो और तोड़ने पर एक सरीखा समभाग टुटे वह निगोदिया जीव सहित साधारण वनस्पति है।

प्रत्येक वनस्पतिके आश्रयसे एक ही जीव रहता है, जबकि साधारण वनस्पतिके आश्रय अनंत निगोदिया स्थावर जीव रहते हैं; इसलिए अनंत स्थावर जीवोंकी हिंसासे बचनेके लिए ऐसी वनस्पतिका सर्वथा त्याग करना चाहिए।

प्रासुक होने पर भी जो इस प्रकारके (अनिष्ट और अनुपसेव्य) हों उनका भी त्याग करना चाहिए ऐसा कहते हैं—

श्लोक ८६
अनिष्ट अनुपसेव्य वस्तुओंका त्याग एवं व्रतका स्वरूप

अन्वयार्थ—[यत् अनिष्टम्] जो प्रकृतिको अनिष्ट है [तत्] उसको [व्रतयेत्] छोड़ देना चाहिये [च] और [यत्] जो गोमूत्र आदिक [अनुपसेव्यम्] सेवन करनेके लिए योग्य नहीं हैं [एतदपि] उनको भी [जह्यात्] छोड़ देना चाहिए कारण कि [योग्यात् विषयात्] योग्य

---

१. यानवाहनाभरणादिषु एतावदेवेष्टमतोऽन्यदनिष्टमित्यनिष्टान्निवर्तनं कर्तव्यं।

२. न ह्यसति अभिसन्धिनियमे व्रतमितीष्टानामपि चित्रवस्त्रविकृतवेशाभरणादीनामनुपसेव्यानां परित्यागः कार्यः।

'यदनिष्टं' उदरशूलादिहेतुतया प्रकृतिसात्म्यकं यन्न भवति 'तद्व्रतयेत्' व्रतनिवृत्तिं कुर्यात् त्यजेदित्यर्थः। न केवलमेतदेव व्रतयेदपितु 'यच्चानुपसेव्यमेतदपि जह्यात्'। यच्च यदपि गोमूत्र–करभदुग्ध–शंखचूर्ण–ताम्बूलोद्गाललाला–मूत्र–पुरीष–श्लेष्मादिकमनुपसेव्यं प्रासुकमपि शिष्टलोकानामास्वादनायोग्यं एतदपि जह्यात् व्रतं कुर्यात्। कुत एतदित्याह–[1]अभिसन्धीत्यादि अनिष्टतया अनुपसेव्यतया च व्यावृत्तेर्योग्यद्विषयादभिसन्धिकृताऽभिप्राय-पूर्विका या विरतिः सा यतो व्रतं भवति॥८६॥

विषयसे [अभिसंधिकृत्वा] अभिप्रायपूर्वक किया गया [विरतिः] त्याग [व्रतम्] व्रत [भवति] होता है॥८६॥

टीकार्थ—जो वस्तु प्रासुक होनेपर भी अनिष्ट है अर्थात् उदरशूल आदिका कारण होनेसे प्रकृतिके अनुकूल नहीं है उसे छोड़ना चाहिये। इसी प्रकार जो भी गोमूत्र, ऊंटनीका दूध, शङ्खचूर्ण, पानका उगाल, लार, मूत्र, पुरीष तथा खकार आदि वस्तुएँ अनुपसेव्य हैं—शिष्ट मनुष्योंके सेवन करने योग्य नहीं हैं उन्हें भी छोड़ना चाहिये, क्योंकि अनिष्टपन और अनुपसेव्यपनके कारण छोड़ने योग्य विषयसे अभिप्रायपूर्वक जो निवृत्ति होती है वही व्रत कहलाता है।

भावार्थ—जो वस्तु शारीरिक प्रकृतिसे विरूद्ध हो, रोगादिकको बढ़ानेवाली हो, प्रकृतिके अनुकूल आती न हो, (जैसे खांसीवाले रोगीको शक्कर अनुकूल नहीं होती) वह अनिष्ट है और शिष्टजनोंको यह सेवन करने योग्य नहीं है ऐसी चीजें जैसे कि गोमूत्र, विष्टा, लींट आदि अनुपसेव्य है। इन दोनों प्रकारकी अनिष्ट और अनुपसेव्य चीजोंका त्याग करना चाहिए, कारण कि सेवन करने योग्य पाँच इन्द्रियोंके विषयको प्रतिज्ञापूर्वक त्याग करना उसे ही व्रत कहते हैं।

ऐसे व्रत सम्यग्दृष्टि सहित पंचम गुणस्थानवालोंको होते हैं। इन व्रतोंमें 'परवस्तुको छोड़नेका कथन' है उसका अर्थ ऐसा नहीं है कि परवस्तु ग्रही या छोड़ी जा सकती है; लेकिन ज्ञानीको उस भूमिकामें अकषाय स्वभावके अवलंबनके अनुसार इन वस्तुओंका राग उत्पन्न नहीं होता; इसलिए उपचरित असद्भूत व्यवहारनयसे 'परका त्याग किया' ऐसा कहनेमें आता है।

---

१. 'अभिसन्धीत्यादिअनिष्टतया अनुपसेव्यतया च व्यावृत्तेर्योग्याद् विषयाद्' इति पंक्तिः घ प्रतौ नास्ति।

विशेष

जो चीज खाने योग्य हो और उसमें जीवहिंसाका भी अभाव हो परंतु किसी कारणवश स्वयंको अनुकूल नहीं हो, हानिकारक हो तो ऐसी चीजें अनिष्ट हैं, जैसे कि खांसीके रोगीको दूध–घी हानिकारक हैं, अनिष्ट हैं। वातके रोगीको चावल उड़दकी दाल वगेरे अनिष्ट हैं, कफके रोगीको शक्करकी चीजे अनिष्ट हैं, तथा जो पदार्थ खानेसे प्रमाद, आलस्य, निद्रा आदि उत्पन्न होते हैं; स्वाध्याय, सामायिक आदि धर्म ध्यानमें बाधा आवे तो वे सभी पदार्थ भक्ष्य होने पर भी स्वयंके लिए अनिष्ट हैं।

जो चीजें अनिष्ट नहीं हो तथा हिंसाजनक भी नहीं हो, परंतु अनंतकाय और अभक्ष्य होनेसे प्याज, लहसुन आदि चीजें खानेके उपयोगमें नहीं ली जाती, तो ऐसी चीजें अनुपसेव्य हैं अर्थात् सेवन करना योग्य नहीं हैं।

इस प्रकार जो पदार्थ भक्ष्य होवें–खाने योग्य होवें और जीव हिंसासे रहित हों, परंतु स्वयंके लिए अनिष्ट हो और उच्च कुलीनजनोंके लिए अनुपसेव्य हो तो व्रतधारीयोंको ऐसे पदार्थको सर्वथा त्याग करना चाहिए।

श्लोक ८४–८५–८६ का सारांश

निम्न दिये गये पाँच प्रकारके पदार्थोंका व्रतीको सर्वथा त्याग करना चाहिए :—

(१) त्रस जीवोंका घात होवे ऐसे पदार्थ—मांस, मधु, शराब, पाँच उदम्बर फल आदि।

(२) ज्यादा स्थावर जीवोंका घात होवे ऐसे पदार्थ—साधारण वनस्पति, कंदमूलादि, नीम और केतकीके फूल आदि।

(३) प्रमादको या नशेको उत्पन्न करे ऐसी चीजें—शराब, अफीम, भांग, गांजा, तमाकु वगेरे।

(४) स्वयंको अनुकूल नहीं आवे ऐसी अनिष्ट चीजें।

(५) अनुपसेव्य चीजें–शिष्टजनोंको सेवन करने योग्य न हों ऐसी चीजें।

इस प्रकार नीचेकी बाईस अभक्ष्य चीजें जिसमें उपरोक्त पाँच प्रकारकी चीजोंका भी समावेश होता है, उसका भी व्रतीयोंको त्याग करना चाहिए।

ओला, घोरवडा, निशिभोजन, बहुबीजा, बेंगन, अचार, वड़, पीपल, उमर, कदुमर (कठ), अंजीर (पाकरफल), अनजाने फल तथा कंदमूल, माटी, विष, आमिष (मांस–अंडे), मधु, मक्खन, शराब, अति तुच्छ फल, तुषार, चलित रस—यह जिनमतमें बाइस अभक्ष्य कहे हैं ।

(१) ओला :—(बर्फ) जो बिना (छने) पानीको जमानेसे होता है । उसमें असंख्यात त्रस जीवोंका घात होता है ।

(२) धोरवड़ा (दहीवड़ा) :—उडद या मुंगकी दालके बड़े दही या छाँछमें डालकर खानेसे असंख्यात त्रस जीवोंकी उत्पत्ति होती है ।

(३) रात्रि भोजन :—इसमें रागकी उत्कृष्टता और असंख्यात जीवोंकी हिंसा रहती है । रात्रिमें बराबर नहीं दिखनेसे हिंसाके पाप सिवाय आरोग्यको भी नुकसान होता है । मक्खी खानेमें आए तो उल्टी होती है, चिंटी खानेमें आए तो पेशाबमें जलन होती है, बाल खानेमें आए तो स्वर भंग होता है, जूं खानेमें आये तो जलोदर होता है और मकड़ी खानेमें आये तो कोढ़ होता है आदि ।

(४) बहुबीज :—जिसमें बीजोंका अलग–अलग घट नहीं हो, जैसे–पपीता, अफीणका डोडा जिसमें बहुत बीज होते हैं।

(५) बेंगन :—ये उन्माद उत्पन्न करते हैं ।

(६) संधान (अथाणुं) :—आचार, केरी, नींबू वगेरे राई, नमक आदि मसालाके साथ तेलमें या बिना तेलमें कुछ दिनों तक रखने सें उसमें त्रस जीवोंकी उत्पत्ति होती है । चौबीस घन्टोंके बाद अचार आदि अभक्ष्य हैं ।

(७–११) वडफल (टेटा), पीपल फल (पेपडी), उमरफल, कठुमर, अंजीर अथवा पाकर फल—यह पाँच उदम्बर फल साक्षात् त्रस जीवोंके घर है ।

(१२–१३) अनजान फल और कंदमूल जो अनंत स्थावर जीवोंकी राशि है ।

(१४) खाण या खेतकी मिट्टी :—इनमें असंख्यात त्रस जीव होते हैं ।

(१५) विष (१६) मांस (१७) मद्य (१८) मक्खन (१९) शराब (२०) अति तुच्छ फल यह सप्रतिष्ठित वनस्पति है, अनंत जीवोंकी राशि है ।

(२१) तुषार :—बरफ जो असंख्य त्रस जीवोंकी राशि है ।

तच्च द्विधा भिद्यत इति—

नियमो यमश्च विहितौ द्वेधा भोगोपभोगसंहारात्।
नियमः परिमितकालो यावज्जीवं यमो ध्रियते॥८७॥

'भोगोपभोगसंहारात्' भोगोपभोगयोः संहारात् परिमाणात् तमाश्रित्य। 'द्वेधा विहितौ' द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां द्वेधा व्यवस्थापितौ। कौ? 'नियमो यमश्चे'त्येतौ। तत्र को नियमः कश्च यम इत्याह—'नियमः परिमितकालो वक्ष्यमाणः परिमितः कालो यस्य भोगोपभोगसंहारस्य स नियमः। 'यमश्च यावज्जीवं ध्रियते'॥८७॥

---

(२२) चलित रस :—जिन वस्तुओंका स्वाद बिगड़ जाता है या शास्त्रोक्त मर्यादासे अधिक समय हो जाता है उसमें त्रस जीवोंकी उत्पत्ति हो जाती हैं।

इन चीजोंको खानेमें विशेष हिंसा होती है। आठ मूलगुणोमें दोष आता है और अनेक रोग उत्पन्न होते हैं; इसलिए व्रतीके लिए सर्वथा त्याज्य है।

उसके (भोगोपभोगके त्यागके) दो प्रकार हैं :—

श्लोक ८७
यम नियमरूप व्रतका स्वरूप।

अन्वयार्थ—[भोगोपभोगसंहारे] भोगोपभोगपरिमाणव्रतमें [नियमः] नियम [च] और [यमः] यम इस प्रकार [द्वेधा] दो भेद [विहितौ] कहे गये हैं, [परिमितकालः] कालकी मर्यादा करके [नियम;] नियम [ध्रियते] धारण किया जाता है और [यावज्जीवम्] जीवनपर्यंत [यमः] यम [ध्रियते] धारण किया जाता है॥८७॥

टीकार्थ—भोग और उपभोगका परिमाण नियम और यमके भेदसे दो प्रकारका होता है। जो परिमाण समयकी अवधि लेकर किया जाता है वह नियम कहलाता है और जो जीवन पर्यन्तके लिये धारण किया जाता है वह यम कहलाता है।

भावार्थ—भोगोपभोग परिमाण व्रतमें नियम और यम—ऐसे दो प्रकारके त्यागका विधान करनेमें आया है। यह जो त्याग घड़ी, घन्टे आदि नियत समयकी मर्यादासे है वह नियम कहलाता है और जो त्याग जीवन पर्यंत किया जाता है वह यम कहलाता है।

तत्र परिमितकाले तत्संहारलक्षणनियमं दर्शयन्नाह—

भोजनवाहनशयनस्नानपवित्राङ्गरागकुसुमेषु।
ताम्बूलवसनभूषणमन्मथसंगीतगीतेषु ॥८८॥

अद्य दिवा रजनी वा पक्षो मासस्तथर्त्तुरयनं वा।
इति कालपरिच्छित्त्या प्रत्याख्यानं भवेन्नियमः ॥८९॥

युगलं। नियमो भवेत्। किं तत्? प्रत्याख्यानं। कया? कालपरिच्छित्या। तामेव कालपरिच्छितिं दर्शयन्नाह—अद्येत्यादि, अद्येति प्रवर्तमानघटिकाप्रहरादिलक्षणकालपरिच्छित्या प्रत्याख्यानं। तथा दिवेति। रजनी रात्रिरिति वा। पक्ष इति वा। मास इति वा। ऋतुरिति वा मासद्वयं। अयनमिति वा षण्मासा। इत्येवं कालपरिच्छित्या प्रत्याख्यानं। केष्वित्याह—

व्रतीको भक्ष्य वस्तुओंका नियमरूप त्याग होता है और अभक्ष्य वस्तुओंका यमरूप त्याग होता है (ज्यादा जानकारीके लिये देखो श्लोक—८८-८९का भावार्थ और विशेष) ८७.

इसमें नियत कालके विषयमें भोगोपभोग त्यागरूप नियम दर्शाकर कहते हैं—

श्लोक ८८-८९
नियम करनेकी विधि

अन्वयार्थ—[भोजनवाहनशयनस्नानपवित्राङ्गरागकुसुमेषु] भोजन, वाहन, शय्या, उवटन, फूल [तांबूलवसनभूषणमन्मथसंगीतगीतेषु] ताम्बूल, वस्त्र, आभूषण, कामसेवन, संगीत और गायन इन विषयोंमें [अद्य] आज [दिवा] एक दिवस, [रजनी] एक रात्रि [पक्षः] एक पक्ष [मासः] एक महिना (तथा) (ऋतुः) दो महिना [वा] अथवा [अयनम्] छह महिना [इति] इस प्रकार [कालपरिच्छित्त्या] कालका प्रमाण करके [प्रत्याख्यानम्] त्याग करना [नियमः] नियम [भवेत्] होता है॥८८-८९॥

टीकार्थ—भोजनका अर्थ प्रसिद्ध है, घोड़ा आदिको वाहन कहते हैं, पलंग आदिको शयन कहते हैं, स्नानका अर्थ प्रसिद्ध है, अपवित्र वस्तुओंके सम्पर्कसे रहित केशर आदिके विलेपनको पवित्राङ्गराग कहते हैं, यह अङ्गराग अञ्जन तथा तिलक आदिका उपलक्षण है। अङ्गरागके साथ जो पवित्र विशेषण दिया गया है वह दोषोंको दूर करनेके लिए दिया गया है।

भोजनेत्यादि भोजनं च, वाहनं च घोटकादि, शयनं च पल्यङ्कादि, स्नानं च, पवित्राङ्गरागश्च पवित्रश्चासावङ्गरागश्च कुंकुमादिविलेपनं। उपलक्षणमेतदञ्जनतिलकादीनां पवित्रविशेषणं दोषापनयनार्थं तेनौषधाद्यङ्गरागो निरस्तः। कुसुमानि च तेषु विषयभूतेषु। तथा ताम्बूलं च वसनं च वस्त्रं भूषणं च कटकादि मन्मथश्च कामसेवा संगीतं च गीतनृत्यवादित्रत्रयं गीतं च केवलं नृत्यवाद्यरहितं तेषु च विषयेषु अद्येत्यादिरूपं कालपरिच्छित्या यत्प्रत्याख्यानं स नियम इति व्याख्यातम्॥८८–८९॥

इसलिए सदोष औषध तथा अंगरागका निराकरण होता है। कुसुमका अर्थ प्रसिद्ध है, ताम्बूल पानको कहते हैं, वसन वस्त्रको कहते हैं, कटक आदिको भूषण कहते हैं, कामसेवनको मन्मथ कहते हैं, जिसमें गीत, नृत्य और वादित्र ये तीनों होते हैं उसे संगीत कहते हैं और जिनमें केवल गीत होता है नृत्य और वादित्र नहीं होते उसे गीत कहते हैं। इन सबके विषयमें समयकी अवधि लेकर जो त्याग होता है वह नियम कहलाता है। चालू दिनमें एक घड़ी, एक पहर आदि कालका परिमाणकर त्याग करना आजका त्याग है। दिन और रात्रिका अर्थ स्पष्ट है। पन्द्रह दिनको पक्ष कहते हैं। तीस दिनको मास कहते हैं। दो मासको ऋतु कहते हैं। एक वर्षमें चैत्र और वैशाखसे लेकर दो–दो मासमें क्रमसे वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमन्त और शिशिर ये छह ऋतुएँ होती हैं। उत्तरायण और दक्षिणायनके भेदसे वर्षमें छह–छह मासके दो अयन होते हैं। इस प्रकार समयकी अवधि रखकर भोजन आदिका त्याग करना नियम कहलाता है।

भावार्थ :—भोजन, वाहन (रथ, घोडा, पालकी, मोटर आदि), शयन (खाट, पलंग, गादी–तकिया, रजाई वगेरे), स्नान (गरम जल, चौकी आदि साधन), पवित्र अंग राग (साबुन, तेल इत्र, फुलेल आदि सुगंधित वस्तुओसे विलेपनादि कुसुम (पुष्पमाला आदि), ताम्बूल (पान–सोपारी ईलायची आदि मुखवासकी वस्तुएँ), वसन (वस्त्र, धोती, चादर, चम्पल–बुट, टोपी, कोट, खमीस आदि), भूषण (बंगड़ी, आभूषण–बाजुबंध, कंकण, कुंड़ल, मुकुट, हार, वीटी आदि), मन्मथ (स्त्रीभोग), संगीत (नृत्य, वाद्य, गायन सहित रागोंका सुनना, नाटकादि देखना गीत (स्त्रीयोंके गीत–बसंत राग वगेरे)—इन भोजनादि बारह भोग–उपभोगकी वस्तुओंका घड़ी, प्रहर, दिवस, रात्री, पक्ष, मास, ऋतु (दो मास) और अयन (छः मास) आदि कालकी मर्यादापूर्वक त्याग करना वह नियम है।

विशेष

अयोग्य (अभक्ष्य) भोगोपभोगकी चीजोंका सर्वथा त्याग करना चाहिए और योग्य (भक्ष्य) भोगोपभोगकी वस्तुओंका प्रमाण करना चाहिए इसके लिए निम्नानुसार १६ नियम नित्य करने चाहिए—

भोजने षट्रसे पाने कुंकुमादि विलेपने।
पुष्प ताम्बूल गीतेषु नृतादौ ब्रह्मचर्यके ।।
स्नान भूषण वस्त्रादौ वाहने शयनासने।
सचित्तवस्तु संख्यादौ प्रमाणं भज प्रत्यहम् ।।

(१) आज इतनी बार भोजन करूँगा ।

(२) छः रस :—दूध, घी, दहीं, शक्कर, गुड़, नमक; तेलमेंसे किसी भी एक या एकसे ज्यादाका त्याग करूँगा ।

(३) शरबत :—चाय, जलपान इतनी बार करूँगा ।

(४) अनेक प्रकारके पुष्पोंका इतनी बार उपयोग करूँगा ।

(५) चंदन, केशर, तेल या कुंकुमादिका विलेपन इतनी बार करूँगा ।

(६) पान–ईलायची–सोपारी आदि खाद्य चीजें इतनी बार खाऊँगा ।

(७) आज गीत सुनुंगा या नहीं ।

(८) आज नाच देखुंगा या नहीं ।

(९) आज ब्रह्मचर्यका पालन करूँगा या नहीं ।

(१०) आज (इतनी बार) स्नान करूँगा ।

(११) आज यह आभूषण पहनूँगा ।

(१२) गाड़ी, घोड़ा, तांगा, रेल, मोटर, सायकिल आदिमेंसे किसी वाहनका ही उपयोग करूँगा ।

(१३) कामुक बिस्तरका या पलंगका शयनके लिए उपयोग करूँगा ।

(१४) कुरशी टेबल, बेंच, गादी, तकिया आदिमेंसे कुछ आसनको ही उपयोगमें लुंगा ।

(१५) सचित्त (हरी सबजी) :—आज इनमेंसे ही सबजी खाऊँगा ।

(१६) अन्य वस्तुएँ अमुक रखूँगा ।

इस प्रकार योग्य वस्तुओंको भी, वह भोगनेकी लालसारूप रागजनित भावहिंसाको घटानेके लिए, कालकी मर्यादासे (नियमरूप) त्याग करना वह व्रतीके लिए योग्य है ।

भोगोपभोगपरिमाणस्येदानीमतीचारानाह—

विषयविषतोऽनुपेक्षानुस्मृतिरतिलौल्यमतितृषाऽनुभवौ।
भोगोपभोगपरिमाव्यतिक्रमाः पञ्च कथ्यन्ते॥९०॥

भोगोपभोगपरिमाणं तस्य व्यतिक्रमा अतीचाराः पंच कथ्यन्ते। के ते इत्याह विषयेत्यादि—विषय एव विषं प्राणिनां दाहसंतापादिविधायित्वात् तेषु ततोऽनुपेक्षा

पुरुषार्थ सिद्धि-उपायमें कहा है कि :—

''बुद्धिमान श्रावक स्वयंकी शक्तिका विचार करके खाने योग्य पदार्थ भी छोड़े और जो सर्वथा नहीं छूट सके तो एक दिन, एक रात, एक सप्ताह, १५ दिन (पखवाड़ा) आदिकी मर्यादा करके क्रम क्रमसे छोड़े'' (श्लोक १६४की टीका)

''प्रथम की गई मर्यादामें भी फिरसे वह समय अर्थात् वर्तमान समयकी स्वयंकी शक्तिका विचार करके हर रोज मर्यादामें भी थोड़ी मर्यादा करने योग्य है'' (श्लोक १६४की टीका)

''जो गृहस्थ इस प्रकार मर्यादारूप भोगोंसे संतुष्ट होकर बहुत भोगोंको छोड़ता है उसे ज्यादा हिंसाके त्यागसे अहिंसाव्रत होता है'' (श्लोक १६६की टीका) ८८, ८९.

अब भोगोपभोगपरिमाण व्रतके अतिचार कहते हैं :—

श्लोक ९०
भोगोपभोगपरिमाण व्रतके अतिचार

अन्वयार्थ—[विषयविषतः] विषयरूपी विषसे [अनुपेक्षा] उपेक्षा नहीं करना [अनुस्मृतिः] अनुस्मृति-''भोगे हुए विषयोंका बार बार स्मरण करना'' [अतिलौल्यम्] अतिलौल्य—''भोग भोगते हुए भी पुनः पुनः उनके भोगनेकी इच्छा करना'' [अतितृषा]-''भविष्यकालीन भोगोंकी प्राप्तिके लिए अत्यंत इच्छा करना'' [अति अनुभवः] अत्यनुभव—''भोग भोगते हुए भी अत्यंत आसक्तिसे भोगना'' ये [पंच] पांच [भोगोपभोग-परिमाव्यतिक्रमाः] भोगोपभोगपरिमाण व्रतके अतिचार [कथ्यन्ते] कहे गये हैं॥९०॥

टीकार्थ—विषय विषके समान हैं क्योंकि जिस प्रकार विष प्राणियोंको दाह तथा सन्ताप आदि करता है उसी प्रकार विषय भी प्राणियोंको दाह और संताप आदि उत्पन्न करते

उपेक्षायास्त्यागस्याभावोऽनुपेक्षा आदर इत्यर्थः। विषयवेदनाप्रतिकारार्थो हि विषयानुभवस्तस्मात्तत्प्रतीकारे जातेऽपि पुनर्यत्संभाषणालिंगनाद्यादरः सोऽत्यासक्ति-जनकत्वादतीचारः। अनुस्मृतिस्तदनुभवात्प्रतीकारे जातेऽपि पुनर्विषयाणां सौंदर्यसुखसाधन-त्वादनुस्मरणमत्यासक्तिहेतुत्वादतीचारः। अतिलौल्यमति-गृद्धिस्तत्प्रतीकारजातेऽपि पुनः पुनस्तदनुभवाकांक्षेत्यर्थः। अतितृषा भाविभोगोपभोगा-देरतिगृद्ध्या प्राप्त्याकांक्षा। अत्यनुभवो नियतकालेऽपि यदा भोगोपभोगावनुभवति तदाऽत्यासक्त्यानुभवति न पुनर्वेदना-प्रतीकारतयाऽतोऽतीचारः ॥९०॥

हैं। इस विषयरूपी विषसे उपेक्षा नहीं होना अर्थात् उसके प्रति आदरका भाव बना रहना **अनुपेक्षा** नामका अतिचार है। विषयोंका अनुभव—उपभोग विषयसम्बन्धी वेदनाके प्रतिकारके लिये किया जाता है सो विषयानुभवसे वेदनाका प्रतिकार हो जाने पर भी फिरसे संभाषण तथा आलिंगन आदिमें जो आदर है वह अत्यन्त आसक्तिका जनक होनेसे अतिचार माना जाता है। विषयानुभवसे वेदनाका प्रतिकार हो जानेपर भी सौन्दर्यजनित सुखका साधन होनेसे विषयोंका बार-बार स्मरण करना यह **अनुस्मृति** नामका अतिचार है। अत्यन्त आसक्तिका कारण होनेसे यह अतिचार माना जाता है। विषयोंमें अत्यन्त गृद्धता रखना अर्थात् विषयानुभवसे वेदनाका प्रतिकार हो जानेपर भी बार-बार उसके अनुभवकी आकांक्षा रखना **अतिलौल्य** नामका अतिचार है। आगामी भोगोपभोग आदिकी अत्यधिक गृद्धताके साथ प्राप्तिकी आकांक्षा रखना **अतितृषा** नामका अतिचार है। और नियतकालमें भी जब भोग और उपभोगका अनुभव करता है तब अत्यन्त आसक्तिसे करता है वेदनाके प्रतिकारकी भावनासे नहीं, यह **अत्यनुभव** नामका अतिचार है।

भावार्थ :—भोगोपभोगपरिमाण व्रतके पांच अतिचार :—

(१) विषयविषानुपेक्षा :—विषयरूप विषकी उपेक्षा नहीं करनी अर्थात् संभोग बाद भी वार्तालाप एवं आलिंगन द्वारा उसका आदर करना।

(२) अनुस्मृति :—भोगनेके बाद भी उस विषयका बारबार स्मरण करना।

(३) अतिलौल्य :—वर्तमानमें भोग भोगने पर भी बारबार उसे भोगनेकी इच्छा करनी।

(४) अतितृषा :—भावि भोगोंकी प्राप्तिके लिए अत्यंत इच्छा करनी।

(५) अतिअनुभव :—भोग भोगने पर भी विषय वेदनाके प्रतिकारकी इच्छा बिना अत्यंत आसक्तिसे भोगना।

इति प्रभावचन्द्रविरचितायां समन्तभद्रस्वामिविरचितोपासकाध्ययनटीकायां
तृतीयः परिच्छेदः ॥३॥

विशेष

भोगोपभोगपरिमाण व्रतका धारक सचित्त वस्तुओंके त्यागके अभ्यासके लिए उन वस्तुओंका नियमरूप त्याग करता है। इस दृष्टिसे श्री उमास्वामीने तत्त्वार्थ सूत्रमें उपभोग परिमाण व्रतके निम्नानुसार पाँच अतिचार दिये हैं :—

सचित्तसम्बन्धसम्मिश्राभिषवदुःपक्वाहाराः ॥ अ ७/३०५

सचित्त, सचित्तसंबंध, सचित्तमिश्र, अभिषव और दुःपक्व—ये पाँच अतिचार हैं।

(१) सचित्ताहार :—जीव सहित पुष्प–फलादिका आहार करना।

(२) सचित्त संबंधाहार :—सचित्त वस्तुओंसे स्पर्श हुए पदार्थोंका आहार करना।

(३) सचित्त संमिश्राहार :—सचित्त पदार्थोंके साथ मिश्र हुए पदार्थोंका आहार करना।

(४) आभिषव :—पुष्टिकारक पदार्थोंका आहार करना।

(५) दुःपक्वाहार :—अच्छी तरहसे नहीं पके पदार्थोंका आहार करना तथा जो पदार्थ बहुत मुश्किलसे लम्बे समयके बाद पचे (हजम हो) उनका आहार करना।

इस प्रकारसे श्री समन्तभद्रस्वामी विरचित उपासकाध्ययनकी
श्री प्रभाचन्द विरचित टीकाका तृतीय परिच्छेद पूर्ण हुआ।

४
शिक्षाव्रताधिकार

साम्प्रतं शिक्षाव्रतस्वरूपप्ररूपणार्थमाह—

देशावकाशिकं वा सामायिकं प्रोषधोपवासो वा।
वैयावृत्यं शिक्षाव्रतानि चत्वारि शिष्टानि॥९१॥

शिष्टानि प्रतिपादितानि। कानि? शिक्षाव्रतानि। कति? चत्वारि। कस्मात्? देशावकाशिकमित्यादिचतुःप्रकारसद्भावात्। वाशब्दोऽत्र [1]परस्परप्रकारसमुच्चये।

अब शिक्षाव्रतके स्वरूपकी प्ररूपणाके लिऐ कहते हैं—

श्लोक ९१
चार शिक्षाव्रतोंके नाम[2]

अन्वयार्थ—[देशावकाशिकम्] देशावकाशिक [वा] तथा [सामायिकम्] सामायिक [प्रोषधोपवासः] प्रोषधोपवास [वा] और [वैयावृत्यम्] वैयावृत्य ये [चत्वारि] चार [शिक्षाव्रतानि] शिक्षाव्रत [शिष्टानि] कहे गये हैं॥९१॥

टीकार्थ—श्लोकमें जो 'वा' शब्द है वह परस्परके समुच्चय अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। शिक्षाव्रतके चार प्रकार कहे गये हैं—१ देशावकाशिक, २ सामायिक, ३ प्रोषधोपवास और

---

१. परस्परसमुच्चये घ०।

२. 'तत्त्वार्थसूत्र' और 'पुरुषार्थसिद्धि-ऊपाय' आदि ग्रंथोंमें तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत निम्नानुसार हैं—

गुणव्रत—१. दिग्व्रत, २. देशव्रत, ३. अनर्थदंडव्रत.

शिक्षाव्रत—१. सामायिक, २. प्रोषधोपवास, ३. भोगोपाभोगपरिमाण और ४. अतिथिसंविभाग-व्रत (वैयावृत).

रत्नकरण्ड श्रावकाचारमें देशव्रतको शिक्षाव्रतमें लिया है और भोगोपभोगपरिमाणको गुणव्रतमें लिया है।

देशावकाशिकादीनां लक्षणं स्वयमेवाग्रे ग्रन्थकारः करिष्यति॥९१॥

तत्र देशावकाशिकस्य तावल्लक्षणं—

देशावकाशिकं स्यात्कालपरिच्छेदनेन देशस्य।
प्रत्यहमणुव्रतानां प्रतिसंहारो विशालस्य॥९२॥

देशावकाशिकं देशे मर्यादीकृतदेशमध्येऽपि स्तोकप्रदेशेऽवकाशो नियतकालमवस्थानं सोऽस्यास्तीति देशावकाशिकं शिक्षाव्रतं स्यात्। कोऽसौ? प्रतिसंहारो व्यावृत्तिः। कस्य? देशस्य। कथंभूतस्य? विशालस्य बहोः। केन? कालपरिच्छेदनेन दिवसादिकालमर्यादया। कथं? प्रत्यहं प्रतिदिनं। केषां? अणुव्रतानां अणूनि सूक्ष्माणि व्रतानि येषां तेषां

---

४ वैयावृत्य। इन सबके स्वरूप ग्रन्थकार स्वयं ही आगे कहेंगें।

भावार्थ :—जिससे मुनिव्रत पालनेकी शिक्षा मिले उसे शिक्षाव्रत कहते हैं उसके चार प्रकार हैं—

(१) देशावकाशिक (२) सामायिक (३) प्रोषधोपवास (४) वैयावृत्य ॥९१॥

प्रथम देशावकाशिक (शिक्षाव्रत)का लक्षण कहते हैं—

श्लोक ९२

देशावकाशिक नाम शिक्षाव्रत

अन्वयार्थ—[विशालस्य देशस्य] "दिग्व्रतमें प्रमाण किये हुए" विशाल प्रदेशका [कालपरिच्छेदनेन] कालकी मर्यादा करके [प्रत्यहं] प्रत्येक दिन [प्रतिसंहारः] त्याग करना यह [अणुव्रतानाम्] अणुव्रतको धारण करनेवाले पुरुषोंका [देशावकाशिकम्] देशावकाशिक नामका शिक्षाव्रत [स्यात्] होता है।

टीकार्थ—मर्यादित देशमें नियत काल तक रहना देशावकाश कहलाता है। यह देशावकाश जिस व्रतका प्रयोजन है उसे देशावकाशिक व्रत कहते हैं। दिग्व्रत नामक गुणव्रतमें जीवनपर्यन्तके लिये जो विशाल क्षेत्र निश्चित किया था उसमें एक दिन, एक पहर आदि कालकी मर्यादा लेकर और भी संकोच करना देशावकाशिक शिक्षाव्रत कहलाता है। यह व्रत अणुव्रतके धारक श्रावकोंके होता है। **'अणूनि सूक्ष्माणि व्रतानि येषां ते अणुव्रताः**

श्रावकाणामित्यर्थः ॥९२॥

अथ देशावकाशिकस्य का मर्यादा इत्याह—

गृहहारिग्रामाणां क्षेत्रनदीदावयोजनानां च।
देशावकाशिकस्य स्मरन्ति सीम्नां तपोवृद्धाः ॥९३॥

तपोवृद्धाश्चिरन्तनाचार्या गणधरदेवादयः। सीम्नां स्मरन्ति मर्यादाः प्रतिपाद्यन्ते। सीम्नामित्यत्र ''[1]स्मृत्यर्थदयीशां कर्म'' इत्यनेन षष्ठी। केषां सीमाभूतानां ? गृहहारिग्रामाणां

तेषाम्' इस प्रकार समास करनेसे अणुव्रतका अर्थ श्रावक हो जाता है।

भावार्थ :—दिग्व्रतमें जीवन पर्यंत करी हुई विशाल क्षेत्रकी मर्यादाको प्रतिदिन कालविभागसे घटा करके, संकुचित क्षेत्रकी मर्यादासे बाहरके क्षेत्रमें गमनागमनादि व्यवहारिक प्रवृत्ति का त्याग करना वह अणुव्रतधारी श्रावकोंका देशावकाशिक शिक्षाव्रत है। इसे देशव्रत भी कहते हैं।

देशव्रतमें घटाई गई मर्यादाके बाहर नियतकाल तक गमनागमनादि प्रवृत्ति नहीं होनेसे तथा इच्छाका निरोध होनेसे द्रव्यहिंसा और भावहिंसासे रक्षा होती है। और वहाँ भोगोपभोगकी निवृत्ति होनेंसे पाँच पापोंका सर्वथा त्याग हो जाता है। इसलिए देशव्रतीको मर्यादा बाहर कुछकाल तक उपचारसे महाव्रत है। ९२.

अब देशावकाशिक (शिक्षाव्रत)की क्या मर्यादा है वह कहते हैं :—

श्लोक ९३
देशावकाशिक व्रतके क्षेत्रकी मर्यादा

अन्वयार्थ—[तपोवृद्धाः] तपसे वृद्ध ऐसे गणधरदेवादिक [देशावकाशिकस्य] देशावकाशिकव्रतकी [गृहहारिग्रामाणाम्] घर, गली, गांव [च] और [क्षेत्रनदीदावयोजनानाम्] खेत, नदी, वन तथा योजनरूप [सीम्नां] सीमा [स्मरन्ति] कहते हैं।

टीकार्थ—**'तपसा वृद्धास्तपोवृद्धा'** : इस व्युत्पत्तिके अनुसार जो तपसे वृद्ध हैं ऐसे गणधरदेवादिक चिरन्तन–प्राचीन आचार्योंका ग्रहण होता है। उन्होंने देशावकाशिकव्रतकी सीमाएँ बतलाते हुए मर्यादाके रूपमें घर, छावनी, ग्राम, खेत, नदी, वन अथवा योजनका सीमारूपमें स्मरण किया है। 'सीम्नाम्' यहाँ पर कर्म अर्थमें **'स्मृत्यर्थदयीशां कर्म'** इस

---

१. 'अधीगर्थदयेशां कर्मणि' पाणिनीय सूत्र।

हारिः कटकं। तथा क्षेत्रनदी दावयोजनानां च दावो वनं। कस्यैतेषां सीमाभूतानां? देशावकाशिकस्य देशनिवृत्तिव्रतस्य ॥९३॥

एवं द्रव्याविधं योजनावधिं चास्य प्रतिपाद्य कालावधिं प्रतिपादयन्नाह—

संवत्सरमृतुमयनं मासचतुर्मासपक्षमृक्षं च।
देशावकाशिकस्य प्राहुः कालावधिं प्राज्ञाः ॥९४॥

सूत्रसे षष्ठी विभक्तिका प्रयोग हुआ है। सूत्रका अर्थ इस प्रकार है—स्मृत्यर्थक धातुएँ तथा दय और ईश धातुके कर्ममें षष्ठी विभक्ति होती है।

भावार्थ :—देशावकाशिक व्रतमें आवागमनादि क्षेत्रकी मर्यादा, कालके विभागसे कोई प्रसिद्ध घर, गली (शिविर), गाम, क्षेत्र, नदी, वन और इतने योजन (तक) द्वारा करनेमें आती है—ऐसा गणधरादिक कहते हैं। यह मर्यादा स्वयंकी आवश्यकतानुसार प्रतिदिन यथाशक्ति करनेमें आती है।

दिग्व्रतमें मर्यादित क्षेत्र विशाल होता है और इस क्षेत्रसे बाहर मन–वचन–कायादिकी प्रवृत्तिका त्याग जीवनपर्यंत होता है, जब कि देशव्रतमें मर्यादित किया गया क्षेत्र बहुत छोटा होता है और इस छोटे क्षेत्रसे बाहर आवागमनादि तथा मन–वचन–कायकी प्रवृत्तिका त्याग कुछ दिन, महिनादिके काल विभागसे किया जाता है। दिग्व्रतकी अपेक्षा देशव्रतमें पापविरतिका क्षेत्र बहुत विशाल होता है। दिग्व्रतमें हिंसादि पापकी विरति जीवन पर्यंत होती है, जब कि देशव्रतमें पापकी विरति (त्याग) अमुक कालकी मर्यादासे होती है, इतना दोनोंमें फर्क होता है। ९३.

इस प्रकार (देशावकाशिक व्रतकी) द्रव्यावधि और योजनावधिका प्रतिपादन करके (अब) कालावधिका प्रतिपादन करके कहते हैं :—

श्लोक ९४
देशावकाशिक व्रतके कालकी मर्यादा

अन्वयार्थ—[प्राज्ञाः] पण्डित पुरुषोंने [संवत्सरम्] एक वर्ष [ऋतुः] दो महिना [अयनम्] छह महिना [मासचतुर्मासपक्षम्] एक महिना,चार महिना, एक पक्ष [च] और [ऋक्षम्] चन्द्रनक्षत्र अथवा सूर्यनक्षत्र यह [देशावकाशिकस्य] देशावकाशिकव्रतकी [कालावधिम्] कालमर्यादा [प्राहुः] कही है।

देशावकाशिकस्य कालावधिं कालमर्यादां प्राहुः। के त? प्राज्ञाः गणधरदेवादयः। किं तदित्याह संवत्सरमित्यादि—संवत्सरं यावदेतावत्येव देशे मयाऽवस्थातव्यं। तथा ऋतुमयनं वा यावत्। तथा मासचतुर्मासपक्षं यावत्। ऋक्षं च चन्द्रभुक्त्या आदित्यभुक्त्या वा इदं नक्षत्रं यावत्॥९४॥

एवं देशावकाशिकव्रते कृते सति ततः परतः किं स्यादित्याह—

सीमान्तानां परतः स्थूलेतरपञ्चपापसंत्यागात्।
देशावकाशिकेन च महाव्रतानि प्रसाध्यन्ते॥९५॥

टीकार्थ—देशावकाशिक व्रतमें कालकी मर्यादा बताते हुए गणधरदेवादिकने एक वर्ष, एक ऋतु, एक अयन, एक माह, चार माह, एक पक्ष अथवा एक नक्षत्रको कालावधि कहा है। अर्थात् संवत्सर आदिकी सीमा लेकर देशावकाशिक व्रतमें यातायातका क्षेत्र निश्चित किया जाता है। ऋक्ष—नक्षत्र दो प्रकारके होते हैं—एक चन्द्रभुक्तिकी अपेक्षा और दूसरे सूर्यभुक्तिकी अपेक्षा। चन्द्रभुक्तिकी अपेक्षा अश्विनी, भरणी आदि नक्षत्र प्रतिदिन बदलते रहते हैं अर्थात् एक दिनमें एक नक्षत्र रहता है और सूर्यभुक्तिकी अपेक्षा एकवर्षमें अश्विनी आदि सत्ताईस नक्षत्र क्रमसे परिवर्तित होते हैं। संवत्सर आदिका अर्थ स्पष्ट है।

भावार्थ :—देशावकाशिक व्रतमें कालकी मर्यादा, एक वर्ष (दो वर्ष आदि), दो मास (वसन्त, हेमन्त आदि छः ऋतु), छः मास (अयन–उत्तरायण और दक्षिणायन) मास चातुर्मास (वर्षाकाल, शीतकाल और उष्णकाल) पक्ष (शुक्ल और कृष्ण) और ऋक्ष (नक्षत्र) तक यथाशक्ति हररोज किया जाता है।

इस प्रकार देशावकाशिक व्रत किया जाने पर उसकी मर्यादासे बाहर क्या होता है? वह कहते हैं :—

श्लोक ९५
देशावकाशिक शिक्षाव्रतकी सार्थकता

अन्वयार्थ—[सीमान्तानां परतः] देशावकाशिकव्रतकी मर्यादाके बाहिर [स्थूलेतरपंचपापसंत्यागात्] स्थूल और सूक्ष्म पांच पापोंका त्याग हो जानेसे [देशावकाशिकेन च] देशावकाशिक व्रतके द्वारा भी [महाव्रतानि] पांच महाव्रत [प्रसाध्यन्ते] साधित होते हैं॥९५॥

प्रसाध्यन्ते व्यवस्थाप्यन्ते। कानि? महाव्रतानि। केन? देशावकाशिकेन च न केवलं दिग्विरत्यापितु देशावकाशिकेनापि। कुतः? स्थूलेतरपंचपापसंत्यागात् स्थूलेतराणि च तानि हिंसादिलक्षणपंचपापानि च तेषां सम्यक् त्यागात्। क्व? सीमान्तानां परतः देशावकाशिकव्रतस्य सीमाभूता ये 'अन्ताधर्मा' गृहादयः संवत्सरादिविशेषाः तेषां वा अन्ताः पर्यन्तास्तेषां परतः परस्मिन् भागे॥९५॥

इदानीं तदतिचारान् दर्शयन्नाह—

प्रेषणशब्दानयनं रूपाभिव्यक्तिपुद्गलक्षेपौ।
देशावकाशिकस्य व्यपदिश्यन्तेऽत्ययाः पञ्च॥९६॥

टीकार्थ—देशावकाशिकव्रतमें जो क्षेत्र और कालकी अपेक्षा सीमाएँ निर्धारित की गई हैं उनके आगे हिंसादि पाँच पापोंका स्थूल तथा सूक्ष्म दोनों प्रकारसे परित्याग हो जाता है इसलिये दिग्व्रतके समान देशावकाशिकव्रतके द्वारा भी महाव्रतोंकी साधना की जाती है।

भावार्थ :—देशावकाशिक व्रतकी क्षेत्र–मर्यादासे बाहर दिग्व्रतकी तरह देशव्रतीको भी स्थूल और सूक्ष्म दोनो प्रकारके पापोंका अभाव होनेसे उसका देशव्रत मर्यादा बाहर महाव्रत जैसा हो जाता है–अर्थात् उसका देशव्रत मर्यादा बाहर उपचारसे महाव्रत है, परंतु साक्षात् महाव्रत नहीं है, क्योंकि उसे महाव्रतके भावको घातनेमें निमित्तरूप प्रत्याख्यानावरण कषायका सद्भाव है।

''जिस मनुष्यने जीवनपर्यंत दक्षिणमें कन्याकुमारी और उत्तरमें हिमालय तक दिग्व्रतकी मर्यादा की है, वह हंमेशा तो हिमालय या कन्याकुमारी जाता नहीं है, अतः वह प्रतिज्ञा करता है कि 'मैं इतने दिन तक भावनगरमें ही रहूँगा, इसके बाहर नहीं जाऊँगा। तो उतने समय तक भावनगरकी हदसे बाहरके प्रदेशमें अहिंसाका सभी प्रकारसे पालन होनेसे उसे देशावकाशिक व्रत उपचारसे महाव्रत नाम पाता है। ९५.

अब देशावकाशिक व्रतके अतिचार दर्शाते हुए कहते हैं :—

श्लोक ९६
देशावकाशिक शिक्षाव्रतके अतिचार

अन्वयार्थ—[प्रेषणशब्दानयनम्] प्रेषण–''मर्यादाके बाहिर दूसरेको किसी निमित्तसे भेजना'' शब्द–''मर्यादाके बाहिर काम करनेवालोंको कामके लिए खकारना आदि'' आनयन—

अत्यया अतिचाराः। पंच व्यपदिश्यन्ते कथ्यन्ते। के ते? इत्याह— प्रेषणेत्यादिमर्यादीकृते देशे स्वयं स्थितस्य ततो बहिरिदं कुर्विति विनियोगः प्रेषणं। मर्यादीकृतदेशाद्बहिर्व्यापारं कुर्वतः कर्मकरान् प्रति खात्करणादिः शब्दः। तद्देशाद्बहिः प्रयोजनवशादिदमानयेत्याज्ञापनमानयनं। मर्यादीकृतदेशे स्थितस्य बहिर्देशे कर्म कुर्वतां कर्मकरणां स्वविग्रहप्रदर्शनं रूपाभिव्यक्तिः। तेषामेव लोष्टादिनिपातः पुद्गलक्षेपः॥९६॥

''मर्यादाके बाहिरसे कोई वस्तु मंगवाना'' [रूपाभिव्यक्तिपुद्गलक्षेपौ] रूपाभिव्यक्ति— ''मर्यादाके बाहिर काम करनेवालेको संकेत करना'' पुद्गलक्षेप–''मर्यादाके बाहिर काम करनेवालेको कंकर आदि फेंकना'' ये [पंच] पांच [देशावकाशिकस्य] देशावकाशिकव्रतके [अत्ययाः] अतिचार [व्यपदिश्यंते] कहे जाते हैं॥९६॥

टीकार्थ—स्वयं मर्यादित देशमें रहकर 'तुम यह काम करो' इस प्रकार कहकर दूसरेको मर्यादाके बाहर भेजना **प्रेषण** नामका अतिचार है। मर्यादाके बाहर कार्य करने वाले कार्यकर्ताओंके प्रति खकार या खाँसी आदिका शब्द करना **शब्द** नामका अतिचार है। मर्यादासे बाह्य क्षेत्रमें रहने वाले लोगोंको प्रयोजनवश यह आज्ञा देना कि तुम अमुक वस्तु लाओ **आनयन नामका** अतिचार है। स्वयं मर्यादित क्षेत्रके भीतर स्थित रहकर बाह्य क्षेत्रमें काम करने वाले लोगोंको अपना शरीर दिखलाना **रूपाभिव्यक्ति** नामका अतिचार है और उन्हीं लोगोंको लक्ष्य कर कंकड़ पत्थर आदि फेंकना **पुद्गलक्षेप** नामका अतिचार है। देशावकाशिकव्रतके ये पाँच अतिचार कहे जाते हैं।

भावार्थ :—देशावकाशिक व्रतके पाँच अतिचार :—

(१) प्रेषण :—'यह करो' ऐसा कहकर किसीको मर्यादासे बाहर भेजना।

(२) शब्द :—मर्यादासे बाहर काम करते नौकरको ताली, खांसी आदिके शब्द करके इशारा करना।

(३) आनयन :—'यह लाओ'—ऐसा कहके मर्यादासे बाहरकी कोई वस्तु मंगवाना।

(४) रूपाभिव्यक्ति :—मर्यादासे बाहर काम करते व्यक्तिको स्वयंका शरीर आदि बताकर सूचना करनी।

(५) पुद्गलक्षेप :—मर्यादासे बाहर काम करते व्यक्तियोंको इशारा करनेके लिए कंकर, पत्थर आदि फेंकना।

स्वयं मर्यादाके अंदर खड़ा रहे, परंतु मर्यादासे बाहर जो व्यक्ति काम करते हैं उनसे इशारा करे या उनके साथ इस प्रकार संबंध रखे वह अतिचार है, अर्थात् व्रतका एकदेश भंग है।

एवं देशावकाशिकरूपं शिक्षाव्रतं व्याख्यायेदानीं सामायिकरूपं तद्व्याख्यातुमाह—

आसमयमुक्ति मुक्तं पञ्चाघानामशेषभावेन।
सर्वत्र च सामायिकाः सामायिकं नाम शंसन्ति॥९७॥

सामयिकं नाम स्फुटं शंसन्ति प्रतिपादयन्ति। के ते? सामयिकाः समयमागमं विन्दन्ति ये ते सामायिका गणधरदेवादयः। किं तत्? मुक्तं मोचनं परिहरणं यत् तत् सामयिकं। केषां मोचनं? पंचाघानां हिंसादिपंचपापानां। कथं? आसमयमुक्ति वक्ष्यमाणलक्षणसमयमोचनं आ समन्ताद्व्याप्य गृहीतनियमकालमुक्तिं यावदित्यर्थः। कथं तेषां मोचनं? अशेषभावेन सामस्त्येन न पुनर्देशतः। सर्वत्र च अवधेः परभागे अपरभागे च। अनेन देशावकाशिकादस्य भेदः प्रतिपादितः॥९७॥

इस प्रकारसे देशावकाशिकरूप शिक्षाव्रतका व्याख्यान करके अब सामायिक रूप शिक्षाव्रतका व्याख्यान करते हैं—

श्लोक ९७
सामायिक शिक्षाव्रतका स्वरूप

अन्वयार्थ—[आसमयमुक्ति] सामायिकके लिये निश्चित किया हुआ समय तक [सर्वत्र] सर्वजगह [पंचाधानाम्] पांच पापोंका [अशेषभावेन] संपूर्णरूपसे [मुक्तम्] त्याग करनेको [सामायिकाः] शास्त्रके जाननेवाले गणधर देवादिक [सामायिकं नाम] सामायिक [शसन्ति] कहते हैं॥९७॥

टीकार्थ—किसी समयकी अवधि लेकर उतने समय तक मर्यादाके भीतर और बाहर दोनों जगह सम्पूर्णरूपसे हिंसादि पाँच पापोंका त्याग करना सामायिक नामका शिक्षाव्रत कहलाता है। देशावकाशिकव्रतमें मर्यादाके बाह्यक्षेत्रमें पाँच पापोंका त्याग होता है, मर्यादाके भीतर नहीं। परन्तु सामायिकशिक्षाव्रतके भीतर और बाहर दोनों क्षेत्रोंमें उनका त्याग होता है। अतः उसकी अपेक्षा सामायिक शिक्षाव्रतमें भेद है। श्लोकमें जो 'मुक्त' शब्द है उसमें भाववाचक 'क्त' प्रत्यय हुआ है इसलिये 'मुक्त' का अर्थ 'मोचन' छोड़ना होता है। 'आसमयमुक्ति' यह उसका विशेषण है।

भावार्थ :—सामायिकके समय की हुई मर्यादाके अंदर और बाहर–सर्वत्र (सभी जगह) सामायिकके लिए निश्चित किये हुये समय तक, हिंसादि पाँचो पापोंका मन–वचन–काय

आसमयमुक्तीत्यत्र यः समयशब्दः प्रतिपादितस्तदर्थं व्याख्यातुमाह—

मूर्धरुहमुष्टिवासोबन्धं पर्य्यङ्कबन्धनं चापि।
स्थानमुपवेशनं वा समयं जानन्ति समयज्ञाः॥९८॥

और कृत–कारित–अनुमोदनासे किये हुए त्यागको गणधरादि देव सामायिक शिक्षाव्रत कहते हैं। स्वयं की हुई मर्यादासे भी सामायिकके निश्चितकाल तक भोगोपभोगका सर्वथा त्याग करनेसे सामायिक व्रतधारी श्रावक भी मुनिवत् पाँच पापोसे सर्वथा रहित हो जाता है। सामायिक व्रतमें हिंसादि पाँचो पापोंका सर्वथा त्याग होता है और रागद्वेषके त्यागरूप सर्व प्राणियोंके प्रति सौम्यभाव होता है, इसलिए कहा है कि—

'समता सर्वभूतेषु संयमे शुभभावना। आर्त्तरौद्रपरित्यागस्तद्धि सामायिकं व्रतम्॥'

सभी प्राणियोंके प्रति समताभाव, संयम, (इन्द्रिय, संयम और प्राणीसंयम) शुभ–भावना और आर्त तथा रौद्र परिणामोंका त्याग वह सामायिक व्रत है।

''राग–द्वेषके त्यागसे सभी इष्ट–अनिष्ट पदार्थोंमें साम्यभावको अंगीकार करके आत्मतत्त्वकी प्राप्तिका मूल कारण सामायिक है वह बारम्बार करना उसे सामायिक शिक्षाव्रत कहते हैं।'' सम मतलब एकरूप और 'अय' मतलब आत्माके स्वरूपमें गमन वह समय हुआ। ऐसा समय जिसका प्रयोजन है उसे सामायिक कहते है। यह सामायिक समताभाव बिना नहीं हो सकता।'' ९७.

''आसमयमुक्तिः'' यहाँ जो समय शब्द कहा है उसके अर्थका व्याख्यान करते हुए कहते हैं :—

श्लोक ९८
सामायिक करनेकी विधि

[1]अन्वयार्थ—[समयज्ञाः] शास्त्रके जाननेवाले पण्डित गण [मूर्धरुहमुष्टिवासोबन्धम्] केश बांधनेका, मुठी बांधनेका, वस्त्र बांधनेका [पर्य्यङ्कबन्धनं] पर्यंकासन [चापि] तथा [स्थानम्] ऊर्ध्व कायोत्सर्ग [वा] अथवा [उपवेशनम्] सामान्य स्थितासन इन सबको [समयम्]

---

१. भावार्थ—सामायिक करनेवाला कालकी मर्यादा प्रमाण समस्त प्रकारके पापोंका त्यागकर खड़ा होकर अथवा पद्मासनमें बैठकर अपने बांये हाथके उपर दाहिने हाथका स्थापन करे। अपने मस्तकके केश या वस्त्र हिलते हों तो परिणाममें विक्षेप हो इसलिये मस्तक पर चोटी आदिके केश बांध ले तथा वस्त्र भी बिखर रहे हों तो उसकी भी गांठ बांधकर, खड़े होकर अथवा पद्मासनसे बैठकर सामायिक करें। –पं. सदासुखदासजी

समयज्ञा आगमज्ञाः। समयं जानन्ति। किं तत्? मूर्धरुहमुष्टिवासोबन्धं, बन्धशब्दः प्रत्येकमभिसम्बद्ध्यते मूर्धरूहाणां केशानां बन्धं बन्धकालं समयं जानन्ति। तथा मुष्टिबन्धं वासोबन्धं वस्त्रग्रन्थि पर्यङ्कबन्धनं चापि उपविष्टकायोत्सर्गमपि च स्थानमूर्ध्वकायोत्सर्ग उपवेशनं वा सामान्येनोपविष्टावस्थानमपि समयं जानन्ति॥९८॥

एवंविधे[1] समये भवत् यत्सामायिकं पंचप्रकारपापात् साकल्येन व्यावृत्तिस्वरूपं तस्योत्तरोत्तरा वृद्धिः कर्तव्येत्याह—

एकान्ते सामायिकं निर्व्याक्षेपे वनेषु वास्तुषु च।
चैत्यालयेषु वापि च परिचेतव्यं प्रसन्नधिया॥९९॥

समय [जानान्ति] जानते हैं अर्थात् कहते हैं॥९८॥

टीकार्थ—मूर्धरुह, मुष्टि और वासस् इन तीन शब्दोंका द्वन्द्वसमास हुआ है। **'द्वन्द्वान्ते द्वन्द्वादौ वा श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बन्ध्यते'** इस नियमके अनुसार यहाँ द्वन्द्वके अन्तमें श्रूयमाण बन्ध शब्दका सम्बन्ध प्रत्येक शब्दके साथ होता है। अतः मूर्धरुहबन्ध, मुष्टिबन्ध और वासोबन्ध ये तीन शब्द निष्पन्न हुए हैं। बन्धनका अर्थ बन्धका काल है। इसी तरह पर्यङ्कबन्धन, स्थान और उपवेशनमें भी उनसे कालका ज्ञान ग्राह्य है। जब तक चोटीमें गाँठ लगी है, मुट्ठी बँधी है, वस्त्रमें गाँठ लगी है, पालथी बाँध कर बैठा हूँ, कायोत्सर्ग मुद्रासे खड़ा हूँ अथवा पद्मासनसे बैठा हूँ तब तक सामायिक करूँगा, ऐसी प्रतिज्ञा सामायिक करनेवाला करता है। इसलिये इन सबमें जो काल लगता है वही सामायिकका काल कहलाता है।

भावार्थ :—जहाँतक चोटीमें गांठ (बंधन) रहे, मुट्ठी बंधी हुई रहे, वस्त्रमें गांठ रहे, पर्यंकासन–पद्मासन रहे और खड्गासन रहे वहाँ तकके कालको ज्ञानी पुरुष सामायिकका समय कहते हैं। ९८.

ऐसे प्रकारके समयमें, पाँच प्रकारके पापोसे सर्वथा व्यावृत्तिरूप जो सामायिक होता है उसमें उत्तरोत्तर वृद्धि करनी चाहिए ऐसा कहते हैं :—

श्लोक ९९
सामायिक करने योग्य स्थानका निर्देश

अन्वयार्थ—[वनेषु] वन [च] तथा [वास्तुषु] घर [वापि] अथवा [चैत्यालयेषु]

---

१. एवंविधसमये घ।

परिचेतव्यं वृद्धिं नेतव्यं। किं तत्? सामायिकं। क्व? एकान्ते [1]स्त्रीपशुपाण्डुकिविवर्जिते प्रदेशे। कथंभूते? निर्व्याक्षेपे चित्तव्याकुलतारहिते शीतवातदंशमशकादिबाधावर्जित इत्यर्थः इत्थंभूते एकान्ते। क्व? वनेषु अटवीषु, वास्तुषु च गृहेषु, चैत्यालयेषु च अपिशब्दाद्गिरिगह्वरादिपरिग्रहः। केन चेतव्यं? प्रसन्नधिया प्रसन्ना अविक्षिप्ता धीर्यस्यात्मनस्तेन अथवा प्रसन्नासौ धीश्च तया कृत्वा आत्मना परिचेतव्यमिति॥९९॥

इत्थंभूतेषु स्थानेषु कथं तत्परिचेतव्यमित्याह—

चैत्यालय आदि [निर्व्याक्षेपे] चित्तकी व्याकुलता रहित [एकान्ते] एकान्त–निर्जन स्थानमें [प्रसन्नधिया] निर्मल बुद्धि श्रावकको [सामायिकम्] सामायिक [परिचेतव्यम्] बढ़ाना चाहिए॥९९॥

टीकार्थ—पूर्व श्लोकमें सामायिकका काल बताया था। इस श्लोकमें सामायिकका क्षेत्र बताया जा रहा है। सर्वप्रथम सामायिकके लिए एकान्त स्थान होना चाहिये। एकान्तका अर्थ है जो स्त्री, पशु तथा नपुंसकोंसे रहित हो। फिर निर्व्याक्षेप स्थान होना चाहिये अर्थात् जिसमें शीत वायु तथा डांश–मच्छर आदिका उपद्रव न हो, ऐसा स्थान अटवियों, अपने मकानों, मन्दिरों अथवा पर्वतोंकी गुफा आदिमें कहीं भी हो, वहाँ प्रसन्नचित्त होकर सामायिक करना चाहिये।

'प्रसन्नधिया' शब्दमें प्रसन्ना धीर्यस्य स प्रसन्नधीस्तेन' इस प्रकार बहुव्रीहि समास और 'प्रसन्ना चासौ धीश्च इति प्रसन्नधीस्तया' इस प्रकार कर्मधारय समास भी होता है। बहुव्रीहिसमासके पक्षमें 'प्रसन्नधिया आत्मना' इस प्रकार विशेष्यकी कल्पना ऊपरसे करनी चाहिये और कर्मधारयसमासके पक्षमें 'प्रसन्नधिया' पदका हेतुरूपसे व्याख्यान करना चाहिये।

भावार्थ :—डांस–मच्छर आदि परिषहके उपद्रवरहित स्थानमें, स्त्री–पशु–नपुंसक आदिसे रहित एकान्तमें, वनमें, एकान्त घरमें या धर्मशालामें, चैत्यालयोंमें और पर्वतकी गुफा आदिमें प्रसन्न (एकाग्र) चित्तसे सामायिक करना चाहिए और सदा उसकी वृद्धि करनी चाहिए। ९९.

इस प्रकारके स्थानोंमें सामायिकको किस प्रकार बढ़ाना वह कहते हैं :—

---

१. 'वाय्वग्निदोषाद् वृषणौ तु यस्य नाशं गतौ वातकपाण्डुकिः सः' इति पाण्डुकिलक्षणम्।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ - ३६४२५०

व्यापारवैमनस्याद्विनिवृत्त्यामन्तरात्मविनिवृत्त्या।
सामयिकं बध्नीयादुपवासे [1]चैकभुक्ते वा॥१००॥

बध्नीयादनुतिष्ठेत्। किं तत्? सामयिकं। कस्यां सत्यां? विनिवृत्त्यां। कस्मात्? व्यापारवैमनस्यात् व्यापारः कायादिचेष्टा वैमनस्यं मनोव्यग्रता चित्तकालुष्यं वा तस्माद्विनिवृत्यामपि सत्यां अन्तरात्मविनिवृत्या कृत्वा तद्बध्नीयात् अन्तरात्मनो मनोविकल्पस्य विशेषेण निवृत्या। कस्मिन् सति तस्यां तया तद्बध्नीयात्? उपवासे चैकभुक्ते वा॥१००॥

श्लोक १००
एकान्त स्थानमें सामायिक कैसे करनी चाहिए

अन्वयार्थ—[व्यापारवैमनस्यात्] कायादिक चेष्टा और चित्तकी कलुषिता इनसे [विनिवृत्त्याम्] निवृत्त हो जाने पर [अन्तरात्मविनिवृत्यः] अन्तरात्माको (मन)के विकल्पोंसे विशेषरूपसे दूर करके [उपवासे] उपवासके दिन (वा) अथवा (एकभुक्ते च) एकाशनके दिन [सामायिकम्] सामायिक [बध्नीयात्] करना चाहिए॥१००॥

टीकार्थ—पिछले दो श्लोकोंमें सामायिकके योग्य काल और क्षेत्रकी चर्चा कर चुकनेके बाद इस श्लोकमें सामायिकके योग्य भावकी चर्चा की जा रही है। सामायिक किस भावमें किस समय बढ़ायी जा सकती है? इसका उत्तर देते हुए कहा गया है कि व्यापार—शरीर और वचनकी चेष्टा तथा वैमनस्य—मनकी व्यग्रता अथवा मनकी कलुषतासे विनिवृत्ति होनेपर अन्तरात्माको—मानसिक विकल्पोंसे विशिष्टरूपसे दूर करते हुए उपवास और एकाशनके दिन विशेष रूपसे सामायिकको बढ़ाना चाहिये। यहाँ चकारका ग्रहण किया है उससे अन्य समयोंका भी समुच्चय होता है अर्थात् उपवास और एकाशनके सिवाय अन्य दिनोंमें भी सामायिकको बढ़ाना चाहिये।

भावार्थ :—मन–वचन–कायकी प्रवृत्ति और मनकी व्यग्रतासे निवृत्त होने पर, मनके विकल्पोंको रोककर उपवास या एकाशनके दिन विशेष विधीसे सामायिक करना चाहिए जिससे उसकी वृद्धि हो। "वह सामायिक रात्री और दिनके अंतमें एकाग्रतापूर्वक अवश्य करना चाहिए, और जो अन्य समय करनेमें आये तो वह सामायिक कार्य दोषका हेतु नहीं, लेकिन वह गुणके लिए ही होता है।" १००

---

१. चैकभक्ते वा घ।

Shri Digambar Jain Swadhyay Mandir Trust, Songadh - 364250

इत्थंभूतं तत्किं कदाचित्परिचेतव्यमन्यथा चेत्यत्राह—

सामयिकं प्रतिदिवसं यथावदप्यनलसेन चेतव्यं।
व्रतपञ्चकपरिपूरणकारणमवधानयुक्तेन ॥१०१॥

चेतव्यं वृद्धिं नेतव्यं। किं? सामायिकं। कदा? प्रतिदिवसमपि न पुनः कदाचित् पर्वदिवस एव। कथं? यथावदपि प्रतिपादितस्वरूपानतिक्रमेणैव। कथंभूतेन? अनलसेनाऽऽलस्यरहितेन उद्यतेनेत्यर्थः। तथाऽवधानयुक्तेनैकाग्रचेतसा। कुतस्तदित्थं परिचेतव्यं? व्रतपंचकपरिपूरणकारणं यतः व्रतानां हिंसाविरत्यादीनां पंचकं तस्य परिपूरणत्वं महाव्रतरूपत्वं तस्य कारणं। यथोक्तसामायिकानुष्ठानकाले हि अणुव्रतान्यपि महाव्रतत्वं प्रतिपद्यन्तेऽतस्तत्कारणं ॥१०१॥

इस प्रकारका सामायिक कैसे कब करना चाहिए या अन्य प्रकार? वह अब कहते हैं :—

श्लोक १०१
हेतुपूर्वक सामायिक करनेका उपदेश

अन्वयार्थ—[व्रतपंचकपरिपूरणकारणम्] पांच व्रतोंकी पूर्तिका कारण [सामायिकम्] सामायिक [प्रतिदिवसम्] प्रत्येक दिवस [अनलसेन] आलस्य रहित तथा [अवधानयुक्तेन] एकाग्रचित्त होकर [यथावदपि] पूर्वोक्त विधिसे ही [चेतव्यम्] बढ़ाना चाहिए ॥१०१॥

टीकार्थ—पिछले श्लोकमें उपवास अथवा एकाशनके दिन सामायिकको बढ़ानेकी बात कही गई थी, इसलिये कोई ऐसा न समझ ले कि सामायिक उसी दिन करनेके योग्य है, अन्य दिनोंमें नहीं। इसका निराकरण करनेके लिये इस श्लोकमें कहा गया है कि सामायिक प्रतिदिन भी शास्त्रोक्त विधिसे करना चाहिये, क्योंकि यह सामायिक हिंसाविरति आदि पाँचों व्रतोंकी परिपूर्णता अर्थात् उनकी महाव्रतरूपताका कारण है। सामायिक करनेवाले पुरुषको आलस्यरहित तथा चित्तकी एकाग्रतासे युक्त होना चाहिये।

भावार्थ :—आलसरहित एकाग्रचित्तसे श्रावकके शास्त्रोक्त विधि अनुसार हररोज सामायिक करनी चाहिए, क्योंकि विधिपूर्वक करी हुई सामायिकके कालमें उसके अणुव्रत भी महाव्रतपनेको पाते हैं अर्थात् अणुव्रत भी उपचारसे महाव्रत हो जाते हैं। इसलिए सामायिक महाव्रतका कारण है।

एतदेव समर्थयमानः प्राह—

सामयिके सारम्भाः परिग्रहा नैव सन्ति सर्वेऽपि।
चेलोपसृष्टमुनिरिव गृही तदा याति यतिभावं॥१०२॥

सामयिके सामायिकावस्थायां। नैव सन्ति न विद्यन्ते। के? परिग्रहाः सङ्गाः। कथंभूताः। सारम्भाः कृष्याद्यारम्भसहिताः। कति? सर्वेऽपि बाह्याभ्यन्तराश्चेतनेतरादिरूपा

सामायिकके कालमें अणुव्रतीको हिंसादि पाँच पापोंका मुनिवत् सर्वथा त्याग होता है, जिससे उसके अणुव्रत महाव्रत सदृश हैं, परंतु साक्षात् महाव्रत नहीं है, क्योंकि महाव्रतका घातक प्रत्याख्यानावरण कषाय अभी विद्यमान है।

सामायिक करनेकी स्थूल विधि

".....श्रावकको दोनों समय (सुबह–शाम) अथवा तीन समय (सुबह–दोपहर–शाम) दो घड़ी, चार घड़ी या छः घडी तक पाँच पापका तथा आरंभ–परिग्रहका त्याग करके एकान्त स्थानमें मन शुद्ध करके पहले पूर्व दिशामें नमस्कार करना; फिर नौ बार नमस्कार मंत्रका जाप करना, फिर तीन आवर्तन करना, एक शिरोनति करना इस प्रकार चारो दिशाओंमें करके खड्गासन अथवा पद्मासन करके सामायिक करना और जब सामायिक पूर्ण हो जाए तब अंतमें भी शुरूआतकी तरह नौ बार नमस्कार मंत्रका जाप, तीन–तीन आवर्तन और एक–एक शिरोनति उसी तरह करना....." (सामायिक विधिके लिए देखो श्लोक—१३९ टीका)

इसका ही (सामायिक कालमें अणुव्रत महाव्रतपनेको प्राप्त होता है इसका ही) समर्थन करके कहते हैं :—

श्लोक १०२
सामायिकका महत्व

अन्वयार्थ—[सामायिके] सामायिकरूप अवस्थामें [सारम्भाः] कृषि आदि आरंभ सहित [सर्वेऽपि] बाह्य और अभ्यंतर सर्व प्रकारके [परिग्रहाः] परिग्रह [नैव] नहीं [संति] होते हैं [तदा] उस समय [गृही] गृहस्थ [चेलोपसृष्टमुनिः इव] कपड़ेके उपसर्गके कारण ढँके हुए मुनिकी तरह [यतिभावम्] मुनिपनेको [याति] प्राप्त होता है॥१०२॥

टीकार्थ—जब गृहस्थ सामायिकमें बैठता है तब उसके खेती आदिके आरम्भ से

वा। यत एवं ततो याति प्रतिपद्यते। कं? यतिभावं यतित्वं। कोऽसौ? गृही श्रावकः। कदा? सामायिकावस्थायां। क इव? चेलोपसृष्टमुनिरिव चेलेन वस्त्रेण उपसृष्टः उपसर्गवशाद्वेष्टितः स चासौ मुनिश्च स इव तद्वत्॥१०२॥

तथा सामायिकं स्वीकृतवन्तो ये तेऽपरमपि किं कुर्वन्तीत्याह—

शीतोष्णदंशमशकपरीषहमुपसर्गमपि च मौनधराः।
सामयिकं प्रतिपन्ना अधिकुर्वीरन्नचलयोगाः॥१०३॥

सहित बाह्य और अन्तरङ्ग तथा चेतन अचेतनके भेदसे सभी प्रकारके परिग्रह नहीं होते, इसलिये उस समय वह उपसर्गसे वस्त्र ओढ़ाये हुए मुनिके समान मुनिपनेको प्राप्त होता है।

भावार्थ :—सामायिकके समय सामायिक व्रतधारी श्रावकको सर्व प्रकारके आरंभ और अंतरंग तथा बहिरंग परिग्रहका सर्वथा अभाव होनेसे उपसर्गके कारण वस्त्रवेष्टित मुनि समान मुनिपनेको वह प्राप्त करता है। परिमित वस्त्रधारी अणुव्रती श्रावकको सामायिक कालमें सर्व आरंभ और परिग्रहका भावसे त्याग होता है। उस समय उसका चित्त धर्मध्यानके साधनोंमें मग्न होता है। पहने हुए वस्त्रों उपर मूर्च्छा नहीं होती। इसलिए उपसर्गके समय वस्त्र पहने हुए मुनि समान वह है। क्योंकि बाह्यमें दोनों वस्त्र सहित हैं, लेकिन ममत्वहीन हैं और अंतरंगमें दोनों आरंभ और परिग्रह भावसे रहित हैं।

''श्रावक जिस समय सामायिक कर रहा है, तब वास्तवमें उस समय उसकी अवस्था मुनि समान ही है। उसके परिणामोंमें और मुनिके परिणामोंमें विशेष फर्क नहीं होता है। भेद सिर्फ इतना ही है कि मुनि दिगंबर हैं और श्रावक वस्त्र सहित है। मुनि महाराजने प्रत्याख्यानावरण कषायका त्याग कर दिया है और श्रावकने अभी तक इस कषायका त्याग नहीं किया है। १०२.

तथा सामायिकको स्वीकृत करनेवाला जो गृहस्थ है वह दूसरा क्या करता है वह कहते हैं :—

श्लोक १०३
सामायिकमें परिषह सहनेका उपदेश

अन्वयार्थ—[मौनधराः] मौनको धारण करनेवाले तथा [अचलयोगाः] समाधिमें स्थिर ऐसे [सामायिकं प्रतिपन्नाः] सामायिकको प्राप्त हुए गृहस्थ [शीतोष्णदंशमशकपरीषहम्] शीत,

अधिकुर्वीरन् सहेरन्नित्यर्थः। के ते? सामयिकं प्रतिपन्नाः सामायिकं स्वीकृतवन्तः। किंविशिष्टाः सन्तः? अचलयोगाः स्थिरसमाधयः प्रतिज्ञातानुष्ठानापरित्यागिनो वा। तथा मौनधरास्तत्पीडायां सत्यामपि क्लीवादिवचनानुच्चारकाः दैन्यादिवचनानुच्चारकाः। कमधिकुर्वीरन्नित्याह—शीतेत्यादि—शीतोष्णदंशमशकानां पीडाकारिणां तत्परिसमन्तात् सहनं तत्परीषहस्तं, न केवलं तमेव अपि तु उपसर्गमपि च देवमनुष्यतिर्यक्कृतं॥१०३॥

तं चाधिकुर्वाणाः सामायिके स्थिता एवंविधं संसारमोक्षयोः स्वरूपं चिन्तयेयुरित्याह—

अशरणमशुभमनित्यं दुःखमनात्मानमावसामि भवम्।
मोक्षस्तद्विपरीतात्मेति ध्यायन्तु सामयिके॥१०४॥

उष्ण तथा दंशमशक आदि परिषह [च] और [उपसर्गम् अपि] उपसर्गको भी [अधिकुर्वीरन्] सहन करें॥१०३॥

टीकार्थ—जिन्होंने सामायिकको स्वीकृत किया है ऐसे गृहस्थोंको अपने योग–ध्यानमें स्थिर रहकर तथा पीड़ाकारक परिस्थितिके आनेपर भी अपनी गृहीत प्रतिज्ञासे विचलित नहीं होते हुए मौनधारी बनकर शीत, उष्ण तथा तिर्यंचोके द्वारा किये हुए उपसर्गको सहन करना चाहिये।

भावार्थ :—सामायिक करनेवाले श्रावकको मौन धारण करके तथा मन–वचन–कायकी प्रवृत्तिको रोककर चित्त स्थिर करके शीत–उष्ण–डांस–मच्छरादि बाईस परिषहोंको तथा देव–मनुष्य–तिर्यंच कृत उपसर्गोंको भी सहन करना अर्थात् परिषहो और उपसर्ग संबंधी पीड़ा होने पर भी मौन रहकर उसे सहन करना; परंतु स्वीकार करी हुई सामायिककी प्रतिज्ञाको छोड़ना नहीं उसी प्रकार हलके या हीन वचनोंका उच्चारण (बोलना) नहीं करना चाहिए।१०३.

परिषह और उपसर्गको सहन करते हुए, सामायिकमें स्थित (श्रावकको) इस प्रकारसे संसार–मोक्षका स्वरूप विचारना चाहिए, ऐसा कहते हैं—

श्लोक १०४
सामायिक करनेके समय क्या विचार करना चाहिये।

अन्वयार्थ—मैं [अशरणम्] अशरण [अशुभम्] अशुभ [अनित्यम्] अनित्य [दुःखम्] दुःखमय और [अनात्मानम्] अनात्मरूप ऐसे [भवम्] संसारमें [आवसामि] रहता हूँ [मोक्षाः] मोक्ष [तद्विपरीतात्मा] इससे उलटा(स्वरूपवाला) है [इति] इस प्रकार

तथा सामायिके स्थिता ध्यायन्तु। कं? भवं स्वोपात्तकर्मवशाच्चतुर्गतिपर्यटनं। कथंभूतं? अशरणं न विद्यते शरणमपायपरिरक्षकं यत्र। अशुभमशुभकारणप्रभवत्वादशुभकार्यकारित्वाच्चाशुभं। तथाऽनित्यं चतसृष्वपि गतिषु पर्यटनस्य नियतकालतयाऽनित्यत्वादनित्यं। तथा दुःखहेतुत्वाद्दुःखं। तथानात्मानमात्मस्वरूपं न भवति। एवंविधं भवभावसामि एवंविधे भवे तिष्ठामीत्यर्थः। यद्येवंविधः संसारस्तर्हि मोक्षः कीदृश इत्याह— मोक्षस्तद्विपरीतात्मा तस्मादुक्तभवस्वरूपाद्विपरीतस्वरूपतः शरणशुभादिस्वरूपः इत्येवं ध्यायन्तु चिन्तयन्तु सामायिके स्थिताः॥१०४॥

साम्प्रतं सामायिकस्यातीचारानाह—

वाक्कायमानसानां दुःप्रणिधानान्यनादरास्मरणे।
सामयिकस्यातिगमा व्यज्यन्ते पञ्च भावेन॥१०५॥

[सामायिके] सामायिक करते समय [ध्यायन्तु] विचार करना चाहिए॥१०४॥

टीकार्थ—अपने द्वारा गृहीत कर्मोंके वशसे चारों गतियोंमें परिभ्रमण करना भव कहलाता है। मैं जिस भवमें रह रहा हूँ वह अशरण है—इसमें मृत्युसे रक्षा करनेवाला कोई नहीं है। अशुभ कारणोंसे उत्पन्न होने तथा अशुभ कार्यको करनेके कारण अशुभ है। चारों गतियोंमें परिभ्रमणका काल नियत होनेसे अनित्य है। दुःखका कारण होनेसे दुःखरूप है और आत्मस्वरूपसे भिन्न होनेके कारण अनात्मा है। सामायिकमें स्थित मनुष्य इस प्रकार संसारके स्वरूपका विचार करे और मोक्ष इससे विपरीत है। अर्थात् शरण है, शुद्ध है, नित्य है, सुखरूप है तथा आत्मरूप है, इसप्रकार मोक्षके स्वरूपका विचार करें।

भावार्थ :—व्रतीजनोंको सामायिक करते समय ऐसा विचार करना चाहिए कि मैं जिस संसारमें रहता हूँ वह अशरण, अशुद्ध, अनित्य (पर्याय अपेक्षासे) दुःखरूप और पररूप है और मोक्ष इससे विपरीत स्वभावरूप है अर्थात् वह शरणरूप, शुद्ध, नित्य, सुखरूप और आत्मस्वरूप है–ऐसा भेदज्ञान करना।

अब सामायिकके अतिचार कहते हैं।

श्लोक १०५
सामायिकके पांच अतिचार

अन्वयार्थ—[वाक्कायमानसानाम्] वचन, शरीर और मनका [दुःप्रणिधानानि]

व्यज्यन्ते कथ्यन्ते। के ते? अतिगमा अतिचाराः। कस्य? सामयिकस्य। कति? पंच। कथं? भावेन परमार्थेन। तथा हि। वाक्कायमानसानां दुष्प्रणिधानमित्येतानि त्रीणि। अनादरोऽनुत्साहः। अस्मरणमनैकाग्र्यम्॥१०५॥

अथेदानीं प्रोषधोपवासलक्षणं शिक्षाव्रतं व्याचक्षाणः प्राह—

पर्वण्यष्टम्यां च ज्ञातव्यः प्रोषधोपवासस्तु[1]।
चतुरभ्यवहार्य्याणां प्रत्याख्यानं सदेच्छाभिः॥१०६॥

चलायमान होना [अनादरास्मरणे] अनादर और विस्मृति ये [पंच] पांच [भावेन] निश्चयसे [सामायिकस्य] सामायिकके [अतिगमाः] अतिचार [व्यज्यंते] कहे जाते हैं॥१०५॥

टीकार्थ—वचन, काय और मन ये तीन योग हैं। इनकी खोटी प्रवृत्ति करनेको दुःष्प्रणिधान कहते हैं। इस तरह तीन योग सम्बन्धी खोटी प्रवृत्तिके कारण तीन अतिचार होते हैं। अनादरका अर्थ अनुत्साह है और अस्मरणका अर्थ एकाग्रताका अभाव है। सब मिलाकर सामायिकके पाँच अतिचार कहे जाते हैं।

भावार्थ :—सामायिक शिक्षाव्रतके पाँच अतिचार—

(१) वाक्दुःप्रणिधान :—वचनको चलायमान करना।

(२) कायदुःप्रणिधान :—कायको–शरीरको अस्थिर रखना–चलायमान करना।

(३) मनदुःप्रणिधान :—मनको अन्यथा चंचल रखना–चलायमान करना।

(४) अनादर :—सामायिकमें आदर नहीं करना–उत्साह नहीं रखना।

(५) विस्मरण :—एकाग्रताके अभावमें चित्तकी व्यग्रतासे सामायिकका पाठ भूल जाना वह स्मृत्यनुपस्थान अतिचार है। १०५.

अब प्रौषधोपवासरूप शिक्षाव्रतका व्याख्यान करते हुए कहते हैं :—

प्रोषधोपवास शिक्षाव्रतका लक्षण
श्लोक १०६

अन्वयार्थ—[सदा] सर्वदा [पर्वणि] चतुर्दशी [च] और [अष्टभ्याम्] अष्टमीके दिन

---

१. तु शब्दः पादपूर्त्यर्थः।

प्रोषधोपवासः पुनर्ज्ञातव्यः। कदा? पर्वणि चतुर्दश्यां। न केवलं पर्वणि, अष्टम्यां च। किं पुनः प्रोषधोपवासशब्दाभिधेयं? प्रत्याख्यानं। केषां? चतुरभ्यवहार्याणां चत्वारि अशनपानखाद्यलेह्यलक्षणानि तानि चाभ्यवहार्याणि च भक्षणीयानि तेषां। किं कस्यांचिदेवाष्टम्यां चतुर्दश्यां च तेषां प्रत्याख्यानमित्याह–सदा सर्वकालं। काभिः इच्छाभिर्व्रतविधानवाञ्छाभिस्तेषां प्रत्याख्यानं न [1]पुनर्व्यवहारकृतधरणकादिभिः॥१०६॥

[इच्छाभिः] व्रत धारण करनेकी इच्छासे [चतुरभ्यवहार्य्याणाम्] अशन, पान, खाद्य और लेह्य इन चार प्रकारके आहारका [प्रत्याख्यानम्] त्याग करना [प्रोषधोपवासः] प्रोषधोपवास [ज्ञातव्यः] जानना चाहिए।१०६॥

टीकार्थ—अन्न, पान, खाद्य और लेह्यके भेदसे आहारके चार भेद होते हैं। इन चारों प्रकारके आहारोंका प्रत्येक चतुर्दशी और अष्टमीके दिन व्रतविधानकी इच्छासे त्याग करना **प्रोषधोपवास** जानना चाहिये। यहाँ **'सदा'** शब्दके देनेसे यह बात सिद्ध की गई है कि यह चार प्रकारके आहारका त्याग सदाके लिये—जीवनपर्यन्तकी अष्टमी–चतुर्दशीके लिये होना चाहिये, न कि दो–चार माहकी अष्टमी–चतुर्दशीके लिए। इसीप्रकार **'इच्छाभिः'** पद देनेसे यह सिद्ध किया गया है कि यह त्याग व्रतधारण करनेकी भावनासे होना चाहिये, न कि लोकव्यवहारमें किये हुए धरणा आदिकी भावनासे। अपनी किसी माँगको स्वीकृत करानेके लिये जो आहारका त्याग किया जाता है उसे धरणा कहते हैं। धरणा देनेके लिए किया गया आहारत्याग प्रोषधोपवासमें सम्मिलित नहीं है।

भावार्थ :—प्रत्येक चतुर्दशी और अष्टमीके दिन खाद्य (रोटी, दाल, भात आदि), स्वाद्य (लड्डु, पेंडा, बरफी आदि) लेह्य (रबडी, आमका रस आदि) और पेय (दूध, पानी, छाँछ आदि)—ये चार प्रकारके आहारका, व्रतधारण करनेकी आंतरिक इच्छासे त्याग करना उसे प्रौषधोपवास शिक्षाव्रत कहते हैं।

यह प्रोषधोपवास अष्टमी–चतुर्दशी सिवाय अन्य दिनोंमें भी व्रत–विधानकी इच्छासे करना चाहिए। सामायिकके संस्कारको स्थिर करनेके लिए भी उसकी जरूरत है।

विशेष

प्रोषधोपवास करनेकी विधि—(१) अष्टमी या चतुर्दशीके अगले दिन (दो प्रहरके बाद) भोजन करके, १६ प्रहर (४८ घन्टे)के उपवासकी प्रतिज्ञा करके, सर्व (सभी) आरंभका त्याग करके एकान्तमें धर्मध्यानपूर्वक वह दिन व्यतीत करना।

---

१. न पुनर्व्यवहारे कृवसाकादिभिः (?) घ।

उपवासदिने चोपोषितेन किं कर्तव्यमित्याह—

पञ्चानां पापानामलंक्रियारम्भगन्धपुष्पाणाम्।
स्नानाञ्जननस्यानामुपवासे परिहृतिं कुर्य्यात्॥१०७॥

उपवासदिने परिहृतिं परित्यागं कुर्यात्। केषां? पंचानां हिंसादीनां। तथा अलंक्रियारंभगंधपुष्पाणां अलंक्रिया मण्डनं आरंभो वाणिज्यादिव्यापारः गन्धपुष्पाणामित्युपलक्षणं रागहेतूनां गीतनृत्यादीनां। तथा स्नानाञ्जननस्यानां स्नानं च अञ्जनं च नस्यञ्च तेषाम्॥१०७॥

---

(२) पर्वका (अष्टमी–चतुर्दशी) पूरा दिन और रात धार्मिक कार्योंमें व्यतीत करना।

(३) पर्वके बादका दिन (नवमी या पुनम या अमावस्याके दिन) पूजा, भक्ति, स्वाध्याय आदि आवश्यक धार्मिक कार्योंको करके अतिथिजनोंको विधिपूर्वक योग्य आहार देकर एकाशन करें।

श्री अमितगति आचार्यने अमितगति कृत श्रावकाचार अध्याय-६ (श्लोक ९१में कहा है कि व्रतप्रतिमा (दूसरी प्रतिमा) धारी श्रावकके शक्ति नहीं हो तो पर्वके दिन एकबार जल मात्र ग्रहण करके अनुपवास या एकबार अन्न–जल ग्रहण करके एकाशन भी कर सकता है, परंतु प्रोषधोपवासमें (चौथी प्रतिमामें) तो १६ प्रहरका ही अन्न–जलका त्याग बताया है। १०६।

उपवास करनेवालेको उपवासके दिन क्या करना चाहिए वह कहते हैं :—

श्लोक १०७

प्रोषधोपवासके दिन क्या क्या त्याग करना चाहिए

अन्वयार्थ—[उपवासे] उपवासके दिन [पंचानाम्] पांच [पापानाम्] पापोंका [अलंक्रियारम्भगंधपुष्पाणाम्] शृंगार आरंभ सुगंधितफूल तथा [स्नानांजननस्यानाम्] स्नान-अंजन और हुलाश आदिका [परिहृतिम्] त्याग [कुर्य्यात्] कर देना चाहिए॥१०७॥

टीकार्थ—उपवास करनेवाले व्यक्तिको चाहिये कि वह उपवासके दिन हिंसा, असत्य चौर्य, कुशील और परिग्रह इन पाँच पापोंका त्याग करे। शरीरकी सजावट, वाणिज्य आदि व्यापार तथा गन्धपुष्प आदिके प्रयोग और स्नान, अंजन तथा नास आदिके सेवनका परिहार—परित्याग करे। यह सब उपलक्षण है, अतः गीत नृत्य आदि रागके कारणोंका भी त्याग आ जाता है।

भावार्थ :—उपवासके दिन हिंसादि पाँच पापोंका तथा श्रृंगार, व्यापारादि आरंभ, गंध, पुष्पमाला, गीत, नृत्यादि, स्नान, अंजन और सुंघनेकी वस्तु आदिका त्याग करना चाहिए। 'सुभाषित रत्नसंदोह'में उपवासका लक्षण बताते हुए कहा है कि—

कषायविषयाहारत्यागो यत्र विधीयते।
उपवासः स विज्ञेयः शेषं लंघनकं विदुः॥

जहाँ कषाय, विषय और आहारका त्याग करनेमें आता है उसे उपवास जानना, शेषको लंघन कहा है।

केवल आहारका त्याग करे लेकिन कषायका और इन्द्रियोंके विषयोंके प्रति रागभावका त्याग नहीं करे तो वह उपवास नहीं परंतु लंघन है।

प्रोषधोपवासधारी श्रावकको उपचारसे पाँच महाव्रतका पालन होता है—अहिंसा आदिकी पुष्टि होती है।

श्री पुरुषार्थसिद्धि-उपाय गुजराती आवृत्ति श्लोक—१५८-१५९-१६०की टीका और भावार्थमें कहा है कि :—

''निश्चयसे देशव्रती श्रावकको भोगोपभोगके पदार्थोंके संबंधसे स्थावर हिंसा अर्थात् एकेन्द्रिय जीवोंकी हिंसा होती है, परंतु वह त्रस हिंसाका पूर्ण त्यागी ही है। जब वह उपवासमें समस्त आरंभ-परिग्रह और पाँच पापोंका संपूर्ण त्याग कर देता है तब उसके उपवासमें स्थावर हिंसा भी नहीं होती है। इस कारणसे भी उसे अहिंसा महाव्रतका पालन होता है।' (श्लोक १५८ टीका)

''उपवासधारी पुरुष द्वारा वचनगुप्ति पालनेसे उसे सत्य महाव्रतका पालन होता है, बिना दी हुई समस्त वस्तुओंका त्याग होनेसे अचौर्य महाव्रतका पालन होता है, संपूर्ण मैथुन कर्मका त्याग होनेसे ब्रह्मचर्यका पालन होता है और शरीरमें भी ममत्व-परिणाम नहीं होनेसे परिग्रह त्याग महाव्रतका पालन होता है। इसलिए वह उपचारसे पाँचों महाव्रत पाल सकता है। (श्लोक १५९की टीका)

श्रावकके महाव्रतमें और मुनियोंके महाव्रतमें फर्क है क्योंकि :—

''वास्तवमें जिसे प्रत्याख्यानावरण क्रोध-मान-माया-लोभका अभाव हो गया है वह ही महाव्रती संयमी कहा जाता है, लेकिन जिसे यह कषायका अभाव नहीं हुआ परन्तु उसे द्रव्यरूप पाँच पापोंका अभाव हो गया हो तो उसे उपचारसे महाव्रत है, सच्चा महाव्रत नहीं

एतेषां परिहारं कृत्वा किं तद्दिनेऽनुष्ठातव्यमित्याह—

धर्मामृतं सतृष्णः श्रवणाभ्यां पिबतु पाययेद्वान्यान्।
ज्ञानध्यानपरो वा भवतूपवसन्नतन्द्रालुः ॥१०८॥

उपवसन्नुपवासं कुर्वन्। धर्मामृतं पिबतु धर्म एवामृतं सकलप्राणिनामाप्यायकत्वात् तत् पिबतु। काभ्यां? श्रवणाभ्यां। कथंभूतः? सतृष्णः साभिलाषः पिबन् न पुनरुपरोधादिवशात्। पाययेद् वान्यान् स्वयमवगतधर्मस्वरूपस्तु अन्यतो धर्मामृतं पिबतु अन्यानविदिततत्स्वरूपान् पाययेत् तत्। ज्ञानध्यानपरो भवतु, ज्ञानपरो द्वादशानुप्रेक्षाद्युपयोगनिष्ठः।

अध्रुवाशरणे चैव भवं एकत्वमेव च।
अन्यत्वमशुचित्वं च तथैवास्रवसंवरौ ॥१॥

है, क्योंकि पूर्ण संयम (छट्ठे) प्रमत्त गुणस्थानमें ही शुरू होता है और प्रमत्त गुणस्थान प्रत्याख्यानावरण कषायके अभाव बिना होता नही.....'' (श्लोक १६०का भावार्थ)

इन सबका परिहार (त्याग) करके उपवासके दिन क्या करना चाहिए वह कहते हैं :—

श्लोक १०८

उपवासके दिनका धर्मकर्तव्य

अन्वयार्थ—[उपवसन्] उपवास करनेवाला [अतन्द्रालुः] आलस्य रहित और [सतृष्णः] अभिलाषा सहित होकर [श्रवणाभ्याम्] ''मनोनिग्रहपूर्वक'' दोनों कानोंसे [धर्मामृतम्] धर्मरूपी अमृतका [पिबतु] पान करे [वा] अथवा [अन्यान्] दूसरोंको [पाययेत्] पान करानेको लगावे [वा] अथवा [ज्ञानध्यानपरः] ज्ञानाभ्यास और ध्यानमें तत्पर [भवतु] होवै ॥१०८॥

टीकार्थ—समस्त प्राणियोंके सन्तोषका कारण होनेसे धर्मको अमृत कहा जाता है। उपवास करनेवाला व्यक्ति यदि धर्मका विशेष ज्ञाता नहीं है तो वह बड़ी उत्सुकतापूर्वक दूसरे विशिष्ट ज्ञानी जनोंके मुखसे होनेवाले धर्मोपदेशको अपने कानोंसे सुने और यदि स्वयं विशिष्ट ज्ञानी है तो वह दूसरोंको धर्मोपदेश सुनावे। इसके अतिरिक्त आलस्यको जीतता हुआ स्वयं ज्ञान और ध्यानमें तत्पर रहे। स्वाध्यायमें लीन रहता हुआ अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व,

निर्जरा च तथा लोकबोधदुर्लभधर्मता।
द्वादशैता अनुप्रेक्षा भाषिता जिनपुंगवैः॥२॥

ध्यानपरः आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयलक्षणधर्मध्याननिष्ठो वा भवतु। किंविशिष्टः? अतन्द्रालुः निद्रालस्यरहितः॥१०८॥

अधुना प्रोषधोपवासस्य लक्षणं कुर्वन्नाह—

चतुराहारविसर्जनमुपवासः प्रोषधः सकृद्भुक्तिः।
स प्रोषधोपवासो यदुपोष्यारम्भामाचरति॥१०९॥

चत्वारश्च ते आहाराश्चाशनपानखाद्यलेह्यलक्षणाः। अशनं हि भक्तमुद्गादि, पानं हि पेयमथितादि, खाद्यं मोदकादि, लेह्यं रब्रादि, तेषां विसर्जनं परित्यजनमुपवासोऽभिधीयते।

अन्यत्व, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म इन बारह भावनाओंके चिन्तनमें दत्तचित रहे अथवा आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय इन चार धर्मध्यानोंमें तत्पर रहे।

भावार्थ :—उपवास करनेवाला व्यक्ति आलस्य रहित और उत्कंठा सहित होकर धर्मरूपी अमृतका स्वयं पान करे और दूसरोंको भी इसका पान करावे तथा ज्ञान और धर्मध्यानमें लवलीन रहे। १०८.

अब प्रोषधोपवासको लक्षण बनाकरके कहते हैं :—

श्लोक १०९
प्रोषधोपवासका स्वरूप

अन्वयार्थ—[चतुराहारविसर्जनम्] चार प्रकारका आहारका त्याग करना [उपवासः] उपवास कहलाता है और [सकृद्भुक्तिः] दिनमें एकबार भोजन करना [प्रोषधः] प्रोषध कहलाता है [यत् उषोष्य] जो उपवास करके [आरम्भम्] पारणाके दिन एकाशनको [आचरति] करता है [सः] वह [प्रोषधोपवासः] प्रोषधोपवास समझना चाहिए॥१०९॥

टीकार्थ—अशन, पान, खाद्य और लेह्यके भेदसे आहार चार प्रकारका होता है। भात, मूँग आदि अशन कहलाते हैं, छांछ आदि पीने योग्य पदार्थ पान कहलाते हैं, लाडू आदि खाद्य कहलाते हैं और रबड़ी आदि चाँटने योग्य पदार्थ लेह्य कहलाते हैं। इन चारों प्रकारके

प्रोषधः पुनः सकृद्भुक्तिर्धारणकदिने एकभक्तविधानं। यत्पुनरुपोष्य उपवासं कृत्वा पारणकदिने आरम्भंसकृद्भुक्तिमाचरत्यनुतिष्ठति स प्रोषधोपवासोऽभिधीयते इति॥१०९॥

अथ केऽस्यातीचारा इत्याह—

ग्रहणविसर्गास्तरणान्यदृष्टमृष्टान्यनादरास्मरणे।
यत्प्रोषधोपवासव्यतिलङ्घनपञ्चकं तदिदम्॥११०॥

प्रोषधोपवासस्य व्यतिलंघनपंचकमतिविचारपंचकं। तदिदं पूर्वार्धप्रतिपादितप्रकारं। तथा हि। ग्रहणविसर्गास्तरणानि त्रीणि। कथंभूतानि? अदृष्टमृष्टानि दृष्टं दर्शनं जन्तवः सन्ति

आहारका त्याग करना उपवास कहलाता है। एक बार भोजन करना प्रोषध कहलाता है। और धारणा तथा पारणाके दिन एकाशनके साथ पर्वके दिन जो उपवास किया जाता है वह प्रोषधोपवास कहलाता है। **'प्रोषधाभ्यां धारणकपारणकदिने सुकृद्भुक्तिभ्यां सह उपवासः प्रोषधोपवासः'** इस व्युत्पत्तिके अनुसार धारणा और पारणाके दिन एकाशन करते हुए अष्टमी तथा चतुर्दशीको उपवास करना प्रोषधोपवास कहलाता है।

भावार्थ :—अशन, खाद्य, लेह्य और पेय—यह चार प्रकारके आहारका बारह प्रहर सर्वथा त्याग करना वह उपवास है और दिनमें एकबार भोजन करना वह प्रोषध या एकाशन है। धारणा और पारणाके दिन एकाशन और दोनोंके बीचके दिन उपवास करना अर्थात् सोलह प्रहर तक चारों आहारका त्याग करना उसे प्रोषधोपवास कहते हैं। १०९.

अब उसके (प्रोषधोपवासके) क्या अतिचार हैं वह कहते हैं :—

श्लोक ११०
प्रोषधोपवासके अतिचार

अन्वयार्थ—[यत्] जो [अदृष्टमृष्टानि] बिना देखे और बिना प्रमार्जन किये [ग्रहणविसर्गास्तरणानि] पूजा आदिके उपकरण ग्रहण करना, मल, मूत्र आदि छोड़ना और बिछाना डालना तथा [अनादरास्मरणे] अनादर और विस्मृति [तत्] इस प्रकार उपर कहे हुए [इदम्] ये [प्रोषधोपवासव्यतिलंघनपंचकम्] प्रोषधोपवासके पांच अतिचार हैं॥११०॥

टीकार्थ—यहाँ जीव-जन्तु हैं या नहीं, इस प्रकार चक्षुसे देखना दृष्ट कहलाता है और कोमल उपकरणसे प्रमार्जन करना मृष्ट कहलाता है। जिसमें ये दोनों न हों उसे अदृष्टमृष्ट कहते हैं। अदृष्टमृष्टशब्दका सम्बन्ध ग्रहण, विसर्ग और आस्तरण इन तीनोंके साथ होता है। इसलिए

न सन्तीति वा चक्षुपावलोकनं मृष्टं मृदुनोपकरणेन प्रमार्जनं तदुभौ न विद्येते येषु ग्रहणादिषु तानि तथोक्तानि। तत्र बुभुक्षापीडितस्यादृष्टस्यार्हदादिपूजोपकरणस्यात्मपरिधानाद्यर्थस्य च ग्रहणं भवति। तथा अदृष्टमृष्टायां भूमौ मूत्रपुरीषादेरुत्सर्गो भवति। तथा अदृष्टमृष्टे प्रदेशे आस्तरणं संस्तरोपक्रमो भवतीत्येतानि त्रीणि। अनादरास्मरणे च द्वे। तथा आवश्यकादौ हि बुभुक्षापीडितत्वादनादरोऽनैकाग्रतालक्षणमस्मरणं च भवति॥११०॥

अदृष्टमृष्टग्रहण, अदृष्टमृष्टविसर्ग और अदृष्टमृष्टास्तरण ये तीन अतिचार होते हैं। **अदृष्टमृष्टग्रहण** अतिचार उसके होता है जो भूखसे पीड़ित होकर अर्हन्त आदिकी पूजाके उपकरण तथा अपने वस्त्र आदिको बिना देखे और बिना शोधे ग्रहण करता है। **अदृष्टमृष्टविसर्ग** अतिचार उसके होता है जो भूखसे पीड़ित होनेके कारण बिना देखी, बिना शोधी भूमिमें मलमूत्र छोड़ता है और **अदृष्टमृष्टास्तरण** अतिचार उसके होता है जो भूखसे पीड़ित होनेके कारण बिना देखे, बिना शोधे स्थानपर बिस्तर आदि बिछाता है। इन तीनके सिवाय **अनादर** और **अस्मरण** ये दो अतिचार और होते हैं। जिसमें अनादरका अर्थ है भूखसे पीड़ित होनेके कारण आवश्यक कार्योंमें आदर नहीं करना अर्थात् उन्हें उपेक्षाभावसे करना और अस्मरणका अर्थ है अनैकाग्रता अर्थात् चित्तमें एकाग्रता नहीं होना।

भावार्थ :—प्रोषधोपवास शिक्षाव्रतके पाँच अतिचार—

(१) अदृष्टमृष्टग्रहण :—(अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जित आदान)—देखे बिना और साफ किये बिना अरहंतादिकी पूजाके उपकरणोंको ग्रहण करना, वस्त्रपात्रादिको देखे बिना–यत्नाचार बिना घसीट कर लेना।

(२) अदृष्टमृष्टिविसर्ग :—(अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जित उत्सर्ग) जमीन ऊपर जीवजंतु है या नहीं यह आँखोंके द्वारा देखे बिना तथा कोमल उपकरणसे (पींछी आदिसे) भूमि का संमार्जन (साफ) किये बिना मल–मूत्रादिका त्याग करना।

(३) अदृष्टमृष्टआस्तरण :—(अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जित संस्तरोपक्रमण)—देखे बिना और साफ किये बिना जमीन ऊपर शयन (सोना) या आसनके लिए बिस्तर या वस्त्र बिछाना।

(४) अनादर :—क्षुधा–तृषाकी पीड़ासे आवश्यक धार्मिक क्रियाओंमें अनादर या निरुत्साहसे प्रवर्तन करना।

(५) अस्मरण :—(स्मृत्यनुपस्थान) प्रोषधोपवासके दिन करने योग्य धार्मिक क्रियाओंका विस्मरण होना–भूल जाना।

इदानीं वैयावृत्यलक्षणशिक्षाव्रतस्य स्वरूपं प्ररूपयन्नाह—

दानं वैयावृत्यं धर्माय तपोधनाय गुणनिधये।
अनपेक्षितोपचारोपक्रियमगृहाय विभवेन॥१११॥

भोजनादिदानमपि वैयावृत्यमुच्यते। कस्मै दानं? तपोधनाय तप एव धनं यस्य तस्मै। किंविशिष्टाय? गुणनिधये गुणानां सम्यग्दर्शनादीनां निधिराश्रयस्तस्मै। तथाऽगृहाय भावद्रव्यागाररहिताय। किमर्थं? धर्माय धर्मनिमित्तं। किंविशिष्टं तद्दानं? अनपेक्षितोपचारोपक्रियं उपचारः प्रतिदानं उपक्रिया मंत्रतंत्रादिना प्रत्युपकरणं ते न अपेक्षिते येन। कथं तद्दानं? विभवेन विधिद्रव्यादिसम्पदा॥१११॥

क्षुधा–तृषादिसे पीड़ित व्यक्ति प्रमादसे देखे बिना और साफसूफ किये बिना, भगवानकी पूजा आदिके उपकरण तथा स्वयंके वस्त्रादि ग्रहण करता है, जमीन ऊपर मल–मूत्र फेंकता है और स्वयंके बिस्तर आदि बिछाता है; आवश्यक धर्मक्रियाओंमें आदर नहीं करता तथा वह क्रियाओंको भूल जाता है। ऐसा करनेसे उसे प्रोषधोपवास व्रतमें दोष (अतिचार) लगता है। ११०.

अब वैयावृत्यरूप शिक्षाव्रतके स्वरूपका प्ररूपण करके कहते हैं :—

श्लोक १११
वैयावृत्य [अतिथिसंविभाग] नामका शिक्षाव्रत

अन्वयार्थ—[गुणनिधये] सम्यग्दर्शनादि गुणोंके आश्रय और [अगृहाय] घर रहित ऐसे [तपोधनाय] तप ही है धन जिनका ऐसे साधुओंको [धर्माय] धर्मके लिए [अनपेक्षितोपचारोपक्रियम्] उपचार और प्रत्युपकारकी अपेक्षा रहित [विभवेन] विधि तथा योग्य द्रव्यादिकके द्वारा [दानम्] दान करनेको [वैयावृत्यम्] वैयावृत्य कहते हैं॥१११॥

टीकार्थ—तप ही जिसका धन है तथा सम्यग्दर्शनादिगुणोंके जो निधिआश्रय हैं ऐसे भाव आगार और द्रव्य आगारसे रहित मुनीश्वरके लिये उपचार—प्रतिदान तथा उपक्रिया—प्रत्युपकारकी भावनासे रहित अपनी विधि, द्रव्य आदि संपदाके अनुसार जो आहार आदिका दान दिया जाता है वह वैयावृत्य कहलाता है।

भावार्थ :—सम्यग्दर्शनादि गुणों सहित गृहत्यागी मुनिको स्व–परके धर्मकी वृद्धिके लिए कोई बदलेकी (प्रतिदानकी) तथा मंत्र–तंत्रादि द्वारा प्रत्युपकारकी आशा रखे बिना

न केवलं दानमेव वैयावृत्यमुच्यतेऽपि तु—

व्यापत्तिव्यपनोदः पदयोः संवाहनं च गुणरागात्।
वैयावृत्यं यावानुपग्रहोऽन्योऽपि संयमिनाम् ॥११२॥

व्यापत्तयो विविधा व्याध्यादिजनिता आपदस्तासां व्यपनोदो विशेषेणापनोदः स्फेटनं

स्वयंकी शक्ति अनुसार विधिपूर्वक चार प्रकारका दान देना, उसे वैयावृत्य शिक्षाव्रत कहते हैं। उसे अतिथिसंविभाग व्रत भी कहते हैं।

मोक्षके लिए उद्यमी, संयमी और अंतरंग–बहिरंगमें जो शुद्ध होता है ऐसे व्रती पुरुषोंको अतिथि पुरुष कहते हैं। इनको शुद्ध मनसे आहार, औषधि, उपकरण और वस्तिकाका (विश्रान्तिस्थानका) दान करना; वह अतिथिसंविभाग है।

श्री उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्रमें दानका लक्षण निम्नानुसार दिया है :—

''अनुग्रहार्थे स्वस्यातिसर्गो दानम् ॥'' अध्याय ७/३८

स्वयंके और परके उपकारके लिए धनादिकका या स्वार्थका त्याग करना वह दान है।

दानसे पुण्यबंध होता है वह तो स्वयंका उपकार है और जो इससे पात्रके सम्यक्त्वादि गुणोंकी वृद्धि हो तो वह परका उपकार है। १११.

केवल दान ही वैयावृत्य कहलाता है ऐसा नहीं लेकिन संयमी जनोंकी सेवा भी वैयावृत्य कहलाती है ऐसा कहते हैं :—

वैयावृत्यका अन्य स्वरूप
श्लोक ११२

अन्वयार्थ—[गुणरागात्] गुणोंमें अनुराग होनेके कारण [व्यापत्तिव्यपनोदः] आपत्ति दूर करना [च] और [पदयोः संवाहनं] दोनों पाद मर्दन करना तथा [संयमिनाम्] संयमियोंका [अन्योऽपि] और भी [यावान्] जितना [उपग्रहः] उपकार है वह सब [वैयावृत्यम्] वैयावृत्त्य कहलाता है॥११२॥

टीकार्थ—देशव्रती और सकलव्रतीके भेदसे संयमी दो प्रकारके हैं। इनके ऊपर यदि बीमारी आदि नाना प्रकारकी आपत्तियाँ आई हैं तो उन्हें गुणानुरागसे प्रेरित होकर दूर करना,

यत्तद्वैयावृत्यमेव। तथा पदयोः संवाहनं पादयोर्मर्दनं। कस्मात्? गुणरागात् भक्तिवशादित्यर्थः—न पुनर्व्यवहारात् दृष्टफलापेक्षणाद्वा। न केवलमेतावदेव वैयावृत्यं किन्तु अन्योऽपि संयमिनां [1]देशसकलव्रतानां सम्बन्धी यावान् यत्परिमाण उपग्रह उपकारः स सर्वो वैयावृत्यमेवोच्यते॥११२॥

अथ किं दानमुच्यत इत्यत आह—

नवपुण्यैः प्रतिपत्तिः सप्तगुणसमाहितेन शुद्धेन।
अपसूनारम्भाणामार्याणामिष्यते दानम्॥११३॥

दानमिष्यते। कासौ? प्रतिपत्तिः गौरवं आदरस्वरूपा। केषां? आर्याणां

उनके पैर आदि अंगोंका मर्दन करना तथा इसके सिवाय और भी जितनी कुछ समयानुकूल सेवा है वह सब वैयावृत्य नामक शिक्षाव्रत है। यह वैयावृत्य व्यवहार अथवा किसी दृष्टफलकी अपेक्षासे न होकर मात्र गुणानुराग अर्थात् भक्तिके वशसे की जाती है।

भावार्थ :—गुणानुरागसे व्रती जनोंका दुःख दूर करना; मार्गजन्य थकानको दूर करनेके लिए उनके पैर दबाना और अन्य जितना हो सके उतना उनका उपकार करना वह सब वैयावृत्य कहलाता है। ११२.

अब दान किसे कहते हैं वह कहते हैं :—

श्लोक ११३
दानका स्वरूप

अन्वयार्थ—[सप्तगुणसमाहितेन] श्रद्धा, तुष्टि, भक्ति, विज्ञान, अलुब्धता, क्षमा और सत्य इन सात गुणोंसे सहित [शुद्धेन] निर्मल श्रावकको [अपसूनारम्भाणाम्] ऊखली, चक्की, चुल्ली, घिन्नोची और बुहारी इन पांच सून कर्म और आरम्भसे रहित [आर्याणाम्] मुनियोंका [नवपुण्यैः] प्रतिग्रह, उच्चस्थान, पादप्रक्षालन, पूजा, नमस्कार, मनशुद्धि, वचनशुद्धि और कायशुद्धि-एषणाशुद्धि इन नवधाभक्तिसे [प्रतिपत्तिः] सत्कार करना [दानम्] दान [इष्यते] कहलाता है॥११३॥

टीकार्थ—जीवघातके स्थानको सूना कहते हैं। संक्षेपमें सूनाके पाँच भेद हैं। जैसा

---

१. देशसकलयतीनां घ।

सदृर्शनादिगुणोपेतमुनीनां। किंविशिष्टानां? अपसूनारम्भाणां सूनाः पंचजीवघातस्थानानि। तदुक्तम्—

खंडनी पेषणी चुल्ली उदकुम्भः प्रमार्जनी।
पंचसूना गृहस्थस्य तेन मोक्षं न गच्छति॥१३॥

खंडनी उलूखलं, पेषणी घरट्टः, चुल्ली चुलूकः, उदकुम्भः उदकघटः, प्रमार्जनी बोहारिका। सूनाश्चारंभाश्च कृष्यादयस्तेऽपगता येषां तेषां। केन प्रतिपत्तिः कर्तव्या? सप्तगुणसमाहितेन। तदुक्तं—

[1]श्रद्धा तुष्टिर्भक्तिर्विज्ञानमलुब्धता क्षमा सत्यं।
यस्यैते सप्तगुणास्तं दातारं प्रशंसन्ति॥

कि कहा गया है—

पांच सूना

खंडनी पेषणी चुल्ली, उदकुम्भः प्रमार्जनी।
पंचसूना गृहस्थस्य, तेन मोक्षं न गच्छति॥

खण्डनीति–खण्डनी—उखलीसे कूटना, पेषणी—चक्कीसे पीसना, चुल्ली—चूला जलाना, उदकुम्भ—पानीके घट भरना और प्रमार्जनी—बुहारीसे भूमिको बुहारना ये पाँच हिंसाके कार्य गृहस्थके होते हैं, अतः वह मोक्षको प्राप्त नहीं होता। खेती आदि व्यापारसम्बन्धी कार्य आरम्भ कहलाते हैं। जिनके सूना और आरम्भ नष्ट हो चुके हैं ऐसे सम्यग्दर्शनादिगुणोंसे सहित मुनियोंका आहार आदि दानके द्वारा जो गौरव या आदर किया जाता है वह दान कहलाता है। यह दान सात गुणोंसे सहित दाताके द्वारा दिया जाता है। जैसा कि कहा गया है—

दाताके सात गुण

श्रद्धा तुष्टिर्भक्तिर्विज्ञानमलुब्धता क्षमा सत्यम्।
यस्यैते सप्तगुणास्तं दातारं प्रशंसन्ति॥

श्रद्धा, संतोष, भक्ति, विज्ञान, अलुब्धता, क्षमा और सत्य ये सात गुण जिसके होते हैं उस दाताकी प्रशंसा करते हैं।

---

१. श्रद्धाशक्तिरलुब्धत्वं भक्तिर्ज्ञानं दया क्षमा।
इति श्रद्धादयः सप्त गुणाः स्युर्गृहमेधिनाम्॥ इति 'घ' पुस्तके पाठः।

इत्येतैः सप्तभिर्गुणैः समाहितेन सहितेन तु दात्रा[1] दानं दातव्यं। कैः कृत्वा? नवपुण्यैः। तदुक्तं—

[2]पडिगहमुच्चट्ठाणं पादोदयमच्चणं च पणमं च।
मणवयणकायसुद्धी एसणसुद्धी य णवविहं पुण्णं॥

एतैर्नवभिः पुण्यैः पुण्योपार्जनहेतुभि॥११३॥

---

[3]दाताकी शुद्धताका विचार तीन प्रकारसे किया जाता है—कुलसे, आचारसे और शरीरसे। जिसकी वंशपरम्परा शुद्ध हो उसे कुलशुद्ध कहते हैं, जिसका आचरण शुद्ध हो उसे आचारशुद्ध कहते हैं और जिसने स्नानादि कर शुद्ध वस्त्र धारण किये हैं, अंगभंग नहीं है तथा जिसके शरीरमें राध-रुधिरादिकको झरानेवाली कोई बीमारी नहीं है उसे शरीरशुद्ध कहते हैं। यह दान नवप्रकारके पुण्यों—पुण्योपार्जनके कारणोंके साथ दिया जाता है। जैसा कि कहा गया है—

नवधाभक्ति

पडिगहमुच्चट्ठाणं पादोदयमच्चणं च पणमं च।
मणवयणकायसुद्धी एसणसुद्धी य णवविहं पुण्णं॥

पडिगाहना, उच्चस्थान देना, पाद प्रक्षालन, पूजन, प्रणाम, मनशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि और एषण—आहार शुद्धि ये नव पुण्य कहलाते हैं। इन्हींको नवधा भक्ति कहते हैं।

भावार्थ :—सात गुण सहित श्रावक, भद्र परिणामसे पाँच सूना और आरंभ रहित मुनिको नवधाभक्तिपूर्वक शुद्ध आहारादि दे उसे दान कहते हैं।

विशेष

दानके लिए पात्र कोण?

''मोक्षके कारणरूप गुणोंका अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप गुणोंका संयोग जिसमें हो उसे पात्र कहते हैं। उसके तीन प्रकार हैं—(१) जघन्य पात्र (व्रतरहित सम्यग्दृष्टि), (२) मध्यम पात्र (देशव्रती श्रावक) और (३) उत्तम पात्र (महाव्रती मुनि)

---

१. तदात्र घ०

२. 'घ' पुस्तके अस्य श्लोकस्य स्थाने निम्नांकितः श्लोको वर्तते—
'प्रतिग्रहोच्चस्थानं च पाद्क्षालनमर्चनम्।
प्रणामो योगशुद्धिश्च भिक्षाशुद्धिश्च तेन वा॥

३. संस्कृत-टीकामें शुद्धिपदकी टीका छूटी हुई है। इससे अन्य ग्रन्थोंके आधारसे लिखा गया है।

इत्थं दीयमानस्य फलं दर्शयन्नाह—

गृहकर्मणापि निचितं कर्म विमार्ष्टि खलु गृहविमुक्तानाम्।
अतिथीनां प्रतिपूजा रुधिरमलं धावते वारि॥११४॥

जो जीव सम्यग्दृष्टि हैं वही दानके लिए पात्र है। उपरोक्त तीन प्रकारके पात्र सुपात्र हैं। सम्यक्त्वरहित बाह्यव्रत पालन करनेवाला वह कुपात्र है और जिसे सम्यग्दर्शन नहीं है तथा बाह्यव्रत–चारित्र भी नहीं है वह अपात्र है।

''अपात्र जीवोंको दुःखसे पीड़ित देखकर उसके ऊपर दयाभाव आनेके कारण उसका दुःख दूर करनेकी भावना गृहस्थ अवश्य करता है, लेकिन उसके प्रति भक्तिभाव नहीं करता, क्योंकि उसके प्रति भक्तिभाव करना वह उसके पापकी अनुमोदना है। कुपात्रको योग्य प्रकारके (करुणाबुद्धिके कारण) आहारादि दान देना चाहिए।''

''वास्तवमें जब अपना अंतरंग लोभ कषाय है उसका त्याग होता है, तब ही अपने परिणाम बाह्य वस्तुमें दान करनेके होते हैं। जिससे लोभ कषायका त्याग ही सच्चा दान है और लोभ कषाय भावहिंसाका एक भेद है; जिससे जो सत्पुरुष दान करते हैं वह ही सच्चे अहिंसा व्रत को पालते हैं।''

''स्वयंके लिए बना हुआ भोजन 'मैं मुनि महाराजको दूँ' ऐसी त्यागभावनाका स्वीकार करके तथा शोक और विषादका त्याग करके जिसका लोभ शिथिल (मंद) हुआ है ऐसे श्रावकको अवश्य अहिंसा होती है।''

''यह अतिथिसंविभाग–वैयावृत्य शिक्षाव्रतमें द्रव्यअहिंसा तो प्रगट है ही, क्योंकि दान देनेसे दूसरोंकी क्षुधा–तृषाकी पीड़ा मिटती है तथा दाता लोभका त्याग करता है, जिससे भावअहिंसा भी होती है अर्थात् दान करनेवाला अहिंसा व्रतका पालन करता है।'' ११३.

इस प्रकारसे दिये गये दानका फल दर्शाकर कहते हैं :—

श्लोक ११४
दानका फल

अन्वयार्थ—[यथा] जैसे [वारि] पानी [रुधिरम्] रुधिरको [अलम्] अत्यन्त [धावते] धो डालता है [तथा] उसी प्रकार [गृहविमुक्तानाम्] घरत्यागी [अतिथिनाम्] अतिथियोंको दिया हुआ [प्रतिपूजा] दान [गृहकर्मणा] घर सम्बन्धी आरम्भ आदिके निमित्तसे

विमार्ष्टि स्फेटयति। खलु स्फुटं। किं तत्? कर्म पापरूपं। कथंभूतं? निचितमपि उपार्जितमपि पुष्टमपि वा। केन? गृहकर्मणा सावद्यव्यापारेण। कोऽसौ कर्त्री? प्रतिपूजा दानं। केषां अतिथीनां न विद्यते तिथिर्येषां तेषां। किंविशिष्टानां? गृहविमुक्तानां गृहरहितानां। अस्यैवार्थस्य समर्थनार्थं दृष्टान्तमाह—रुधिरमलं धावते वारि। अलं शब्दो यथार्थे। अयमर्थो रुधिरं यथा मलिनमपवित्रं च वारि कर्तृ निर्मलं पवित्रं च धावते प्रक्षालयति तथा दानं पापं विमार्ष्टि॥११४॥

साम्प्रतं नवप्रकारेषु प्रतिग्रहादिषु क्रियमाणेषु कस्मात् कि फलं सम्पद्यत इत्याह—

उच्चैर्गोत्रं प्रणतेर्भोगो दानादुपासनात्पूजा।
भक्तेः सुन्दररूपं स्तवनात्कीर्तिस्तपोनिधिषु॥११५॥

[निचितं अपि] इकट्ठे किये गये [कर्म] पापकर्म भी [खलु] निश्चयसे [विमार्ष्टि] नष्ट कर देता है॥११४॥

टीकार्थ—जिन्होंने अन्तरङ्ग और बहिरङ्गसे घरका त्याग कर दिया है तथा सब तिथियाँ जिन्हें एकसमान हैं, किसी खास तिथिसे राग-द्वेष नहीं है ऐसे मुनियोंके लिये जो दान दिया जाता है वह सावद्य व्यापार-सपाप कार्योंसे संचित बहुत भारी कर्मको भी उसी तरह नष्ट कर देता है जिस तरह कि जल, मलिन रुधिरको धो देता है—नष्ट कर देता है।

भावार्थ :—जैसे जल रुधिरको (खुनको) अच्छी तरहसे साफ करता है, उसी प्रकार गृहत्यागी अतिथिजनोंको दिया गया आहारादिका दान, पापमय गृहकार्योंसे संचित (उपार्जित) किये गये पापोंको भी निश्चित नाश करता है।

अब पडिगाहना आदि नौ प्रकारके पुण्यकार्योंको करनेसे क्या-क्या फल प्राप्त होता है वह कहते हैं :—

श्लोक ११५
नवधा भक्तिका फल

अन्वयार्थ—[तपोनिधिषु] तपस्वीयोंको [प्रणतेः] नमस्कार करनेसे [उच्चैर्गोत्रम्] उच्च गोत्र, [दानात्] दान देनेसे [भोगः] भोग, [उपासनात्] आदर सत्कार करनेसे [पूजा] आदर सत्कार, [भक्तेः] भक्ति करनेसे [सुन्दररूपम्] सुन्दररूप, और [स्तवनात्] स्तुति करनेसे [कीर्तिः] कीर्ति होती है।

तपोनिधिषु यतिषु। प्रणतेः प्रणामकरणादुच्चैर्गोत्रं भवति। तथा दानादशनशुद्धिलक्षणाद्भोगो भवति। उपासनात् प्रतिग्रहणादिरूपात् सर्वत्र पूजा भवति। भक्तेर्गुणानुरागजनितान्तःश्रद्धाविशेषलक्षणायाः सुन्दररूपं भवति। स्तवनात् श्रुतजलधीत्यादिस्तुतिविधानात् सर्वत्र कीर्तिर्भवति॥११५॥

नन्वेवंविधं विशिष्टं फलं स्वल्पं दानं कथं सम्पादयतीत्याशंकाऽपनोदार्थमाह—

क्षितिगतमिव वटबीजं पात्रगतं दानमल्पमपि काले।
फलति च्छायाविभवं बहुफलमिष्टं शरीरभृताम्॥११६॥

टीकार्थ—तपस्वीयोंको प्रणाम करनेसे उच्चगोत्र, दानादिक देनेसे भोग, पडगाहनसे पूजा–प्रभावना, भक्ति अर्थात् गुणानुरागसे उत्पन्न श्रद्धाविशेषसे सुन्दर रूप तथा 'आप ज्ञानके सागर हैं' इत्यादि स्तुति करनेसे कीर्ति प्राप्त होती है।

भावार्थ :—वीतराग मुनिराजको नमस्कार करनेसे इन्द्रपना आदि उच्चगौत्र, दान देनेसे भोगोपभोगकी सामग्री, नवधा भक्तिसे (उपासनासे) सर्वमान्य उच्च पद भक्ति (श्रद्धा)से सुंदर रूप और स्तुति करनेसे सर्वत्र कीर्ती पाता है।

उत्तम पात्रको दान देनेसे उत्तम भोगभूमि, मध्यम पात्रको दान देनेसे मध्यम भोगभूमि और जघन्य पात्रको दान देनेसे जघन्य भोगभूमि तथा कुपात्रको दान देनेसे कुभोगभूमि मिलती है।

''आत्माका ज्ञान और आचरण न होनेसे जो परमार्थशून्य हैं ऐसे अज्ञानी छद्मस्थ विपरीत गुरुके प्रति सेवा–भक्ति करनेसे वैयावृत्य तथा आहारादिक क्रियासे जो पुण्य प्राप्त होता है उसका फल नीच देव और नीच मनुष्यपना है।'' ११५.

स्वल्प दान इस प्रकारके विशिष्ट फलको किस प्रकार देता है? ऐसी आशंकाको दूर करनेके लिए कहते हैं—

श्लोक ११६
अल्पदानसे महाफलकी प्राप्ति

अन्वयार्थ—[काले] उचित समयमें [पात्रगतम्] पात्रको दिया हुआ [अल्पं अपि

अल्पमपि दानमुचितकाले। पात्रगतं सत्पात्रे दत्तं। शरीरभृतां संसारिणां। इष्टं फलं बह्वनेकप्रकारं सुन्दररूपभोगोपभोगादिलक्षणं फलति। कथंभूतं? छायाविभवं छाया माहात्म्यं विभवः सम्पत् तौ विद्येते यत्र। अस्यैवार्थस्य समर्थनार्थं क्षितीत्यादिदृष्टान्तमाह। क्षितिगतं सुक्षेत्रे निक्षिप्तं यथा अल्पमपि वटबीजं बहुफलं फलति। कथं? छायाविभवं छाया आतपनिरोधिनी तस्या विभवः प्राचुर्यं यथा भवत्येवं फलति॥११६॥

दानम्] थोडा भी दान [क्षितिगतम्] योग्य क्षेत्रमें बोया गया [वटबीजम्] वडका बीज [छायाविभव इव] छायाके वैभवकी तरह [शरीराभृताम्] संसारी जीवोंको [इष्टम्] इष्ट [बहुफलम्] बहुत फलको [फलति] ''फलता'' है, देता है॥११६॥

टीकार्थ—जिस प्रकार उत्तम भूमिमें उचित समयमें बोया हुआ छोटा–सा वटका बीज संसारी जीवोंको बहुत भारी छायाके साथ बहुतसे इष्ट फलको फलता है, उसी प्रकार उचित समयमें सत्पात्रके लिये दिया हुआ थोड़ा भी दान संसारी प्राणियोंके लिए अभिलषित सुन्दर रूप तथा भोगोपभोग आदि अनेक प्रकारके फलको प्रदान करता है। दानपक्षमें 'छाया–विभव' का समास इस प्रकार होता है—**'छाया माहात्म्यं विभवः सम्पत् तौ विद्येते यस्मिन् इति फलस्य विशेषणं'** छायाका अर्थ माहात्म्य होता है। और विभवका अर्थ सम्पत्ति होता है। छाया और माहात्म्य ये दोनों जिस फलमें विद्यमान हैं उस फलको दान देता है। वटबीजपक्षमें छायाका अर्थ अनातप—धामका अभाव होता है और विभवका अर्थ प्राचुर्य–अधिकता लिया जाता है। **'छाया आतपनिरोधिनी तस्या विभवः प्राचुर्य यथाभवत्येवं'** इस प्रकार क्रिया–विशेषण किया जाता है।

भावार्थ :—जैसे फलद्रुप जमीनमें बोया छोटासा वड़का बीज, योग्यकालमें विशाल छाया और अनेक फलरूपसे फलता है, उसी प्रकार योग्यपात्रको दिया गया अल्पदान भी योग्य समय पर जीवको (दातारको) विशाल ऐश्वर्य, संपत्ति और इच्छानुसार अनेक भोगोपभोगादिक फलरूप फलता है।

विशेष

रयणसारमें कहा है कि—

सप्पुरिसाणं दाणं कप्पतरुणं फलाण सोहं वा।
लोहीणं दाणं जइ विमाण सोहा सव्वस्स जाणेह॥

सत्पुरुषोंको दिया गया दान कल्पतरुओंकी शोभा जैसा है और लोभी–पापी पुरुषोंको दिया गया दान मृतक क्लेवरकी अर्थीकी शोभा जैसा है।

तच्चैवंविधफलसम्पादकं दानं चतुर्भेदं भवतीत्याह—

आहारौषधयोरप्युपकरणावासयोश्च दानेन।
वैयावृत्यं ब्रुवते चतुरात्मत्वेन चतुरस्राः॥११७॥

वैयावृत्यं दानं ब्रुवते प्रतिपादयंति। कथं? चतुरात्मत्वेन चतुःप्रकारत्वेन। के ते? चतुरस्राः पण्डिताः। तानेव चतुष्प्रकारान् दर्शयन्नाहारेत्याद्याह—आहारश्च भक्तपानादिः औषधं च व्याधिस्फोटकं द्रव्यं तयोर्द्वयोरपि दानेन। न केवल तयोरेव अपि तु

दानमें विशेषता

तत्त्वार्थसूत्रमें कहा है कि–"विधिद्रव्यदातृपात्तविशेषात्तद्विशेषः"। अध्याय ७/३९. विधिविशेष, द्रव्यविशेष, दातृविशेष और पात्रविशेषसे दानमें विशेषता होती है।

(१) विधिविशेष :—नवधाभक्तिके क्रमको विधिविशेष कहते हैं।

(२) द्रव्यविशेष :—तप, स्वाध्याय आदिकी वृद्धिमें कारण ऐसे आहारादिको द्रव्यविशेष कहते हैं।

(३) दातृविशेष :—जो दातार श्रद्धा आदि सात गुणोंसे सहित होता है उसे दातृविशेष कहते हैं।

(४) पात्रविशेष :—जो सम्यक्चारित्र आदि गुणोंसे सहित होता है ऐसे मुनि वगेरेको पात्रविशेष कहते हैं। ११६.

इस प्रकारके फलको प्राप्त करनेवाले दानके चार भेद हैं वह कहते हैं :—

श्लोक ११७
दानके भेद

अन्वयार्थ—[चतुरस्राः] चार ज्ञानके धारी गणधर देवादिक [आहारौषधयौः] आहार, औषधि [अपिच] तथा [उपकरणावासयोः] ज्ञानके उपकरण शास्त्र, पाठशाला और वसतिका आदिके [दानेन] दानसे [वैयावृत्यम्] वैयावृत्य [चतुरात्मत्वेन] चार प्रकारसे [ब्रुवते] कहते हैं॥११७॥

टीकार्थ—भक्त, पान आदिको आहार कहते हैं, बीमारीको दूर करने वाले पदार्थको औषध कहते हैं, ज्ञानोपकरण आदिको उपकरण कहते हैं और वसतिका आदिको आवास कहते

उपकरणावासयोश्च उपकरणं ज्ञानोपकरणादिः आवासो वसतिकादिः ॥११७॥

तच्चतुष्प्रकारं दानं किं केन दत्तमित्याह—

श्रीषेणवृषभसेने कौण्डेशः सूकरश्च दृष्टान्ताः।
वैयावृत्यस्यैते चतुर्विकल्पस्य मन्तव्याः ॥११८॥

चतुर्विकल्पस्य चतुर्विधवैयावृत्यस्य दानस्यैते श्रीषेणादयो दृष्टान्ता मन्तव्याः।

तत्राहारदाने श्रीषेणो दृष्टान्तः। अस्य कथा—

मलयदेशे रत्नसंचयपुरे राजा श्रीषेणो राज्ञी सिंहनन्दिता द्वितीया अनिन्दिता च। पुत्रौ

हैं। इन चारों वस्तुओंको देनेसे वैयावृत्य चार प्रकारका होता है ऐसा पण्डितजन निरूपण करते हैं।

भावार्थ :—वैयावृत्य (दान)के चार प्रकार हैं—(१) आहारदान (२) औषधदान (३) उपकरण दान (४) आवासदान। ११७.

इस चार प्रकारके दानमेंसे कौनसा दान किसने दिया वह कहते हैं :—

दान देनेमें प्रसिद्ध हुए नाम—

श्लोक ११८
चार दानके प्रसिद्ध फल भोक्ता

अन्वयार्थ—[वैयावृत्यस्य] वैयावृत्य-दानके [चतुर्विकल्पस्य] चार प्रकारके भेदमें [श्रीषेणवृषभसेने] आहारदानमें श्रीषेणराजा, औषधिदानमें वृषभसेना श्रेष्ठ पुत्री [कौण्डेशः] ज्ञानदानमें कौण्डेश ग्वाल [च] और [शूकरः] अभयदानमें शूकर इस प्रकार [एते] ये [दृष्टान्ताः] दृष्टांत [मंतव्याः] समझना चाहिये ॥११८॥

टीकार्थ—श्रीषेण राजा आहारदान, वृषभसेना औषधदान, कौण्डेश उपकरणदान और शूकर आवासदानके दृष्टान्त हैं, ऐसा जानना चाहिये।

आहारदानमें श्रीषेण राजाका दृष्टान्त है। इसकी कथा इस प्रकार है—

श्रीषेण राजाकी कथा-१

मलयदेशके रत्नसंचयपुरमें राजा श्रीषेण रहता था। उसकी बड़ी रानीका नाम

क्रमेण तयोरिन्द्रोपेन्द्रौ। तत्रैव ब्राह्मणः सात्यकिनामा, ब्राह्मणी जम्बू, पुत्री सत्यभामा। पाटलिपुत्रनगरे ब्राह्मणो रुद्रभट्टो बटुकान् वेदं पाठयति। तदीयचेटिकापुत्रश्च कपिलनामा तीक्ष्णमतित्वात् [1]छद्मना वेदं श्रृण्वन् तत्पारगो जातो। रुद्रभट्टेन च कुपितेन पाटलिपुत्रान्निर्घाटितः। [2]सोत्तरीयं यज्ञोपवीतं परिधाय ब्राह्मणो भूत्वा रत्नसंचयपुरे गतः। सात्यकिना च तं वेदपारगं सुरूपं च दृष्ट्वा सत्यभामाया योग्योऽयमिति मत्वा सा तस्मै दत्ता। सत्यभामा च रतिसमये बिटचेष्टां तस्य दृष्ट्वा कुलजोऽयं न भविष्यतीति सा सम्प्रधार्य चित्ते विषादं वहन्ती तिष्ठति। एतस्मिन् प्रस्तावे रुद्रभट्टस्तीर्थयात्रां कुर्वाणो रत्नसंचयपुरे समायातः। कपिलेन प्रणम्य निजधवलगृहे नीत्वा भोजनपरिधानादिकं कारयित्वा सत्यभामायाः सकललोकानां च मदीयोऽयं पितेति कथितम्। सत्यभामया चैकदा रुद्रभट्टस्य विशिष्टं भोजनं बहुसुवर्णं च दत्वा पादयोर्लगित्वा पृष्टं—तात! तव शीलस्य लेशोऽपि कपिले नास्ति, ततः किमयं तव पुत्रो भवति न वेति सत्यं मे कथय। ततस्तेन कथितं,

---

सिंहनन्दिता और छोटी रानीका नाम अनिन्दिता था। दोनों रानियोंके क्रमसे इन्द्र और उपेन्द्र नामके दो पुत्र उत्पन्न हुए। उसी नगरमें एक सात्यकि नामका ब्राह्मण रहता था। उसकी स्त्रीका नाम जम्बू और पुत्रीका नाम सत्यभामा था। पाटलिपुत्रनगरमें एक रुद्रभट्ट नामका ब्राह्मण बालकोंको वेद पढ़ाया करता था। उसकी दासीका पुत्र कपिल तीक्ष्णबुद्धि होनेसे छलपूर्वक वेदको सुनता हुआ उसका पारगामी विद्वान् हो गया। रुद्रभट्टने क्रुद्ध होकर उस कपिलको पाटलीपुत्र नगरसे बाहर निकाल दिया।

वह कपिल दुपट्टा सहित यज्ञोपवितको धारणकर ब्राह्मण बन रत्नसंचय नगरमें चला गया। सात्यकि ब्राह्मणने उसे वेदका पारगामी तथा सुन्दर देख 'यह सत्यभामाके योग्य है' ऐसा मान उसके लिये सत्यभामा दे दी। सत्यभामा, रतिके समय उसकी विट जैसी चेष्टा देखकर 'यह कुलीन होगा या नहीं' ऐसा विचारकर मनमें खेदको धारण करती हुई रहती थी। इसी अवसरपर रुद्रभट्ट तीर्थयात्रा करता हुआ रत्नसंचय नगरमें आया। कपिल, उसे प्रणामकर अपने सफेदगृहमें ले गया तथा भोजन और वस्त्र आदि दिलाकर उसने सत्यभामा तथा अन्य समस्त लोगोंके सामने कहा कि 'यह मेरा पिता है।' सत्यभामाने एक दिन रुद्रभट्टको विशिष्ट भोजन तथा बहुत–सा सुवर्ण देकर उसके पैरोंमें लगकर पूछा कि हे तात्! कपिलमें आपके स्वभावका अंश भी नहीं, इसीलिये यह आपका पुत्र है अथवा नहीं, यह मेरे लिये सत्य कहिये। तदनन्तर रुद्रभट्ट ने कहा कि हे पुत्री! यह मेरी दासीका पुत्र है। यह सुनकर वह उसके ऊपर विरक्त

---

१. कर्णलब्ध्या वेदंश्रृण्वान घ। २. सोत्तरीययज्ञोपवीतं घ।

पुत्री! मदीयचेटिकापुत्र इति। एतदाकर्ण्य तदुपरि विरक्ता सा हठादयं मामभिगमिष्यतीति मत्वा सिंहनन्दिताग्रमहादेव्याः शरणं प्रविष्टा, तया च सा पुत्री ज्ञाता। एवमेकदा श्रीषेणराजेन परमभक्त्या विधिपूर्वकमर्ककीर्त्यामितगतिचारणमुनिभ्यां दानं दत्तम्। तत्फलेन राज्ञा सह भोगभूमावुत्पन्ना। तदनुमोदनात् सत्यभामापि तत्रैवोत्पन्ना। स राजा श्रीषेणो दानप्रथमकारणात् पारंपर्येण शान्तिनाथतीर्थंकरो जातः। आहारदानफलम्।

औषधदाने वृषभसेनाया दृष्टान्तः। अस्याः कथा—

जनपददेशे कावेरीपत्तने राजोग्रसेनः, श्रेष्ठी धनपतिः, भार्या धनश्रीः, पुत्री वृषभसेना, तस्या धात्री रूपवती नामा। एकदा वृषभसेनास्नानजलगर्तायां रोगगृहीतं कुक्कुरं पतितलुठितोऽत्थितं रोगरहितमालोक्य चिन्तितं धात्र्या—पुत्रीस्नानजलमेवास्यारोग्यत्वे कारणम्। ततस्तया धात्र्या निजजनन्या द्वादशवार्षिकाक्षिरोगगृहीतायाः कथिते तया लोचने तेन जलेन परीक्षार्थमेकदिने धौतेदृष्टी च शोभने जाते। ततः सर्वरोगापनयने सा धात्री

हो गई तथा 'यह हठपूर्वक मेरे पास आवेगा' ऐसा मानकर वह सिंहनन्दिता नामक बड़ी रानीकी शरणमें चली गई। सिंहनन्दिताने उसे पुत्री मानकर रख लिया। एक दिन श्रीषेण राजाने परमभक्तिसे विधिपूर्वक अर्ककीर्ति और अमितगति नामक चारण मुनियोंको दान दिया। उसके फलस्वरूप वह रानी राजाके साथ भोगभूमिमें उत्पन्न हुई। सत्यभामाने भी उस दानकी अनुमोदना की थी, इसलिये वह भी उसी भोगभूमिमें उत्पन्न हुई। राजा श्रीषेण आहारदानके कारण परम्परासे शान्तिनाथ तीर्थंकर हुये। यह आहारदानका फल है। (१)

औषधदानमें वृषभसेनाका दृष्टान्त है। उसकी कथा इस प्रकार है—

वृषभसेनाकी कथा-२

जनपददेशके कावेरीपत्तन नामक नगरमें राजा उग्रसेन रहते थे। वहीं एक धनपति नामका सेठ रहता था। उसकी स्त्रीका नाम धनश्री था। उन दोनोंके वृषभसेना नामकी पुत्री थी। वृषभसेनाकी रूपवती नामकी धाय थी। एक दिन वृषभसेनाके स्नानजलके गड्ढेमें एक रोगी कुत्ता गिरकर जब उसमें लोटनेके बाद निकला तो वह रोगरहित हो गया। उसे देखकर धायने विचार किया कि इसकी नीरोगताका कारण पुत्रीका स्नानजल ही है। तदनन्तर धायने यह समाचार अपनी मातासे कहा। उसकी माता बारह वर्षसे नेत्ररोगसे पीड़ित थी। माताने एक दिन परीक्षाके लिये अपने नेत्र उस जलसे धोये तो धोतेके साथ ठीक दिखने लगा। इस घटनासे वह धाय उस नगरमें सब रोगोंको दूर करनेवाली है, इस तरह प्रसिद्ध हो गई।

प्रसिद्धा तत्र नगरे संजाता। एकदोग्रसेनेन रणपिंगलमंत्री बहुसैन्योपेतो मेघपिंगलोपरि प्रेषितः। स तं देशं प्रविष्टो विषोदकसेवनात् ज्वरेण गृहीतः। स च व्याघुट्यागतः रूपवत्या च तेन जलेन नीरोगीकृतः। उग्रसेनोऽपि कोपात्तत्र गतः तथा ज्वरितो व्याघुट्यायातो रणपिंगलाज्ञलवृत्तान्तमाकर्ण्य तज्ञलं याचितवान्। ततो मंत्र उक्तो धनश्रिया भोः श्रेष्ठिन्! कथं नरपतेः शिरसि पुत्रीस्नानजलं क्षिप्यते? धनपतिनोक्तं यदि पृच्छति राजा जलस्वभावं तदा सत्यं कथ्यते न दोषः। एवं भणिते रूपवत्या तेन जलेन नीरोगीकृत उग्रसेनः। ततो नीरोगेण राज्ञा पृष्टा रूपवती जलस्य माहात्म्यम्। तया च सत्यमेव कथितं। ततो राज्ञा व्याहूतः श्रेष्ठी, स च भीतः राज्ञः समीपमायातः। राजा च गौरवं कृत्वा वृषभसेनां परिणेतुं स याचितः। ततः श्रेष्ठिना भणितं देव! यद्यष्टाह्निकां पूजां जिनप्रतिमानां करोषि तथा पंजरस्थान् पक्षिगणान् मुञ्चसि तथा गुप्तिषु सर्वमनुष्यांश्च मुञ्चसि तदा ददामि। उग्रसेनेन च तत् सर्वं कृत्वा परिणीता वृषभसेना पट्टरानी च कृता। अतिवल्लभया तयैव च सह विमुच्यान्यकार्य क्रीडां करोति। एतस्मिन् प्रस्तावे यो वाराणस्याः पृथिविचन्द्रो नाम राजा

एक समय राजा उग्रसेनने अपने रणपिङ्गल नामक मन्त्रीको बहुत सेनासे युक्त कर मेघपिङ्गलके ऊपर (चढ़ाई करने) भेजा। मन्त्री ज्यों ही उस देशमें प्रविष्ट हुआ त्यों ही विषमिश्रित पानीका सेवन करनेसे ज्वरसे ग्रसित हो गया। जब वह लौटकर आया तब रूपवती धायने उसे उस जलसे नीरोग कर दिया। राजा उग्रसेन भी क्रोधवश वहाँ गया और ज्वरसे आसक्त हो लौटकर आ गया। रणपिङ्गलसे जलका वृत्तान्त सुनकर राजाने भी उस जलकी याचना की। तदनन्तर धनश्री सेठानीने सेठसे सलाह दी कि हे श्रेष्ठिन्! राजाके शिरपर पुत्रीका स्नानजल कैसे डाला जावे? धनपति सेठने कहा कि यदि राजा जलका स्वभाव पूछता है तो सत्य कह दिया जावेगा, उसमें दोष नहीं है। ऐसा कहने पर रूपवती धायने उग्रसेन राजाको उस जलसे नीरोग कर दिया। तदनन्तर नीरोग राजाने रूपवतीसे जलका माहात्म्य पूछा। रूपवतीने सब सत्य ही कह दिया। पश्चात् राजाने सेठको बुलाया, सेठ डरते-डरते राजाके पास आया। राजाने सम्मान कर उससे वृषभसेनासे विवाह करनेकी याचना की। तदनन्तर सेठने कहा कि हे राजन्! यदि तुम जिनप्रतिमाओंकी अष्टाह्निक पूजा करते हो, पिंजड़ोंमें स्थित समस्त पक्षियोंको छोड़ देते हो और बन्दीगृहमें स्थित सब मनुष्योंको बन्धनसे मुक्त करते हो तो मैं अपनी पुत्री(वृषभसेना) देता हूँ। राजा उग्रसेनने वह सब कर वृषभसेनाको विवाह लिया और उसे पट्टरानी बना दिया। राजा अन्य सब कार्योंको छोड़कर अतिशय प्रिय उसी वृषभसेनाके साथ क्रीड़ा करने लगा।

इसी अवसर पर वाराणसीका एक पृथ्वीचन्द्र नामक राजा उसके यहाँ कैद था। उसे

धृत आस्ते सोऽतिप्रचण्डत्वात्तद्विवाहकालेऽपि न मुक्तः। ततस्तस्य या राज्ञी नारायणदत्ता तया मंत्रिभिः सह मंत्रयित्वा पृथिवीचन्द्रमोचनार्थं वाराणस्यां सर्वत्रावारितसत्कारा वृषभसेनाराज्ञीनाम्ना कारितास्तेषु भोजनं कृत्वा कावेरीपत्तनं ये गतास्तेभ्यो ब्राह्मणादिभ्यस्तं वृत्तान्तमाकर्ण्य रुष्टया रूपवत्या भणिता वृषभसेने! त्वं मामपृच्छन्ती वाराणस्यां कथं सत्कारान् कारयसि? तया भणितमहं न कारयामि किन्तु मम नाम्ना केनचित्कारणेन केनापि कारिताः। तेषां शुद्धि कुरु त्वमिति चरपुरुषैः कृत्वा यथार्थं ज्ञात्वा तया वृषभसेनायाः सर्वं कथितम्। तया च राजानं विज्ञाप्य मोचितः पृथिवीचन्द्रः। तेन च चित्रफलके वृषभसेनोग्रसेनयो रूपे कारिते। तयोरधो निजरूपं सप्रणामं कारितम्। स फल-कस्तयोर्दर्शितः भणिता च वृषभसेना राज्ञी—देवि! त्वं मम मातासि त्वत्प्रसादादिदं जन्म सफलं मे जातं। तत उग्रसेनः सन्मानं दत्वा भणितवान्—त्वया मेघपिंगलस्योपरि गंतव्यमित्युक्त्वा स च ताभ्यां वाराणस्यां प्रेषितः। मेघपिंगलोऽप्येतदाकर्ण्य ममायं पृथिवीचन्द्रो मर्मभेदीति पर्यालोच्यागत्य चोग्रसेनस्यातिप्रसादितः सामन्तो जातः। उग्रसेनेन

अत्यन्त शक्तिशाली होनेके कारण राजाने वृषभसेनाके विवाहके समय भी कैदसे नहीं छोड़ा था। तदनन्तर पृथिवीचन्द्रकी जो नारायणदत्ता नामकी रानी थी उसने मन्त्रियोंके साथ सलाह कर, पृथिवीचन्द्रको छुड़वानेके लिये वाराणसीमें सब जगह वृषभसेना रानीके नामसे ऐसे भोजनगृह खुलवाये, जिनमें किसीके लिये प्रवेश करनेका निषेध नहीं था। उन भोजनगृहोंमें भोजनकर जो ब्राह्मण आदिक कावेरीपत्तन गये थे उनसे उस वृत्तान्तको सुनकर रूपवती धायने रुष्ट हो वृषभसेनासे कहा कि हे वृषभसेने! तू मुझसे बिना पूछे ही वाराणसीमें भोजनगृह क्यों बनवा रही है? वृषभसेनाने कहा कि मैं नहीं बनवा रही हूँ किन्तु मेरे नामसे किसी कारणवश किसी अन्यने बनवाये हैं, तुम इसका पता चलाओ। तदनन्तर गुप्तचरोंसे पता चलाकर तथा यथार्थ बात जानकर उसने वृषभसेनासे सब समाचार कहा। वृषभसेनाने यह सब राजासे कहकर पृथिवीचन्द्रको बन्धनसे छुड़वा दिया।

पृथिवीचन्द्रने एक चित्रपट्टपर वृषभसेना और उग्रसेनके चित्र बनवाये तथा उनके नीचे प्रणाम करता हुआ अपना चित्र बनवाया। वह चित्रपट्ट उन दोनोंके लिए दिखाया गया और वृषभसेना रानीसे कहा कि हे देवी! तुम मेरी माता हो, तुम्हारे प्रसादसे मेरा यह जन्म सफल हुआ है। तदनन्तर उग्रसेनने सम्मान देकर कहा कि तुम्हें मेघपिङ्गलके ऊपर (चढ़ाई करने) जाना चाहिए, ऐसा कहकर उन दोनोंने उसे वाराणसी भेज दिया। मेघपिङ्गल भी यह सुनकर तथा 'यह पृथिवीचन्द्र मेरा मर्मभेदी है' ऐसा विचारकर आया और उग्रसेनसे सम्मान प्राप्त कर उसका

चास्थानस्थितस्य यन्मे प्राभृतमागच्छति तस्यार्धं मेघपिंगलस्य दास्यामि अर्धं च वृषभसेनाया इति व्यवस्था कृता। एवमेकदा रत्नकंबलद्वयमागतमेकैकं सनामाङ्कं कृत्वा तयोर्दत्तं। एकदा मेघपिंगलस्य राज्ञी विजयाख्या मेघपिंगलकम्बलं प्रावृत्य प्रयोजनेन रूपवतीपार्श्वे गता। तत्र कम्बलपरिवर्तो जातः। एकदा वृषभसेनाकम्बलं प्रावृत्त्य मेघपिंगलः सेवायामुग्रसेन-सभायामागतः राजा च तमालोक्यातिकोपाद्रक्ताक्षो बभूव। मेघपिंगलश्च तं तथाभूतमालोक्य ममोपरि कुपितोऽयं राजेति ज्ञात्वा दूरं नष्टः। वृषभसेना च रुष्टेनोग्रसेनेन मारणार्थं समुद्रजले निक्षिप्ता। तया च प्रतिज्ञा गृहीता यदि एतस्मादुपसर्गादुद्धरिष्यामि तदा तपः करिष्यामीति। ततो व्रतमाहात्म्याज्जलदेवतया तस्याः सिंहासनादिप्रातिहार्यं कृतम्। तच्छ्रुत्वा पश्चात्तापं कृत्वा राजा तमानेतुं गतः। आगच्छता वनमध्ये गुणधरनामाऽवधिज्ञानी मुनिर्दृष्टिः। स च वृषभसेनया प्रणम्य निजपूर्वभवचेष्टितं पृष्टः। कथितं च भगवता। यथा—पूर्वभवे त्वमत्रैव ब्राह्मणपुत्री नागश्री नामा जातासि। राजकीयदेवकुले सम्मार्जनं करोषि तत्र देवकुले

सामन्त बन गया। राजा उग्रसेनने ऐसी व्यवस्था की कि राजसभामें स्थित रहते हुए मेरे लिये जो भेंट आती है उसका आधा भाग मेघपिङ्गलको दूँगा और आधा भाग वृषभसेनाके लिए। इस प्रकारकी व्यवस्था किये जानेपर एक दिन रत्नकम्बल भेंटमें आये। राजाने उसे नामसे चिह्नि तकर एक-एक कम्बल दोनोंके लिए दे दिया।

एक दिन मेघपिङ्गलकी रानी विजया, मेघपिङ्गलका कम्बल ओढ़कर किसी कार्यसे रूपवतीके पास गई। वहाँ उसका कम्बल बदल गया अर्थात् वृषभसेनाके नामसे अंकित कम्बलको ले आई और मेघपिङ्गलके नामसे अङ्कित कम्बलको वहाँ छोड़ आई। एक दिन वृषभसेनाके कम्बलको ओढ़कर मेघपिंगल सेवाके समय राजा उग्रसेनकी सभामें गया। और राजा उग्रसेन उस कम्बलको देखकर अत्यन्त क्रोधसे लाल-लाल नेत्रोंवाला हो गया। मेघपिंगल, उसे उस प्रकारका देख, 'यह मेरे ऊपर कुपित है' ऐसा जानकर दूर चला गया। और क्रोधसे युक्त राजा उग्रसेनने मारनेके लिए वृषभसेनाको समुद्रके जलमें फिकवा दिया। वृषभसेनाने प्रतिज्ञा की—यदि उस उपसर्गसे उद्धार पा सकूँगी तो तप करूँगी। तदनन्तर व्रतके माहात्म्यसे जलदेवताने उसके लिए सिंहासन आदि का अतिशय किया। यह सुनकर पश्चात्ताप करता हुआ राजा उसे लेनेके लिए गया। वापिस आते हुए राजाने वनके बीच एक गुणधर नामके अवधिज्ञानी मुनिको देखा। वृषभसेनाने नमस्कार कर उनसे अपने पूर्वभवका समाचार पूछा। भगवान् मुनिने कहा—कि तू पूर्वभवमें इसी नगरीमें नागश्री नामकी ब्राह्मणपुत्री थी और राजाके देवमन्दिरमें झाड़नेका कार्य करती थी। एक दिन उस मन्दिरमें अपराह्नके समय

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ - ३६४२५०

चैकदाऽपराह्णे प्राकाराभ्यन्तरे निर्वातगर्तायां मुनिःदत्तनामा मुनिः पर्यंककायोत्सर्गेण स्थितः। त्वया च रुष्टया भणितः कटकाद्राजा समायातो-ऽत्रागमिष्यतीत्युत्तिष्ठोत्तिष्ठ सम्मार्जनं करोमि लग्नेति ब्रुवाणायास्तत्र मुनिः कायोत्सर्गं विधाय मौनेन स्थितः। ततस्त्वय कचवारेण पूरयित्वोपरि सम्मार्जनं कृतम्। प्रभाते तत्रागतेन राज्ञा तत्प्रदेशे क्रीडता उच्छ्वसितनिःश्वसितप्रदेशं दृष्ट्वा उत्खन्य निःसारितश्च स मुनिः। ततस्त्वयात्मनिन्दां कृत्वा धर्मे रुचिः कृता। परमादरेण च तस्य मुनिस्त्वया तत्पीडोपशमनार्थं विशिष्टमौषधदानं वैयावृत्यं च कृतम्। ततो निदानेन मृत्वेह धनपतिधनश्रियोः पुत्री वृषभसेना नाम जातासि। औषधदानफलात् सर्वौषधर्द्धिफलं जातम्। कचवारपूरणात् कलङ्किता च। इति श्रुत्वात्मानं मोचयित्वा वृषभसेना तत्समीपे आर्यिका जाता। औषधदानस्य फलम्।

श्रुतदाने कौण्डेशो दृष्टान्तः। अस्य कथा—

[1]कुरुमणिग्रामे गोपालो गोविन्दनामा। तेन च कोटरादुद्धृत्य चिरन्तनपुस्तकं प्रपूज्य भक्त्या पद्मनन्दिमुनये दत्तम्। तेन पुस्तकेन तत्राटव्यां पूर्वभट्टारकाः केचित् किल पूजां कृत्वा

कोटके भीतर वायु रहित गहरे स्थानमें मुनिदत्त नामके एक मुनि पद्मासनसे कायोत्सर्गकर विराजमान थे। तूने क्रुद्ध होकर उनसे कहा कि कटकसे राजा यहाँ आवेंगे, अतः तुम यहाँसे उठो, मुझे झाड़ना है। इस तरह तू कहती रही, परन्तु मुनि कायोत्सर्गकर मौनसे स्थित रहे। तदनन्तर तूने कचड़ेसे उन्हें ढँककर ऊपरसे झाड़ू दे दी। प्रातःकाल जब राजा आया और क्रीड़ा करता हुआ उस स्थानपर पहुँचा तब उसने श्वासके कारण ऊँचे-नीचे होते हुए उस स्थानको देखकर खुदवाया और उन मुनिको बाहर निकाला। तदनन्तर तूने आत्मनिन्दाकर धर्ममें श्रद्धा की और उन मुनिकी पीड़ाको शान्त करनेके लिए बड़े आदरसे उन्हें विशिष्ट औषध दी तथा उनकी सेवा की। तदनन्तर निदानसे मरकर तू यहाँ धनपति और धनश्रीके वृषभसेना नामकी पुत्री हुई है। औषधदानके फलसे तुम्हें सर्वौषधऋद्धिका फल प्राप्त हुआ है। तथा मुनिको कचड़ा ढंगनेके कारण तू कलंकको प्राप्त हुई है। यह सुनकर वृषभसेना अपने आपको राजासे छुड़ाकर उन्हीं मुनिके समीप आर्यिका हो गई। यह औषधदानका फल है। (२)

शास्त्रदानमें कोण्डेशका दृष्टान्त है। उसकी कथा इस प्रकार है—

कौण्डेशकी कथा-३

कुरुमणि ग्राममें एक गोविन्द नामका ग्वाला रहता था। उसने कोटरसे निकालकर एक प्राचीन शास्त्रकी पूजा की तथा भक्तिपूर्वक पद्मनन्दी मुनिके लिये वह शास्त्र दिया। उस

१. कुरुमरि इति ग, घ० कुमार ख।

Shri Digambar Jain Swadhyay Mandir Trust, Songadh - 364250

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ - ३६४२५०

कारयित्वा च व्याख्यानं कृतवन्तः कोटरे धृत्वा च गतवन्तश्च। गोविन्देन च बाल्यात्प्रभृति तं दृष्ट्वा नित्यमेव पूजा करता वृक्षकोटर[२]स्यापि। एष स गोविन्दो निदानेन मृत्वा तत्रैव ग्रामकूटस्य पुत्रोऽभूत्। तमेव पद्मनन्दिमुनिमालोक्य जातिस्मरो जातः। तपो गृहीत्वा कोण्डेशनामा महामुनिः श्रुतधरोऽभूत्। इति श्रुतदानस्य फलम्।

वसतिदाने सूकरो दृष्टान्तः। अस्य कथा—

मालवदेशे घटग्रामे कुम्भकारो देविलनामा[३] नापितश्च धमिल्लनामा। ताभ्यां पथिकजनानां वसतिनिमित्तं देवकुलं कारितम्। एकदा देविलेन मुनये तत्र प्रथमं वसतिर्दत्ता धमिल्लेन च पश्चात् परिव्राजकस्तत्रानीय धृतः। ताभ्यां च धमिल्लपरिव्राजकाभ्यां निःसारितः स मुनिर्वृक्षमूले रात्रौ दंशमशकशीतादिकं सहमानः स्थितः। प्रभाते देविलधमिल्लौ तत्कारणेन परस्परं युद्धं कृत्वा मृत्वा विन्ध्ये क्रमेण सूकरव्याघ्रौ प्रौढौ जातौ। यत्र च गुहायां स

शास्त्रको पहलेके कितने ही भट्टारकोंने स्वयं पूजा करके तथा दूसरोंसे कराकर व्याख्यान किया था और उसके बाद वे उस शास्त्रको उसी कोटरमें रखकर चले गये थे गोविन्द बाल्य अवस्थासे ही उस शास्त्रको देखकर नित्य ही उसकी पूजा करता था। वही गोविन्द निदानसे मरकर उसी ग्राममें ग्रामप्रमुखका पुत्र हुआ। एक बार उन्हीं पद्मनन्दी मुनिको देखकर उसे जातिस्मरण हो गया, जिससे तप धारणकर वह कौण्डेश नामका बहुत बड़ा शास्त्रोंका पारगामी मुनि हुआ। वह श्रुतज्ञान—शास्त्रदानका फल है। (३)

वसतिकाके दानमें सूकरका दृष्टान्त है। इसकी कथा इस प्रकार है—

सूकरकी कथा-४

मालवदेशके घट ग्राममें एक देविल नामका कुम्हार और धमिल्ल नामका एक नाई रहता था। उन दोनोंने पथिकजनोंके ठहरनेके लिए एक धर्मस्थान बनवाया, एक दिन देविलने मुनिके लिए वहाँ पहले निवास दे दिया। पश्चात् धमिल्लने एक परिव्राजकको वहाँ लाकर ठहरा दिया। धमिल्ल और परिव्राजकने उन मुनिको वहाँसे निकाल दिया, जिससे वे वृक्षके नीचे रातभर डांश–मच्छर तथा शीत आदि की बाधाको सहन करते हुए ठहरे रहे। प्रातःकाल ऐसा करनेसे देबिल और धमिल्ल दोनोंमें परस्पर युद्ध हुआ, जिससे दोनों मरकर विन्ध्याचलमें क्रमसे सूकर और व्याघ्र हुये। वे क्रम–क्रमसे बड़े हुए। जिस गुफामें वह सूकर रहता था उसी गुफामें

---

२. वृक्षस्य इति ग०। पूजां कृत्वा वृक्षकोटरे स्थापितं इति ख०। ३. देवलनामा।

Shri Digambar Jain Swadhyay Mandir Trust, Songadh - 364250

सूकरस्तिष्ठति तत्रैव च गुहायामेकदा समाधिगुप्तत्रिगुप्तमुनि आगत्य स्थितौ। तौ च दृष्ट्वा जातिस्मरो भूत्वा देविलचरसूकरो धर्ममाकर्ण्य व्रतं गृहीतवान्। तत्प्रस्तावे मनुष्यगन्धमाघ्राय मुनिभक्षणार्थं स व्याघ्रोऽपि तत्रायातः। सूकरश्च तयो रक्षानिमित्तं गुहाद्वारे स्थितः। तत्रापि तौ परस्परं युध्वा मृतौ। सूकरो मुनिरक्षणाभिप्रायेण शुभाभिसन्धित्वात् मृत्वा सौधर्मे महर्द्धिको देवो जातः। व्याघ्रस्तु मुनिभक्षणाभिप्रायेणातिरौद्राभिप्रायत्वान्मृत्वा नरकं गतः। वसतिदानस्य फलम् ॥११८॥

यथा वैयावृत्यं विदधता चतुर्विधं दानं दातव्यं तथा पूजाविधानमपि कर्तव्य-मित्याह—

देवाधिदेवचरणे परिचरणं सर्वदुःखनिर्हरणम्।
कामदुहि कामदाहिनि परिचिनुयादादृतो नित्यम् ॥११९॥

एक दिन समाधिगुप्त और त्रिगुप्तनामके दो मुनि आकर ठहर गये। उन्हें देखकर देविलके जीव सूकरको जातिस्मरण हो गया, जिससे उसने धर्म श्रवणकर व्रत ग्रहण कर लिया। उसी समय मनुष्यकी गन्धको सूँघकर मुनियोंको खानेके लिए वह व्याघ्र भी वहाँ आ पहुँचा। सूकर, उन मुनियोंकी रक्षाके निमित्त गुफाके द्वारपर खड़ा हो गया। वहाँ भी वे दोनों परस्पर युद्ध कर मरे। सूकर, मुनियोंकी रक्षाके अभिप्रायसे अच्छे भावोंको धारण करता था, इसलिए वह मरकर सौधर्मस्वर्गमें महान्ऋद्धियोंको धारण करनेवाला देव हुआ, परन्तु व्याघ्र, मुनियोंके भक्षणके अभिप्रायसे खोटे भावको धारण करता था, इसलिए वह मरकर नरक गया। वह वसतिका दानका फल है ।।२८।।११८।।

भावार्थ :—आहारदानमें श्रीषेण राजा, औषधदानमें शेठकी पुत्री वृषभसेना, शास्त्रदानमें कौंडेश कोटवाल और आवास दानमें शूकर (भूंड) खास करके प्रसिद्ध हुए हैं। ११८.

जिस प्रकार वैयावृत्य करनेवालेको चार प्रकारका दान करना चाहिए उसी प्रकार पूजाविधान भी करना चाहिए ऐसा कहते हैं :—

श्लोक ११९

वैयावृत्यके भेदमें ही भगवत्पूजा है।

अन्वयार्थ—[अदृतः] आदर सहित श्रावकको [नित्यम्] हमेशा [कामदुहि] वांच्छित

आदृतः आदरयुक्तः नित्यं परिचिनुयात् पुष्टं कुर्यात्। किं? परिचरणं पूजां। किंविशिष्टं? सर्वदुःखनिर्हरणं निःशेषदुःखविनाशकं। क्व? देवाधिदेवचरणे देवानामिन्द्रादीनामधिको वन्द्यो देवो देवाधिदेवस्तस्य चरणः पादः तस्मिन्। कथंभूते? कामदुहि वाञ्छितप्रदे। तथा कामदाहिनि कामविध्वंसके॥११९॥

पूजामाहात्म्यं किं क्वापि केन प्रकटितमित्याशंक्याह—

अर्हच्चरणसपर्यामहानुभावं महात्मनामवदत्।
भेकः प्रमोदमत्तः कुसुमेनैकेन राजगृहे॥१२०॥

वस्तु देनेवाले तथा [कामदाहिनि] कामविकारके नाश करनेवाले [देवाधिदेवचरणे] देवाधिदेव श्री अरहंत भगवान्के चरणोंमें [सर्वदुःखनिर्हरणम्] संपूर्ण दुःखोंका नाश करनेवाली [परिचरणम्] पूजा [परिचिनुयात्] करनी चाहिए॥११९॥

टीकार्थ—इन्द्रादिक देवोंके द्वारा वन्दनीय अरहन्त भगवान् देवाधिदेव कहलाते हैं। वे वांच्छित फलको देनेवाले हैं तथा कामको भस्म करनेवाले हैं। श्रावकको चाहिये कि वह आदरपूर्वक प्रतिदिन उनके चरणोंकी पूजा करे, क्योंकि उनकी पूजा समस्त दुःखोंको हरनेवाली है।

भावार्थ :—भगवानकी पूजा सर्व दुःखोंका नाश करनेवाली है, इसलिए भक्तिभावसे युक्त होकर श्रावकको, अरहंत देवके द्वारा वांच्छित फल देनेवाले तथा विषय वासनाको दूर करनेवाले चरणोंकी नित्य पूजा करनी चाहिए। ११९.

किस कारणसे, कहाँ और किसने पूजाका माहात्म्य प्रगट किया—ऐसी आशंका करके कहते हैं :—

श्लोक १२०
पूजाके फलका प्रसिद्ध भोक्ता

अन्वयार्थ—[राजगृहे] राजगृहनगरीमें [प्रमोदमत्तः] विशिष्ट धर्मानुरागसे प्रसन्न हुआ [भेकः] मेंढक [एकेन कुसुमेन] एक फूलके द्वारा [अर्हच्चरणसपर्यामहानुभावम्] अर्हंत भगवानके चरणोंकी पूजाके महत्वको [महात्मनाम्] भव्यजीवोंको [अवदत्] कहता है॥१२०॥

मेको मण्डूकः। प्रमोदमत्तो विशिष्टधर्मानुरागेण हृष्टः। अवदत् कथितवान्। किमित्याह—अर्हदित्यादि। अर्हतश्चरणौ अर्हच्चरणौ तयोः सपर्या पूजा तस्याः महानुभावं विशिष्टं माहात्म्यं। केषामवदत्? महात्मनां भव्यजीवानां। केन कृत्वा? कुसुमेनैकेन। क्व? राजगृहे।

अस्य कथा

मगधदेशे राजगृहनगरे राजा श्रेणिकः, श्रेष्ठी नागदत्तः, श्रेष्ठिनी भवदत्ता। स नागदत्तः श्रेष्ठी सर्वदा मायायुक्तत्वान्मृत्वा निजप्राङ्गणवाप्यां भेको जातः। तत्र चागतामेकदा भवदत्ताश्रेष्ठिनीमालोक्य जातिस्मरो भूत्वा तस्याः समीपे आगत्य उपर्युत्प्लुत्य चटितः। तया च पुनः पुनर्निर्घाटितो रटति, पुनरागत्य चटति च। ततस्तया कोऽप्ययं मदीयो इष्टो भविष्यतीति सम्प्रधार्यावधिज्ञानी सुव्रतमुनिः पृष्टः। तेन च तद्वृत्तान्ते कथिते गृहे नीत्वा परमगौरवेणासौ धृतः। श्रेणिकमहाराजश्चैकदा वर्धमानस्वामिनं वैभारपर्वते समागतमाकर्ण्य आनन्दभेरीं दापयित्वा महता विभवेन तं वन्दितुं गतः। श्रेष्ठिन्यादौ च गृहजने वन्दनाभक्त्यर्थं

टीकार्थ—विशिष्ट धर्मानुरागसे हर्षित हुए मेंढकने राजगृह नगरमें भव्य जीवोंको पूजाका माहात्म्य बतलाया कि एक फूलसे ही अर्हन्तदेवके चरणोंकी पूजा करनेका क्या फल होता है। इसकी कथा इस प्रकार है–

मेंढककी कथा

मगधदेशके राजगृहनगरमें राजा श्रेणिक, नागदत्त सेठ और उसकी भवदत्ता नामकी सेठानी रहती थी। वह नागदत्त सेठ सदा मायामें युक्त रहता था, इस लिए मरकर अपने आँगनकी बावड़ीमें मेंढक हुआ। एक दिन भवदत्ता–सेठानीको आई देख उस मेंढकको जाति–स्मरण हो गया जिससे वह समीप आकर उसके ऊपर उछलकर चढ़ गया। सेठानीने उसे बार–बार अलग किया। अलग करनेपर वह टर्र–टर्र शब्द करता और फिर आकर उसके ऊपर चढ़ जाता। तदनन्तर सेठानीने विचार किया कि यह मेरा कोई इष्ट होगा ऐसा विचारकर उसने अवधिज्ञानी सुव्रत मुनिसे पूछा। मुनिके द्वारा उसका वृत्तान्त कहे जानेपर सेठानीने उसे घर ले जाकर बड़े गौरवसे रक्खा।

एक बार श्रेणिक महाराज, वर्धमानस्वामीको वैभार पर्वतपर आया सुनकर आनन्दभेरी बजवाकर बड़े वैभवसे उनकी वन्दनाके लिए गए। सेठानी आदिको लेकर घरके अन्य लोग भी जब वन्दना भक्तिके लिए चले गये तब वह मेंढक पूजाके निमित्त आँगनकी बावड़ीसे कमल

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ - ३६४२५०

गते स भेकः प्रांगणवापीकमलं पूजानिमित्तं गृहीत्वा गच्छन् हस्तिनः पादेन चूर्णयित्वा मृतः। पूजानुरागवशेनोपार्जितपुण्यप्रभावात् सौधर्मे महर्द्धिकदेवो जातः। अवधिज्ञानेन पूर्वभववृत्तान्तं ज्ञात्वा निजमुकुटाग्रे भेकचिह्नं कृत्वा समागत्य वर्धमानस्वामिनं वन्दमानः श्रेणिकेन दृष्टः। ततस्तेन गौतमस्वामी भेकचिह्नेऽस्य किं कारणमिति पृष्टः तेन च पूर्ववृत्तान्तः कथितः। तच्छ्रुत्वा सर्वे [1]जनाः पूजातिशयविधाने उद्यताः संजाता इति॥१२०॥

इदानीमुक्तप्रकारस्य वैयावृत्यस्यातीचारानाह—

हरितपिधाननिधाने ह्यनादरास्मरणमत्सरत्वानि।
वैयावृत्त्यस्यैते व्यतिक्रमाः पञ्च कथ्यन्ते॥१२१॥

पंचैते आर्यापूर्वार्धकथिता। वैयावृत्त्यस्य व्यतिक्रमाः कथ्यन्ते। तथाहि। हरितपिधाननिधाने हरितेन पद्मपत्रादिना पिधानं [2]झंपनमाहारस्य। तथा हरिते तस्मिन् निधानं

लेकर चला। जाता हुआ वह मेंढक हाथीके पाँवसे कुचलकर मर गया और पूजासम्बन्धी अनुरागके वशसे उपार्जित पुण्यके प्रभावसे सौधर्म स्वर्गमें महान् ऋद्धियोंको धारण करनेवाला देव हुआ। अवधिज्ञानसे पूर्वभवका वृत्तान्त जानकर अपने मुकुटके अग्रभागमें मेंढकका चिह्न कर वह आया, वर्धमानस्वामीको वन्दना करते समय राजा श्रेणिकने गौतमस्वामीसे पूछा कि इसे मेंढकका चिह्न रखनेमें क्या कारण है? गौतमस्वामीने उसका पूर्ववृत्तान्त कहा। उसे सुनकर सब लोग पूजाका अतिशय करनेमें उद्यत हो गये।।१२०।।

अब उक्त प्रकारके वैयावृत्यके अतिचार कहते हैं :—

श्लोक १२१
वैयावृत्त्यके अतिचार

अन्वयार्थ—[हरितपिधाननिधाने] आहारको हरे कमल पत्र आदिसे ढंकना, हरे कमल पत्र आदि पर रखना [अनादरास्मरणमत्सरत्वानि] अनादर, विस्मृति और मात्सर्य [एते] ये [पंच] पांच [वैयावृत्त्यस्य] वैयावृत्त्यके [व्यतिक्रमाः] अतिचार [कथ्यन्ते] कहे गये हैं॥१२१॥

टीकार्थ—हरे कमलपत्र आदिसे आहारको ढांकना **हरितपिधान** नामका अतिचार है। हरे कमलपत्र आदिपर आहारको रखना हरितपिधान नामका अतिचार है। देते हुए भी

---

१. भव्यजना इति ख०। २. आच्छादनं इति ख०

Shri Digambar Jain Swadhyay Mandir Trust, Songadh - 364250

स्थापनं। तस्य अनादरः प्रयच्छतोऽप्यादराभावः। अस्मरणमाहारादिदानमेतस्यां वेलायामेवंविधपात्राय दातव्यमिति आहार्यवस्तुष्विदं दत्तमदत्तमिति वा स्मृतेरभावः। मत्सरत्वमन्यदातृदानगुणासहिष्णुत्वमिति[1] ॥१२१॥

इति प्रभाचन्द्रविरचितायां समन्तभद्रस्वामिविरचितोपासकाध्ययनटीकायां चतुर्थः परिच्छेदः।

आदरका अभाव होना **अनादर** कहलाता है। आहारादि दान इस समय ऐसे पात्रके लिये देना चाहिये अथवा देने योग्य वस्तुओंमें यह वस्तु दी है अथवा नहीं दी है इस प्रकारकी स्मृतिका अभाव होना **अस्मरण** कहलाता है और अन्य दाताके दान तथा गुणोंके विषयमें असहनशीलताका होना **मत्सरत्व** कहलाता है। ये पाँच वैयावृत्य शिक्षाव्रतके अतिचार कहे जाते हैं।

भावार्थ :—(१) देनेवाली वस्तुको कमलपत्रादि हरित (सचित्त) वस्तुसे ढाँकना, (२) देनेवाली वस्तुको सचित्त वस्तुमें रखना (३) दान देनेमें अनादर करना, (४) दान देनेकी विधिके, समय और पात्रादिको भूल जाना और (५) दूसरेके दान गुणसे इर्षाबुद्धि करना—यह पाँच वैयावृत्यके (अतिथिसंविभागके) अतिचार हैं।

इस प्रकार श्री समन्तभद्रस्वामी विरचित उपासकाध्ययनकी
श्री प्रभाचन्द्रविरचित संस्कृत टीकामें
चौथा परिच्छेद पूर्ण हुआ। ४.

❀

---

१. अन्यदातृगुणोऽसहिष्णुत्वमिति घ०।

५
संल्लेखना प्रतिमाधिकार

अथ सागारेणाणुव्रतादिवत् संल्लेखनाप्यनुष्ठातव्या। सा च किं स्वरूपा कदा चानुष्ठातव्येत्याह—

उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निःप्रतीकारे।
धर्माय तनुविमोचनमाहुः संल्लेखनामार्याः ॥१२२॥

आर्या गणधरदेवादयः। संल्लेखनामाहुः। किं तत्? तनुविमोचनं शरीरत्यागः। कस्मिन् सति? उपसर्गे तिर्यङ्मनुष्यदेवाचेतनकृते। निःप्रतीकारे प्रतीकारागोचरे। एतच्च

अब श्रावकोंको अणुव्रतादिकी तरह संल्लेखना भी करनी चाहिए। उसका क्या स्वरूप है वह कब और किस प्रकार करनी चाहिए वह कहते हैं :—

श्लोक १२२
सल्लेखनाका स्वरूप

अन्वयार्थ—[आर्याः] श्रेष्ठ पुरुष [निष्प्रतीकारे] प्रतीकार रहित [उपसर्गे] उपसर्ग आने पर [दुर्भिक्षे] दुष्काल आनेपर [जरसि] बुढ़ापा आने पर [च] और [रुजायाम्] रोग होने पर [धर्माय] रत्नत्रयरूप धर्मकी आराधनाके लिये [तनुविमोचनम्] शरीरके त्याग करनेको [सल्लेखनाम्] सल्लेखना [आहुः] कहते हैं॥१२२॥

टीकार्थ—उपद्रवको उपसर्ग कहते हैं। यह तिर्यञ्च, मनुष्य, देव और अचेतनकृत होनेसे चार प्रकारका होता है। जिसमें अन्नकी कमी होनेसे भिक्षाका मिलना भी कठिन हो जाता है उसे दुर्भिक्ष कहते हैं। वृद्धावस्थाके कारण जिसमें शरीर अत्यन्त जीर्ण हो जाता है उसे जरा कहते हैं, और उपस्थित हुए रोगको रुजा कहते हैं। जब ये चारों वस्तुएँ इस रूपमें

विशेषणं दुर्भिक्षजरारुजानां प्रत्येकं सम्बन्धनीयं। किमर्थं तद्विमोचनं? धर्माय रत्नत्रयाराधनार्थं न पुनः परस्य ब्रह्महत्याद्यर्थं॥१२२॥

उपस्थित हों कि उनका प्रतिकार ही न किया जा सके तब रत्नत्रयरूप धर्मकी आराधनाके लिये शरीर छोड़नेको सल्लेखना कहते हैं। स्वपरके प्राणघातके लिये जो शरीरत्याग होता है वह सल्लेखना नहीं है।

भावार्थ :—बेईलाज (निरुपाय) उपसर्ग आने पर, दुष्काल पड़ने पर, वृद्धावस्था आने पर और असाध्य रोग होने पर, रत्नत्रयस्वरूप धर्मकी आराधनाके लिए कषायको कृष करके शरीरका त्याग करना उसे संल्लेखना कहते हैं।

विशेष

संल्लेखनाको समाधिमरण या सन्यासमरण भी कहते हैं। सम्यक्प्रकारसे कषाय और कायको कृष करना उसे संल्लेखना कहते हैं।

कषायोंको कृष करना–मंद करना वह निश्चय संल्लेखना है और कषाय मंद होते आहार-जलादि प्रति उपेक्षाभाव होना और इस कारणसे शरीरका कृष होना वह व्यवहार संल्लेखना है ।

चित्तको शांत अर्थात् राग–द्वेषकी मंदता युक्त करना उसे समाधि कहते हैं और पर पदार्थोंके प्रति ममत्वभावनाका त्याग करना, उसे संन्यास कहते हैं।

इस प्रकार काय–कषायको कृष करके, स्वरूपका ध्यान करके, शांत चित्तसे शरीरका त्याग करना वह समाधिमरण है। उसके दो भेद है :—(१) अविचार समाधिमरण और (२) सविचार समाधिमरण।

(१) अविचार समाधिमरण

अचानक देव, मनुष्य, तिर्यंच अथवा अचेतनकृत उपसर्ग आ जाए, घरमें लगी आगसे बचनेका उपाय नहीं रहे, समुद्र, नदीमें जहाज डुबनेकी तैयारीमें हो, एकाएक सर्प डसे और उसके उपायके लिए कोई समय नहीं रहे, प्राणघातक डाकू घेर ले—ऐसे अचानक प्रश्न उपस्थित होने पर स्वयंके शरीरको स्वयमेव विनाश सन्मुख आता जानकर संन्यास धारण करना, वह अविचार समाधिमरण है।

(२) सविचार समाधिमरण

संयमका पालन न हो सके, शरीर जीर्ण हो गया हो, वृद्धावस्था आ जाए, दृष्टि अति मंद हो जाए, पैरोंसे नहीं चला जाए, असाध्य रोग हो जाए, मरण काल अति निकट आ जाए—ऐसी दशामें स्वयंके शरीरको पकेपान समान अथवा तेलरहित दीपक समान स्वयं विनाश सन्मुख जानकर काय–कषायकी कृषताके लिए अंतमें चार प्रकारके आहारका त्याग

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ - ३६४२५०

संल्लेखनायां[1] भव्यैर्नियमेन प्रयत्नः कर्तव्यः, यतः—

अन्तक्रियाधिकरणं[2] तपःफलं सकलदर्शिनः स्तुवते।
तस्माद्यावद्विभवं समाधिमरणे प्रयतितव्यम् ॥१२३॥

सकलदर्शिनः स्तुवते प्रशंसन्ति। किं तत्? तपःफलं तपसः फलं तपःफलं सफलं तप इत्यर्थः। कथंभूतं सत्? अन्तःक्रियाधिकरणं अन्ते क्रिया संन्यासः तस्या अधिकरणं समाश्रयो यत्तपस्तत्फलं। यत एवं, तस्माद्यावद्विभवं यथाशक्ति। समाधिमरणे प्रयतितव्यं प्रकृष्टो यत्नः कर्तव्यः॥१२३॥

करके धर्मध्यान सहित मरण करना, वह सविचार समाधिमरण है।

अगर मरणमें कोई संदेह हो तो मर्यादापूर्वक ऐसी प्रतिज्ञा की जाये कि "जो इस उपसर्गमें मेरा मरण हो जाए तो मेरे आहारादिकका सर्वथा त्याग है और कदाचित् जीवन शेष रहे तो आहारादिकको ग्रहण करूँगा। १२२.

संल्लेखनाके विषयमें भव्यको नियमसे प्रयत्न करना चाहिए, ऐसा कहते हैं :—

श्लोक १२३
सल्लेखनाकी आवश्यकता

अन्वयार्थ—[सकलदर्शिनः] सर्वज्ञदेव [अन्तःक्रियाधिकरणम्] मरणके समय समाधिमरणको आश्रय करनेरूप [तपः फलम्] तपका फल [स्तुवते] कहते हैं [तस्मात्] इसलिए [यावद्विभवम्] यथाशक्ति [समाधिमरणे] समाधिमरणके लिए [प्रयतितव्यम्] प्रयत्न करना चाहिए॥१२३॥

टीकार्थ—अन्त समयकी क्रिया अर्थात् मृत्युके समय संन्यासको धारण करना ही तपका फल (सफलता) है, ऐसा सर्वदर्शी–सर्वज्ञ भगवान् कहते हैं अथवा सर्वज्ञदेव उसी तपके फलकी प्रशंसा करते हैं जो अन्त समय संन्यासका आश्रय लेता है। जब ऐसा है तब अपनी पूर्णशक्ति लगाकर समाधिमरणके विषयमें प्रयत्न करना चाहिये।

भावार्थ :—तपश्चरण करनेका फल अन्तिम क्रियाके उपर आधार रखता है, अर्थात् मृत्यु समय समाधिमरण करनेसे ही तपश्चरण फलीभूत होता है। जो समाधिमरण

---

१. संल्लेखनायां च भव्यः घ०। २. अन्तक्रियाधिकरणम्, इति पाठान्तरम्।

Shri Digambar Jain Swadhyay Mandir Trust, Songadh - 364250

तत्र यत्नं कुर्वाण एवं कृत्वेदं कुर्यादित्याह—

स्नेहं वैरं सङ्गं परिग्रहं चापहाय शुद्धमनाः।
स्वजनं परिजनमपि च क्षान्त्वा क्षमयेत्प्रियैर्वचनैः॥१२४॥
आलोच्य सर्वमेनः कृतकारितमनुमतं च निर्व्याजम्।
आरोपयेन्महाव्रतमामरणस्थायि निश्शेषम्॥१२५॥ युगलं।

नहीं होवे तो जीवनभर जो जप तप किया वह सब वृथा है, इसलिए समाधिमरण (संल्लेखना)के विषयमें स्वयंकी पूर्ण शक्तिसे प्रयत्न करना चाहिए।

''मैंने जो जीवनपर्यंत पुण्यरूप कार्य किया है उसमें धर्मका पालन किया है, उस धर्मको मेरे साथ ले जानेके लिए यह एक संल्लेखना ही समर्थ है—ऐसा विचार करके श्रावकको अवश्य समाधिमरण करना चाहिए।''

''मैं मरणके समय अवश्य शास्त्रोक्त विधिसे समाधिमरण करूँगा—इस प्रकार भावनारूप परिणति करके मरणकाल आनेसे पहले ही यह संल्लेखना व्रत पालना चाहिए अर्थात् अंगीकार करना चाहिए।'' १२३.

समाधिमरणके विषयमें यत्न करनेवालेको यह करना चाहिए—ऐसा कहते हैं :—

श्लोक १२४-१२५
समाधिमरण करनेकी (सल्लेखनाकी) विधि

अन्वयार्थ—[स्नेहम्] प्रीति [वैरम्] द्वेष [संगम्] ये पुत्रादिक मेरे हैं और मैं इनका हूँ इस प्रकारका सम्बन्ध [च] और [परिग्रहम्] बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रहको [अपहाय] छोड़कर [शुद्धमनाः] निर्मल अंतःकरणवाला होकर [स्वजनम्] अपने कुटुम्बी आदि [अपि च] तथा [परिजनम्] दूसरे मनुष्योंको [क्षान्त्वा] क्षमा करके [प्रियैः] प्रिय [वचनैः] वचनोंसे [क्षमयेत्] क्षमा करावे॥१२४॥

अन्वयार्थ—[च] और [कृतकारितम्] कृत, कारित और [अनुमतम्] अनुमोदनासे [सर्वम्] संपूर्ण [एनः] पापोंका [निर्व्याजम्] निच्छल अर्थात् आलोचना आदि दश दोषोंसे रहित [आलोच्य] आलोचना करके [आमरणस्थायि] मरणपर्यंत [निःशेषम्] पाँचों प्रकारके [महाव्रतम्] महाव्रतको [आरोपयेत्] स्थापन करे॥१२५॥

स्वयं क्षान्त्वा। प्रियैर्वचनैः स्वजनं परिजनमपि क्षमयेत्। किं कृत्वा? अपहाय त्यक्त्वा। कं? स्नेहमुपकारके वस्तुनि प्रीत्यनुबन्धं। वैरमनुपकारकं द्वैषानुबन्धं। संगं पुत्रस्त्र्यादिकं। ममेदमहमस्येत्यादिसम्बंधं परिग्रहं बाह्याभ्यन्तरं। एतत्सर्वमपहाय शुद्धमना निर्मलचित्तः सन् क्षमयेत्। तथा आरोपयेत् स्थापयेदात्मनि। किं तत्? महाव्रतम् कथंभूतं? आमरणस्थायि मरणपर्यन्तं निःशेषं च पंचप्रकारमपि। किं कृत्वा? आलोच्य। किं तत्? एनो दोषं। किं तत्? सर्वं कृतकारितमनुमतं च। स्वयं हि कृतं हिंसादिदोषं, कारितं हेतुभावेन, अनुमतमन्येन क्रियमाणं मनसा श्लाघितं। एतत्सर्वमेनो निर्व्याजं दशालोचनादोषवर्जितं यथा भवत्येवमालोचयेत्। दश हि आलोचनादोषा भवन्ति। तदुक्तं—

आकंपिय अणुमाणिय जं दिट्ठं बादरं च सुहमं च।
छन्नं सद्दाउलयं बहुजणमव्वत्त तस्सेवी॥१॥ इति।

टीकार्थ—उपकारक वस्तुमें जो प्रीतिका संस्कार होता है उसे स्नेह(राग) कहते हैं। अनुपकारक वस्तुमें जो द्वेषका संस्कार होता है उसे बैर(द्वेष) कहते हैं। स्त्री, पुत्रादिक मेरे हैं और मैं इनका हूँ, इस प्रकारके 'ममेद' भावको सङ्ग कहते हैं। बाह्य और अन्तरङ्गके भेदसे परिग्रह दो प्रकारका होता है। सल्लेखना धारण करनेके लिए उद्यत पुरुष इन सबको छोड़कर निर्मलचित्त होता हुआ मधुर वचनोंके द्वारा स्वजन तथा परिजन दोनोंको क्षमा करे और दोनोंसे अपने आपको क्षमा करावे। जो पाप स्वयं किया जाता है उसे कृत कहते हैं। जो दूसरेके द्वारा कराया जाता है उसे कारित कहत हैं और किसी दूसरेके द्वारा किए हुए पापको जो मनसे अच्छा समझा जाता है उसे अनुमत कहते हैं। इन सभी पापोंकी निश्छल भावसे आलोचना कर मरणपर्यन्त स्थिर रहने वाले अहिंसादि महाव्रतोंको धारण करे। जो आलोचना दश दोषोंको बचाकर की जाती है वह निश्छल आलोचना कहलाती है। आलोचनाके दश दोष इस प्रकार हैं—

आकंपिय अणुमाणिय जं दिट्ठं बादरं च सुहमं च।
छन्नं सद्दाउलयं बहुजणमव्वत्त तस्सेवी॥१॥ इति।

आकंपियेति—१. आकंपित, २. अनुमानित, ३. दृष्ट, ४. बादर, ५. सूक्ष्म, ६. छन्न, ७. शब्दाकुलित, ८. बहुजन, ९. अव्यक्त और १०. तत्सेवी ये आलोचनाके दश दोष हैं। गुरुके सम्मुख दोष प्रकट करनेके पूर्व ऐसा भय उत्पन्न होना कि कहीं आचार्य अधिक दण्ड न देवें अथवा अपनी दयनीय मुद्रा बनाकर दोषोंको कहना जिससे गुरुके हृदयमें अपने प्रति दयाका भाव उत्पन्न हो जावे और उससे वे कठोर दण्ड न देवें, इसे **आकंपित** दोष कहते

एवंविधामालोचनां कृत्वा महाव्रतमारोप्यैतत् कुर्यादित्याह—

हैं। दूसरेके द्वारा अनुमानित–संभावनामें आये हुए दोषका निवेदन करना अथवा गुरु इस समय प्रसन्न मुद्रामें हैं या रोष मुद्रामें, इसका अनुमान लगाकर प्रसन्न मुद्राके समय दोष कहना **अनुमानित** दोष है। जो दोष दूसरोंके देखनेमें आ चुका है उसकी आलोचना करना तथा जो किसीने नहीं देखा है उसे प्रकट नहीं करना दृष्ट दोष है। स्थूल दोषोंकी आलोचना करना तथा सूक्ष्म दोषोंकी आलोचना नहीं करना। साथ ही यह भावना रखना कि जब स्थूल दोष नहीं छिपाता तब सूक्ष्म दोष क्या छिपावेगा—**बादर** दोष है। सूक्ष्म दोषोंकी आलोचना करना तथा स्थूल दोषोंकी आलोचना नहीं करना। साथ ही यह भावना रखना कि जब सूक्ष्म दोष नहीं छिपाता तब स्थूल दोष क्या छिपावेगा, **सूक्ष्म** दोष है। आचार्यके आगे अपराधको स्वयं प्रकट नहीं करना छन्न दोष है। संघ आदिके द्वारा किये हुए कोलाहलके समय दोष प्रकट करना **शब्दाकुलित** दोष है। जिस समय पाक्षिक, चातुर्मासिक आदि प्रतिक्रमणोंके समय संघके समस्त साधु अपने–अपने दोष प्रकट कर रहे हों उसी कोलाहलमें बहुत जनोंके साथ अपने दोष प्रकट करना **बहुजन** दोष है। अथवा गुरुके द्वारा किये हुए प्रायश्चित्तको अन्य बहुतजनोंसे पूछना कि यह उचित है या अनुचित, **बहुजन** दोष हैं। अव्यक्तरूपसे अपराध कहना अर्थात् स्वयं मुझसे यह अपराध हुआ है, ऐसा न कहकर कहना कि भगवन्! यदि किसीसे अमुक अपराध हो जावे तो उसका क्या प्रायश्चित्त होगा, इस तरह अव्यक्तरूपसे अपराध प्रकटकर प्रायश्चित्त लेना **अव्यक्तदोष** है। और जिस अपराधको प्रकटकर प्रायश्चित्त लिया है उस अपराधको पुनः पुनः करना अथवा जो अपराध हुआ है उसी अपराधको करनेवाले आचार्यसे प्रायश्चित्त लेना और साथ ही यह अभिप्राय रखना कि जब आचार्य स्वयं यह अपराध करते हैं तब दूसरेको क्या दण्ड देवेंगे **तत्सेवी दोष** है।

भावार्थ :—(श्लोक १२४) समाधिमरण करनेवाला व्यक्ति उपकारक वस्तुसे राग, अनुपकारक वस्तुसे द्वेष, स्त्री–पुत्रादिसे ममताका संबंध और बाह्य–अभ्यंतर परिग्रह—इन सबको छोड़कर शुद्ध मनवाला होकर प्रियवचनोंसे स्वयंके कुटुम्बीजनोंसे और नौकर–चाकरोंसे भी क्षमा मांगे, तथा स्वयं उनको क्षमा करे।

(श्लोक—१२५)–तथा मन वचन काय द्वारा कृत, कारित और अनुमोदित समस्त पापोकी निर्दोष आलोचना करके जीवन पर्यंत पाँच महाव्रतोंको धारण करता है।

(यहाँ महाव्रतोंको उपचारसे कहा है, नहीं कि मुनिदशाके महाव्रत) १२४–१२५

इस प्रकारसे आलोचना करके और महाव्रत धारण करके यह करना चाहिए वह कहते हैं—

शोकं भयमवसादं क्लेदं कालुष्यमरतिमपि हित्वा।
सत्त्वोत्साहमुदीर्य च मनः प्रसाद्यं श्रुतैरमृतैः॥१२६॥

प्रसाद्यं प्रसन्नं कार्यं। किं तत्? मनः। कैः? श्रुतैरागमवाक्यैः। कथंभूतैः? अमृतैः अमृतोपमैः संसारदुःखसन्तापापनोदकैरित्यर्थः। किं कृत्वा? हित्वा। किं तदित्याह—शोकमित्यादि। शोकं—इष्टवियोगे [1]तद्गुणशोचनं, भयं—क्षुत्पिपासादिपीडा-निमित्तमिहलोकादिभयं वा, अवसादं विषादं खेदं वा, क्लेदं स्नेहं, कालुष्यं क्वचि-द्विषये रागद्वेषपरिणतिं। न केवलं प्रागुक्तमेव अपि तु अरतिमपि अप्रसक्तिमपि। न

श्लोक १२६

अन्वयार्थ—[शोकम्] शोक [भयम्] भय [अवसादम्] विषाद [क्लेदम्] स्नेह [कालुष्यम्] कलुषता और [अरतिं अपि] अरतिको भी [हित्वा] छोड़कर [च] और [सत्वोत्साहम्] बल तथा उत्साहको [उदीर्य] प्रकट करके [अमृतैः] अमृतरूप [श्रुतैः] शास्त्रोंसे [मनः] मन [प्रसाद्यम्] प्रसन्न करना चाहिए॥१२६॥

टीकार्थ—इष्टका वियोग होनेपर उसके गुणोंका बार-बार चिन्तन करना शोक कहलाता है। क्षुधा, तृषा आदिकी पीड़ाके निमित्तसे जो डर होता है उसे भय कहते हैं अथवा इहलोकभय, परलोकभय आदिके भेदसे जो सात प्रकार का भय होता है वह भय कहलाता है। विषाद अथवा खेदको अवसाद कहते हैं। स्नेहको क्लेद कहते हैं। किसी समयमें राग-द्वेषकी जो परिणति होती है उसे कालुष्य कहते हैं। अप्रसन्नताको अरति कहते हैं। सल्लेखनाके करनेमें जो कायरताका अभाव है उसे सत्त्वोत्साह कहते हैं। सल्लेखनाको धारण करनेवाला पुरुष इन शोक आदिको छोड़कर शास्त्ररूपी अमृतके द्वारा मनको प्रसन्न रखे। यहाँ संसारसम्बन्धी दुःखोंसे उत्पन्न होनेवाले संतापको दूर करनेके कारण शास्त्रको अमृत कहा गया है। तात्पर्य यह है कि सल्लेखना धारण करनेवाले मनुष्य विकथाओंमें समय न लगाकर स्वयं शास्त्र पढ़े अथवा दूसरेके मुखसे पढ़वावे।

भावार्थ :—शोक, भय, विषाद, स्नेह, राग-द्वेष और अप्रेमको छोड़कर और बल और उत्साह बढ़ाकरके अमृत समान सुखकारक तथा संसारके दुःख और संतापको दूर करनेवाले शास्त्रवचनो द्वारा मनको प्रसन्न करना चाहिए। तथा संल्लेखना करनेमें कायरता नहीं लानी चाहिए। १२६.

---

१. तद्गुणानुशोचनं घ।

केवलमेतदेव कृत्वा किन्तु उदीर्य च प्रकाश्य च। कं? सत्त्वोत्साहं संल्लेखना-करणेऽकातरत्वं ॥१२६॥

इदानीं संल्लेखनां कुर्वाणस्याहारत्यागे क्रमं दर्शयन्नाह—

आहारं परिहाप्य क्रमशः स्निग्धं विवर्द्धयेत्पानम्।
स्निग्धं च हापयित्वा खरपानं पूरयेत्क्रमशः ॥१२७॥
खरपानहापनामपि कृत्वा कृत्वोपवासमपि शक्त्या।
पञ्चनमस्कारमनास्तनुं त्यजेत्सर्वयत्नेन ॥१२८॥

स्निग्धं दुग्धादिरूपं पानं। विवर्धयेत् परिपूर्णं दापयेत्। किं कृत्वा? परिहाप्य परित्याज्य। कं? आहारं कवलाहाररूपं। कथं? क्रमशः [1]प्रागशनादिक्रमेण पश्चात् खरपानं

अब संल्लेखना करनेवालेको आहारत्यागका क्रम दर्शाकर कहते हैं—

संल्लेखना धारीको आहारत्यागका क्रम
श्लोक १२७-१२८

अन्वयार्थ—[आहारम्] आहारको [परिहाप्य] छुड़ाकर [क्रमशः] क्रमसे [स्निग्धम्] दूधादि स्निग्ध [पानम्] पान [विवर्द्धयेत्] बढ़ावे [च] और [स्निग्धम्] स्निग्ध पान [हापायित्वा] छुड़ाकर [क्रमशः] क्रमसे [खरपानम्] कंजिकादि खरपान [पूरयेत्] बढ़ावे ॥१२७॥

अन्वयार्थ—[शक्त्या] अपनी शक्त्यानुसार [खरपानहापनामपि] खरपानका भी त्याग [कृत्वा] करके तथा शक्त्यनुसार [उपवासं अपि] उपवास भी [कृत्वा] करके [पंचनमस्कारमनाः] पंच नमस्कारमें अपने चित्तको स्थिर करके [सर्वयत्नेन] व्रत, संयम और ध्यान आदिमें प्रयत्नपूर्वक [तनुम्] शरीरको [त्यजेत्] छोड़े ॥१२८॥

टीकार्थ—सल्लेखनाके समय आहारादिके छोड़नेका क्रम यह है कि पहले दाल, भात, रोटी आदि आहारको छोड़कर दूध आदि स्निग्ध पेय पदार्थोंको ग्रहण करे। पश्चात् उसे भी छोड़कर खरपान—स्निग्धतारहित पेय पदार्थोंका सेवन करे अर्थात् जिसमेंसे घी निकाला

---

१. प्रकाशनादिक्रमेण घ।

कंजिकादि, शुद्धपानीयरूपं वा। किं कृत्वा? हापयित्वा। किं? स्निग्धं च स्निग्धमपि पानकं। कथं? क्रमशः। स्निग्धं हि परिहाप्य कंजिकादिरूपं खरपानं पूरयेत् विवर्धयेत्। पश्चात्तदपि परिहाप्य शुद्धपानीयरूपं खरपानं पूरयेदिति॥१२७॥

खरपानहापनामपि कृत्वा। कथं? शक्त्या स्वशक्तिमनतिक्रमेण[1] स्तोकस्तोकतरादिरूपं। पश्चादुपवासं कृत्वा तनुमपि त्यजेत्। कथं? सर्वयत्नेन सर्वस्मिन् व्रतसंयमचारित्रध्यानधारणादौ यत्नस्तात्पर्यं तेन। किंविशिष्टः सन्? पंचनमस्कारमनाः पंचनमस्काराहितचित्तः॥१२८॥

जा चुका है ऐसी छाँछको ग्रहण करे और फिर उसे भी छोड़कर मात्र गर्म पानीको ग्रहण करे।

गाथा १२८

टीकार्थ—पश्चात् उस गर्म जलका भी त्यागकर अपनी शक्ति उल्लंघन न करता हुआ एक–दो तीन आदि दिनोंका उपवास करे। और अन्तमें व्रत–संयम–चारित्र तथा ध्यान विषयक धारणा आदि सभी कार्योंमें तत्पर रहता हुआ पञ्चनमस्कारमन्त्रकी आराधनामें अपना मन लगावे। अन्तमें बड़ी सावधानीसे शरीरका त्याग करे।

भावार्थ :—श्लोक–१२७–संल्लेखना करते समय अन्नाहारका त्याग करके क्रम क्रमसे दुध आदि स्निग्धपान ले और फिर दूध आदि स्निग्धपानका भी त्याग करके कांजी और गरम जल ले।

(श्लोक १२८) कांजी और गरम जलका भी त्याग करके शक्ति अनुसार उपवास करके पंच नमस्कार मंत्रका स्वरूपमें मन लगाकर, शरीरका भी त्याग करे।

विशेष

समाधिपूर्वक देहका त्याग होना उसमें आत्मघातका दोष नहीं। ''निश्चयसे क्रोधादि कषायोंसे घिरा हुआ जो पुरुष श्वासनिरोध, जल, अग्नि, विष, शस्त्रादिसे स्वयंका घात करता है वह वास्तवमें आत्मघात है। परंतु अवश्य होनेवाले मरण पर, कषाय–संल्लेखनाके कृष करने मात्रसे व्यापारमें प्रवर्तमान पुरुषके रागादि–भावोंके अभावमें आत्मघात नहीं।''

अगर मृत्युमें राग-द्वेष होते है तब ही आत्मघात होता है, लेकिन जो संल्लेखनाके समय विशेष स्वसन्मुख होकर राग-द्वेषका त्याग कर रहा है उसे आत्मघातका दोष नहीं

---

१. स्वशक्त्यनतिक्रमेण घ।

लगता क्योंकि प्रमत्तयोग रहित एवं आत्मज्ञान सहित जो नाशवंत शरीरके साथ अवश्य राग कम करता है उसे हिंसादिका दोष नहीं लगता।

संल्लेखना भी अहिंसा है, क्योंकि—

''यह संन्यासमरणमें हिंसाके हेतुभूत कषाय क्षीणताको प्राप्त होते हैं। अतः संन्यास (संल्लेखना) भी आचार्योंने अहिंसाकी प्रसिद्धि हेतु कही है।[1]''

समाधिमरणकी आवश्यकता

''रोगादिक होने पर यथाशक्ति उपचार करे, लेकिन जब रोग असाध्य हो जाय, किसी प्रकारके उपचारसे लाभ न हो तब यह शरीर दुष्ट समान सर्वथा त्याग करनेयोग्य कहा है, एवं इच्छित फलदाता धर्म विशेषतासे आचरण करने योग्य कहा है। मृत्युके बाद दूसरा शरीर मिलता है, लेकिन धर्मपालन करनेकी योग्यता मिलना अतिशय दुर्लभ है। अतः विधिपूर्वक देहके त्यागमें दुःखी न होकर संयमपूर्वक मन-वचन-कायका उपयोग आत्मामें एकत्रित करना चाहिए और ''जन्म-जरा तथा मृत्यु शरीर संबंधी है, मुझे नहीं,''—''ऐसा चिंतवन कर, निर्ममत्वी होकर विधिपूर्वक आहारको घटाकर, अपने त्रिकाली अकषाय ज्ञातामात्र स्वरूपके लक्षसे कायाको कृष करना चाहिए एवं शास्त्रामृतके पानसे कषायोंको मंद करना चाहिए। उसके बाद चार प्रकारके संघकी (मुनि, अर्जिका, श्रावक, श्राविका)की साक्षी द्वारा समाधिमरणमें सावधान–उद्यमवंत होना चाहिए।''

''....जो जीव अपनी पूर्व अवस्थामें धर्मसे विमुख रहता है अर्थात् जिसने तत्त्वज्ञानपूर्वक व्रत, नियमादि धर्माराधना नहीं की वह जीव अंतसमयमें धर्मसन्मुख अर्थात् संन्यासयुक्त कभी नहीं हो सकता; जैसे की चंद्रप्रभचरित्र प्रथम सर्गमें कहा है कि—

''चिरन्तनाभ्यासनिबन्धनेरिता गुणेषु दोषेषु जायते मतिः।'' अर्थात् चिरकालके अभ्याससे प्रेरित बुद्धिमें गुण या दोष उत्पन्न होते हैं। अतः समाधिमरण वह ही कर सकता है जो प्रथम अवस्थासे ही धर्मकी आराधनामें सावधान रहा हो.....

समाधिमरणके समय आराधकको निम्नानुसार उपदेश देकर उसे आत्मसन्मुख करके स्वरूपमें स्थिर करनेका प्रयत्न करना—

''हे जितेन्द्रिय! तू भोजन-शयनादिरूप कल्पित पुद्गलोंको अभी तक उपकारी समझता है? और ऐसा मानता है कि, इसमेंसे कुछ पुद्गल ऐसे हैं जो मैंने भोगे नहीं हैं।'' यह महा आश्चर्यकी बात है! भला, विचार तो कर यह मूर्तिक पुद्गल तेरे अरूपी

१. पुरुषार्थसिद्धि-उपाय श्लोक १७९

आत्मामें किस प्रकार मिल सकते हैं? मात्र इन्द्रियोंके ग्रहणपूर्वक उनका अनुभव करके तूने ऐसा मान लिया है कि 'मैं ही उनको भोगता हूँ।' तो हे दूरदर्शी! अब भ्रान्तिको सर्वथा छोड़कर निर्मल ज्ञानानंदमय आत्मतत्वमें लवलीन हो। यह वो ही समय है जिसमें ज्ञानी जीव शुद्धतामें सावधान रहता है एवं भेदज्ञानके बलसे चिंतन करता है कि, 'मैं अन्य हूँ तथा यह देहादिरूप पुद्गल मुझसे सर्वथा भिन्न अन्य पदार्थ हैं। अतः हे महाशय! परद्रव्यसे मोहको तुरत ही छोड़ एवं अपने आत्मामें निश्चल–स्थिर रहनेका प्रयत्न कर। अगर किसी पुद्गलमें आसक्त रहकर मृत्यु होगा तो याद रख, कि तुच्छ जंतु होकर तुझे इन पुद्गलोंका बार-बार भक्षण करना पड़ेगा। इस भोजनसे तू शरीरका उपकार करना चाहता है वह किसी प्रकारसे योग्य नहीं है, क्योंकि यह शरीर ऐसा कृतघ्न है कि किसीके द्वारा किये हुए उपकारको मानता नहीं है। इसलिए भोजनकी इच्छाको छोड़कर मात्र आत्महितमें चित्त जोड़ना ही बुद्धिमत्ता है।''

''हे आराधक! श्रुतस्कंधका **'एगो मे सासदो आदा'** इत्यादि वाक्य **'णमो अरिहंताणं'** इत्यादि पद और 'अर्हं' इत्यादि अक्षर उनमेंसे जो तुझे रुचिकर लगे उसका आश्रय करके अपने चित्तको तन्मय कर। हे आर्य! 'मैं एक शाश्वत आत्मा हूँ' ऐसे श्रुतज्ञानसे अपने आत्माका निश्चय कर। समस्त चिंताओंसे पृथक् होकर प्राणविसर्जन कर और अगर तेरा मन क्षुधा-परिषहसे अथवा कोई उपसर्गसे व्यग्र हो गया हो तो नरकादि वेदनाका स्मरण करके ज्ञानामृतरूप सरोवरमें प्रवेश कर, क्योंकि अज्ञानी जीव शरीरमें आत्मबुद्धि अर्थात् 'मैं दुःखी हूँ, मैं सुखी हूँ'–ऐसे संकल्प करके दुःखी होता रहता है, लेकिन भेदज्ञानी जीव आत्मा एवं देहको भिन्न-भिन्न जानकर देहके कारण सुखी-दुःखी नहीं होता है। वह सोचता है कि मुझे मरण ही नहीं तो फिर भय किसका? मुझे रोग ही नहीं तो फिर वेदना कैसी? मैं बालक, तरुण, वृद्ध नहीं तो मनोवेदना कैसी? हे महाभाग्य! यह थोड़ेसे शारीरिक दुःखसे कायर होकर प्रतिज्ञासे लेश भी च्युत न हो—क्या तू धीरवीर पांडवोंके चरित्रको भूल गया है? उनको शत्रुने लोहेके गहने अग्निसे तप्त कर पहनाये थे तो भी वे तपस्यासे किंचित् भी च्युत न होकर आत्मज्ञानसे मुक्तिको प्राप्त हुए। सुकुमालका कोमल शरीर श्यालनीने तीन दिन तक भक्षण किया फिर भी वे वहाँसे किंचित् भी च्युत नहीं हुए। क्या तुझे उनका स्मरण नहीं है? उनका अनुकरण करके जीवन-धन आदिमें निर्वांच्छक होकर अंत-र्बाह्य परिषहके त्यागपूर्वक साम्यभावसे निरुपाधिमें स्थिर होकर आनंदामृतका पान कर....आदि....।''[२]

१२७-१२८

२. देखो, पुरुषार्थसिद्धि-उपाय श्लोक १७८का विशेष

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ - ३६४२५०

अधुना संल्लेखनाया अतिचारानाह—

जीवितमरणाशंसे[1] भयमित्रस्मृतिनिदाननामानः।
संल्लेखनातिचाराः पञ्च जिनेन्द्रैः समादिष्टाः॥१२९॥

जीवितं च मरणं च तयोराशंसे आकांक्षे। भयमिहपरलोकभयं। इहलोकभयं हि क्षुत्पिपासापीडादिविषयं परलोकभयं—एवंविधदुर्धरानुष्ठानाद्विशिष्टं फलं परलोके भविष्यति न वेति। मित्रस्मृतिः बाल्याद्यवस्थायां सहक्रीडितमित्रानुस्मरणं। निदानं भाविभोगाद्याकांक्षणं। एतानि पंचनामानि येषां ते तन्नामानः संल्लेखनायाः पंचातिचाराः। जिनेन्द्रैस्तीर्थकरैः। समादिष्टा आगमे प्रतिपादिताः॥१२९॥

अब संल्लेखनाके अतिचार कहते हैं—

श्लोक १२९
संल्लेखनाके अतिचार

अन्वयार्थ—[जीवितमरणाशंसे] जीनेकी आकांक्षा करना, मरणकी इच्छा करना, [भयमित्रस्मृतिनिदाननामानः] भय, मित्रस्मरण और निदान नामके [पंच] पांच [सल्लेखनातिचाराः] सल्लेखनाके अतिचार [जिनेन्द्रैः] जिनेन्द्र भगवान्ने [समादिष्टाः] कहे हैं॥१२९॥

टीकार्थ—सल्लेखना धारणकर ऐसी इच्छा रखना कि मैं कुछ समय तक और जीवित रहता तो अच्छा होता, यह **जीविताशंसा** नामका अतिचार है। क्षुधा, तृषा आदिकी पीड़ा होनेपर ऐसी इच्छा रखना कि मेरी मृत्यु जल्दी हो जाती तो अच्छा होता, यह **मरणाशंसा** नामका अतिचार है। इहलोकभय और परलोकभयकी अपेक्षा भयके दो भेद हैं। मैंने सल्लेखना धारण की तो है, परन्तु मुझे क्षुधा, तृषा, आदिकी पीड़ा अधिक समय तक सहन न करना पड़े, इस प्रकारका क्षय होना **इहलोकभय** कहलाता है। और इस प्रकारके दुर्धर—कठिन अनुष्ठानके करनेसे परलोकमें विशिष्ट फल होगा या नहीं, ऐसा भय रखना **परलोकभय** है। बाल्य आदि अवस्थाओंमें जिनके साथ क्रीड़ा की थी, ऐसे मित्रोंका बार-बार स्मरण करना **मित्रस्मृति** नामका अतिचार है। और आगामी भोग आदिकी आकांक्षा रखना निदान नामका अतिचार है। जिनेन्द्र भगवान्ने सल्लेखनाके ये पाँच अतिचार परमागममें कहे हैं।

---

१. मरणशंसाभयमित्रस्मृति घ।

Shri Digambar Jain Swadhyay Mandir Trust, Songadh - 364250

एवंविधैरतिचारै रहितां संल्लेखनां अनुतिष्ठन् कीदृशं फलं प्राप्नोत्याह—

निःश्रेयसमभ्युदयं निस्तीरं दुस्तरं सुखाम्बुनिधिम्।
निःपिबति पीतधर्मा सर्वैर्दुःखैरनालीढः ॥१३०॥

निष्पिबति आस्वादयति अनुभवति वा कश्चित् संल्लेखनानुष्ठाता। किं तत्? निःश्रेयसं निर्वाणं। किंविशिष्टं? सुखाम्बुनिधिं सुखसमुद्रस्वरूपं। तर्हि सपर्यन्तं

भावार्थ :–संल्लेखनाके पांच अतिचार[1]—

१. जीविताशंसा—संल्लेखना ग्रहण करके जीनेकी इच्छा करना।

२. मरणाशंसा—रोगादिके उपद्रवसे डरकर मरणकी इच्छा करना।

३. भय[2]—इस लोक एवं परलोकका भय।

४. मित्रस्मृति—(मित्रानुराग)–मित्र आदिकी प्रीतिका स्मरण करना।

५. निदान—अगले भवमें सांसारिक विषयभोगोंकी प्राप्तिकी इच्छा करना। १२९

इस प्रकारके अतिचार रहित संल्लेखना करनेवालेको कैसा फल मिलता है यह कहते हैं—

श्लोक १३०
सल्लेखना धारण करनेका फल

अन्वयार्थ—[पीतधर्मा] उत्तम क्षमादिरूप अथवा चारित्ररूप धर्मका पान करनेवाला [सर्वैः दुखैः अनालीढः सन्] संपूर्ण दुःखोंसे रहित होकर [निस्तीरम्] तीर रहित अर्थात् अनंत [सुखाम्बुनिधिम्] सुखके समुद्र ऐसे [निःश्रेयसम्] मोक्षका तथा [दुस्तरम्] कठिनतासे तिरने योग्य [सुखाम्बुनिधिम्] सुखके समुद्र ऐसे [अभ्युदयम्] स्वर्गका [निःपिबति] अनुभव करता है॥१३०॥

टीकार्थ—सल्लेखनाका फल मोक्ष तथा स्वर्गादिकका सुख प्राप्त करना है। मोक्षको निःश्रेयस कहते हैं और अहमिन्द्र आदिके पदको अभ्युदय कहते हैं। ये दोनों ही पद, सुखके

---

१. जीवीतमरणाशंसामित्रानुरागसुखानुबन्धनिदानानि॥ (तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ७/३७)

२. यह भय अतिचारके बदले तत्त्वार्थसूत्र एवं पुरुषार्थसिद्धि उपायमें 'सुखानुबंध'–पूर्वकालमें भोगे हुए भोगोंको याद करना —इस नामका अतिचार दिया है।

तद्भविष्यतीत्याह—निस्तीरं तीरात्पर्यन्तान्निष्क्रान्तं। कश्चित्पुनस्तदनुष्ठाता अभ्युदयमहमिन्द्रादिसुखपरंपरां निष्पिबति। कथंभूतं? दुस्तरं महता कालेन प्राप्यपर्यन्तं। किंविशिष्टः सन्? सर्वैर्दुःखैरनालीढः सर्वैः शारीरमानसादिभिर्दुःखैरनालीढोऽसंस्पृष्टः। कीदृशः सन्नेतद्द्वयं निष्पिबति? पीतधर्मा पीतोऽनुष्ठितो धर्म उत्तमक्षमादिरूपः चारित्रस्वरूपो वा येन॥१३०॥

किं पुनर्निःश्रेयसशब्देनोच्यत इत्याह—

जन्मजरामयमरणैः शोकैर्दुःखैर्भयैश्च परिमुक्तम्।
निर्वाणं शुद्धसुखं निःश्रेयसमिष्यते नित्यम॥१३१॥

निःश्रेयसमिष्यते। किं? निर्वाणं। कथंभूतं? शुद्धसुखं शुद्धं प्रतिद्वन्द्वरहितं सुखं

समुद्रस्वरूप हैं। अर्थात् निःश्रेयस आत्मोत्थ अनन्त सुखका समुद्र है और अहमिन्द्र आदिका पद रोग, शोक आदिसे रहित होने के कारण सांसारिक सुखका उत्कृष्ट स्थान है। निःश्रेयस—मोक्ष, निस्तीर है अर्थात् अन्तसे रहित है और अभ्युदय—अहमिन्द्र आदिका पद दुस्तर है अर्थात् सागरों पर्यन्त विशालकालसे उसका अन्त प्राप्त होता है। इन दोनों फलोंको प्राप्त होनेवाला क्षपक पीतधर्मा होता है अर्थात् उत्तम क्षमादिरूप अथवा चारित्ररूप धर्मका पान करने वाला होता है और शारीरिक, मानसिक तथा आगन्तुक दुःखोंसे असंस्पृष्ट–अछूता रहता है।

भावार्थ—जिन्होंने उत्तमक्षमादि धर्मको अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप धर्मको धारण किया है– ऐसे संल्लेखनाधारी श्रावक, समस्त शारीरिक एवं मानसिक दुःखोंसे रहित होकर दुस्तर अभ्युदयको (इन्द्रादिके सुखको) एवं अपार (अंतरहित) सुखके सागररूप मोक्षको अनुक्रमसे अनुभव करते हैं। १३०

पुनश्च 'निःश्रेयस' शब्दसे क्या कहा जाता है वह कहते हैं—

श्लोक १३१
मोक्षका स्वरूप (लक्षण)

अन्वयार्थ—[जन्मजरामयमरणैः] जन्म, जरा,रोग, मृत्यु [शोकैः] शोक [दुःखैः] दुःख [च] और [भयैः] भयसे [परिमुक्तम्] रहित [नित्यम्] नित्य [शुद्धसुखम्] निर्मल सुखरूप [निर्वाणम्] मोक्षको [निःश्रेयसम्] निःश्रेयस [इष्यते] कहते हैं॥१२१॥

टीकार्थ—जो निर्वाण अर्थात् मोक्ष है वही निःश्रेयस है। वह जन्म, जरा, रोग और

यत्र। तथा नित्यं अविनश्वरस्वरूपं। तथा परिमुक्तं रहितं। कैः ? जन्मजरामयमरणैः, जन्म च पर्यायान्तरप्रादुर्भावः जरा च वार्द्धक्यं, आमयाश्च रोगाः, मरणं च शरीरादिप्रच्युतिः। तथा शोकैर्दुःखैर्भयैश्च परिमुक्तं॥१३१॥

इत्थंभूते च निःश्रेयसे कीदृशाः पुरुषाः तिष्ठन्तीत्याह—

विद्यादर्शनशक्तिस्वास्थ्यप्रह्लादतृप्तिशुद्धियुजः।
निरतिशया निरवधयो निःश्रेयसमावसन्ति सुखम्॥१३२॥

निःश्रेयसमावसन्ति निःश्रेयसे तिष्ठन्ति। के ते इत्याह—विद्येत्यादि। विद्या केवलज्ञानं, दर्शनं केवलदर्शनं, शक्तिरनन्तवीर्यं, स्वास्थ्यं परमोदासीनता,

---

मरणसे शोक, दुःख और भयोंसे सर्वथा रहित है, शुद्ध आत्मोत्थ सुखसे सहित है तथा अविनाशी है। पर्यायान्तरकी उत्पत्तिको जन्म कहते हैं, बुढ़ापेको जरा कहते हैं, रोग आमय कहलाते हैं तथा शरीरादिका छूट जाना मरण कहलाता है। शोक, दुःख और भयका अर्थ स्पष्ट है।

भावार्थ—जन्म, जरा, रोग, मृत्यु, शोक, दुःख एवं भयसे रहित अविनश्वर, अतीन्द्रिय सच्चे सुखरूप एवं सर्व कर्मरहित आत्माकी विशुद्ध अवस्थाको (निर्वाण) मोक्ष कहा जाता है। १३१

ऐसे मोक्षमें किस प्रकारके पुरुष (आत्मा) रहते हैं वह कहते हैं—

श्लोक १३२
मुक्त जीवोंका स्वरूप

अन्वयार्थ—[विद्यादर्शनशक्तिस्वास्थ्यप्रल्हादतृप्तिशुद्धियुजः] केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्तवीर्य, परमस्वस्थता, अनन्तसुख, परमसंतोष तथा उत्कृष्ट शुद्धि इनसे युक्त तथा [निरतिशयाः] अतिशय रहित अर्थात् ज्ञानादिककी हीनाधिकतासे रहित [निरवधयः] कालमर्यादासे रहित ऐसे जीव [सुखम्] सुखरूप [निःश्रेयसम्] मोक्षमें [आवसन्ति] रहते हैं॥१३२॥

टीकार्थ—निःश्रेयसमें वे ही जीव निवास करते हैं जो विद्या अर्थात् केवलज्ञान, दर्शन अर्थात् केवलदर्शन, शक्ति अर्थात् अनन्तवीर्य, स्वास्थ्य अर्थात् परम उदासीनपना, प्रह्लाद

प्रह्लादोऽनन्तसौख्यं, तृप्तिर्विषयानाकांक्षा, शुद्धिर्द्रव्यभावस्वरूपकर्ममलरहितता, एता युञ्जन्ति आत्मसम्बद्धाः कुर्वन्ति ये ते तथोक्ताः। तथा निरतिशया अतिशयाद्विद्यादिगुणहीनाधिक-भावान्निष्क्रान्ताः। तथा निरवधयो नियतकालावधिरहिताः। इत्थंभूता ये ते निःश्रेयसमावसन्ति। सुखं सुखरूपं निःश्रेयसं। अथवा सुखं यथा भवत्येवं ते तत्रावसन्ति॥१३२॥

अनन्ते काले गच्छति कदाचित् सिद्धानां विद्याद्यन्यथाभावो भविष्यत्यतः कथं निरतिशया निरवधयश्चेत्याशंकायामाह—

काले कल्पशतेऽपि च गते शिवानां न विक्रिया लक्ष्या।
उत्पातोऽपि यदि स्यात् त्रिलोकसंभ्रान्तिकरणपटुः॥१३३॥

अर्थात् अनन्त सुख, तृप्ति अर्थात् विषयसम्बन्धी आकांक्षाका अभाव और शुद्धि अर्थात् द्रव्यकर्म और भावकर्मरूप मलसे रहितपना इन सबसे युक्त हैं। अतिशय अर्थात् विद्यादिगुणसम्बन्धी हीनाधिकतासे रहित हैं और निरवधि अर्थात् कालकी अवधिसे रहित हैं। वह निःश्रेयस सुखस्वरूप है अथवा **'सुखं यथा भवति तथा'** इस प्रकार क्रियाविशेषणपक्षमें यह होता है कि पूर्वोक्त विशेषणोंसे विशिष्ट जीव निःश्रेयसमें सुखसे निवास करते हैं।

भावार्थ—मुक्त जीव अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतवीर्य, परम उदासीनता, एवं अनंतसुखसे युक्त होकर तथा विषयोंकी आशासे, द्रव्यकर्म–भावकर्मरूप मलसे तथा अष्टगुणोंसे न्यूनाधिकतासे रहित होकर अनंतकाल तक सुखपूर्वक मोक्षमें रहते हैं। १३२

अनंतकाल व्यतीत होते हुए, किसी समय सिद्धोंके ज्ञानादिका अन्यथाभाव हो जाय तो उनको निरतिशयता एवं निरवधिपना किस प्रकारसे रहे—ऐसी आशंका होने पर उत्तर देते हैं।

श्लोक १३३
मुक्त जीवोंके गुणोंमें विकारका अभाव

अन्वयार्थ—[यदि] यदि [त्रिलोकसंभ्रान्तिकरणपटुः] तीनलोककी भ्रान्ति करनेमें समर्थ ऐसा [उत्पातः अपि] उत्पात भी [स्यात्] होवे [च] और [कल्पशते काले गते अपि] सैकड़ों कल्पकालोंके चले जानेपर भी [शिवानाम्] मुक्त जीवोंके [विक्रिया] विकार [न लक्ष्या] नहीं देखा जाता है॥१३३

न लक्ष्या न प्रमाणपरिच्छेद्या। कासौ? विक्रिया विकारः स्वरूपान्यथाभावः। केषां? शिवानां सिद्धानां। कदा? कल्पशतेऽपि गते काले। तर्हि उत्पातवशात्तेषां विक्रिया स्यादित्याह—उत्पातोऽपि यदि स्यात् तथापि न तेषां विक्रिया लक्ष्या। कथंभूतः उत्पातः? त्रिलोकसम्भ्रान्तिकरणपटुः त्रिलोकस्य सम्भ्रान्तिरावर्त्तस्तत्करणे पटुः समर्थः॥१३३॥

ते तत्राविकृतात्मानः सदा स्थिताः किं कुर्वन्तीत्याह—

निःश्रेयसमधिपन्नास्त्रैलोक्यशिखामणिश्रियं दधते।
निष्किट्टिकालिकाच्छविचामीकरभासुरात्मानः॥१३४॥

निःश्रेयसमधिपन्नाः प्राप्तास्ते दधते। धरन्ति। कां? त्रैलोक्यशिखामणिश्रियं

टीकार्थ—बीस कोड़ाकोड़ी सागरका एक कल्पकाल होता है। ऐसे सैकड़ों कल्पकाल बीत जानेपर भी सिद्धोंमें कोई विकार लक्ष्यमें नहीं आता। इसी प्रकार तीनों लोकोंमें क्षोभ उत्पन्न करनेमें समर्थ उत्पात भी यदि हो तो भी सिद्धोंमें कोई विकार अनुभवमें नहीं आता। इस प्रकार वे निरतिशय और निरवधि ही रहते हैं।

भावार्थ—तीन लोकमें खलबली उत्पन्न हो ऐसा उत्पात (उपद्रव) हो जाय तथा सैंकड़ों कल्पकाल[1] बीत जाय, फिर भी सिद्धोंके गुणोंमें या स्वभाव आदिमें कोई विकार (परिवर्तन) नहीं आता अर्थात् वे अनंतकाल तक अनंतसुखमें मग्न रहते हैं। १३३

विकारसे रहित वे (शुद्ध) आत्माएँ वहाँ सदा रहकर क्या करती हैं? वह कहते हैं—

श्लोक १३४
मुक्त जीव क्या करते हैं?

अन्वयार्थ—[निष्किट्टिकालिकाच्छविचामीकरभासुरात्मानः] कीट और कालिमासे रहित शोभावाले सोनेके समान निर्मलरूपसे प्रकाशमान है आत्मा जिनकी ऐसे [निःश्रेयसम् अधिपन्नाः] मोक्षको प्राप्त हुए जीव [त्रैलौक्यशिखामणिश्रियम्] तीन लोकके चूडामणिकी शोभाको [दधते] धारण करते हैं।

टीकार्थ—जिस प्रकार कीट और कालिमासे रहित कान्तिवाला सुवर्ण अतिशय

---

१. बीस क्रोडाक्रोडी सागर वर्षका एक कल्पकाल होता है।

त्रैलोक्यस्य शिखा चूडाऽग्रभागस्तत्र मणिश्रीः चूडामणिश्रीः तां। किंविशिष्टाः सन्त इत्याह—निष्किट्टेत्यादि। किट्टं च कालिका च ताभ्यां निष्क्रान्ता सा छविर्यस्य तच्चामीकरं च सुवर्णं तस्येव भासुरो निर्मलतया प्रकाशमान आत्मा स्वरूपं येषां॥१३४॥

एवं संल्लेखनामनुतिष्ठतां निःश्रेयसलक्षणं फलं प्रतिपाद्य अभ्युदयलक्षणं फलं प्रतिपादयन्नाह—

पूजार्थाज्ञैश्वर्यैर्बलपरिजनकामभोगभूयिष्ठैः।
अतिशयितभुवनमद्भुतमभ्युदयं फलति सद्धर्मः॥१३५॥

अभ्युदयं इन्द्रादिपदावाप्तिलक्षणं। फलति अभ्युदयफलं ददाति। कोऽसौ? सद्धर्मः संल्लेखनानुष्ठानोपार्जितं विशिष्टं पुण्यं। कथंभूतमभ्युदयं? अद्भुतं साश्चर्यं। कथंभूतं

दैदीप्यमान होता है उसी प्रकार द्रव्यकर्म तथा भावकर्मसे रहित होनेके कारण जिनका स्वरूप अतिशय प्रकाशमान रहता है ऐसे सिद्ध भगवान लोकके अग्रभागमें चूड़ामणिकी शोभाको धारण करते हैं।

भावार्थ—मोक्षको प्राप्त पुरुष, कीट एवं कालिमासे रहित जिनकी छबी है, एवं शुद्ध सुवर्णसमान दैदीप्यमान जिनका स्वरूप है ऐसे होकर तीन लोकके चूड़ामणिकी (शिखामणिकी) शोभाको धारण करते हैं। १३४

इस प्रकार संल्लेखना करनेवालोंके लिए मोक्षरूपी फलका प्रतिपादन करके उनके अभ्युदयरूप फलका प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—

श्लोक १३५
संल्लेखनाधारीओंका अभ्युदयरूप फल

अन्वयार्थ—[सद्धर्मः] सल्लेखनाके पालन करनेसे उपार्जित किया हुआ विशेष पुण्य सामर्थ्य [बलपरिजनकामभोगभूयिष्ठैः] परिवारके लोक, काम और भोग इनकी विपुलतासे युक्त [पूजार्थाज्ञैश्वर्यैः] पूजातिशय, धनातिशय और आज्ञातिशय इनसे [अतिशयितभुवनम्] तीनों लोकोमें श्रेष्ठ तथा [अद्भुतम्] आश्चर्यकारी ऐसी [अभ्युदयम्] स्वर्गादि विभूतिको [फलति] देता है॥१३५॥

टीकार्थ—सल्लेखनाके धारण करनेसे उपार्जित विशिष्ट पुण्यरूप समीचीन धर्म, उस

तदद्भुतं? अतिशयितभुवनं यतः। कैः कृत्वा? पूजार्थज्ञैश्वर्यैः ऐश्वर्यशब्दः पूजार्थाज्ञानां प्रत्येकं सम्बध्यते। किंविशिष्टैरेतैरित्याह—बलेत्यादि। बलं सामर्थ्यं परिजनः परिवारः कामभोगौ प्रसिद्धौ। एतद्भूयिष्ठा अतिशयेन बहवो येषु। एतैरुपलक्षितैः पूजादिभिरतिशयितभुवनमित्यर्थः ॥१३५॥

साम्प्रतं योऽसौ संल्लेखनानुष्ठाता श्रावकस्तस्य कति प्रतिमा भवन्तीत्याशंक्याह—

श्रावकपदानि देवैरेकादश देशितानि येषु खलु।
स्वगुणाः पूर्वगुणैः सह संतिष्ठन्ते क्रमविवृद्धाः ॥१३६॥

देशितानि प्रतिपादितानि। कानि? श्रावकपदानि श्रावकगुणस्थानानि श्रावकप्रतिमा

अभ्युदयको फलता है जो बल, परिजन, काम तथा भोगोंसे परिपूर्ण पूजा, अर्थ तथा आज्ञारूप ऐश्वर्यके द्वारा समस्त भुवनको अतिक्रान्त करता है और जो स्वयं भी अद्भुत—आश्चर्यको उत्पन्न करनेवाला है।

भावार्थ—संल्लेखनादि धर्मसे प्रतिष्ठा, धन, एवं आज्ञाका ऐश्वर्य तथा बल, नोकर, चाकर एवं कामभोगकी अधिकतासे लोकातिशयी आश्चर्यकारक इन्द्रादिपदकी प्राप्तिरूप अभ्युदय (उत्कर्ष) प्राप्त होता है। १३५

अब जो संल्लेखना करनेवाला श्रावक है उसे कितनी प्रतिमाएँ होती हैं? ऐसी आशंकाका उत्तर देते हैं?

श्लोक १३६
श्रावककी ग्यारह प्रतिमा (कक्षा)

अन्वयार्थ—[देवैः] सर्वज्ञदेवने [श्रावकपदानि] श्रावककी प्रतिमा [एकादश] ग्यारह [देशितानि] कही हैं [येषु खलु] जिन प्रतिमाओंमें निश्चयसे [स्वगुणाः] अपनी अपनी प्रतिमाके गुण-धर्म [पूर्वगुणैः सह] पहिलेकी प्रतिमाओंके गुणों [धर्मों] के साथ [क्रमविवृद्धाः] क्रमसे बढ़ते हुए [संतिष्ठन्ते] होते हैं॥१३६॥

टीकार्थ—[1]पदका अर्थ स्थान होता है। इसी स्थानके अर्थमें प्रतिमाशब्दका भी प्रयोग होता है। श्रावकके जो पद-स्थान हैं वे श्रावककी प्रतिमाएँ कहलाती हैं। तीर्थंकर

---

१. 'पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्याङ्घ्रिवस्तुषु' इत्यमरः।

इत्यर्थः। कति? एकादश। कैः? देवैस्तीर्थंकरैः। येषु श्रावकपदेषु। खलु स्फुटं सन्तिष्ठन्तेऽवस्थितिं कुर्वन्ति। के ते? स्वगुणाः स्वकीयगुणस्थानसम्बद्धाः गुणाः। कैः सह? पूर्वगुणैः पूर्वगुणस्थानवर्तिगुणैः सह। कथंभूताः? क्रमविवृद्धाः सम्यग्दर्शनमादिं कृत्वा एकादशपर्यन्तमेकोत्तरवृद्ध्या क्रमेण विशेषेण वर्धमानाः॥१३६॥

एतदेव दर्शयन्नाह—

सम्यग्दर्शनशुद्धः संसारशरीरभोगनिर्विण्णः।
पञ्चगुरुचरणशरणो दर्शनिकस्तत्त्वपथगृह्यः॥१३७॥

भगवान्ने श्रावककी ग्यारह प्रतिमायें कही हैं। उन प्रतिमाओंमें अपनी-अपनी प्रतिमाओंसे सम्बन्ध रखनेवाले गुण पिछली प्रतिमाओंके सम्बन्धी गुणोंके साथ क्रमसे वृद्धिको प्राप्त होते हुए विद्यमान रहते हैं। अर्थात् अगली प्रतिमाओंमें स्थित पुरुषोंको पूर्वप्रतिमा सम्बन्धी गुणोंका आचरण करना आवश्यक होता है।

भावार्थ—सर्वज्ञदेवने श्रावकके ग्यारह स्थान (पद-श्रेणी-प्रतिमा-कक्षा) कहे हैं वे निम्नानुसार है—

१. दर्शन प्रतिमा, २. व्रत प्रतिमा, ३. सामायिक प्रतिमा, ४. प्रौषध प्रतिमा, ५. सचित्तत्याग प्रतिमा, ६. रात्रिभोजन त्याग प्रतिमा, ७. ब्रह्मचर्य प्रतिमा, ८. आरंभत्याग प्रतिमा, ९. परिग्रहत्याग प्रतिमा, १०. अनुमतित्याग प्रतिमा तथा ११. उद्दिष्टत्याग प्रतिमा।

आगे-आगेकी (उत्तर) प्रतिमा धारण करनेवालेको पूर्वकी सर्व प्रतिमाओंका पालन अवश्य होता हैं। अतः आगे आगेकी प्रतिमाका आचरण उसके पूर्वकी सब प्रतिमाओंके आचरणके साथ (उसके गुणोंके पालनके साथ) क्रमसे वृद्धिको प्राप्त होता है। जैसे कि ब्रह्मचर्य प्रतिमाके पालन करनेवालेको उसके पूर्वकी दर्शनादि छ प्रतिमाओंका आचरण नियमसे होता है। १३६

वही दर्शाको कहते हैं—

श्लोक १३७

१. दर्शनिक (दर्शनप्रतिमाधारी)

अन्वयार्थ—[सम्यग्दर्शनशुद्धः] अतिचार रहित सम्यग्दर्शनको पालनेवाला

दर्शनमस्यास्तीति दर्शनिको दर्शनिकश्रावको भवति। किंविशिष्टः ? सम्यग्दर्शनशुद्धः सम्यग्दर्शनं शुद्धं निरतिचारं यस्य असंयतसम्यग्दृष्टेः। कोऽस्य विशेष इत्यत्राह— संसारशरीरभोगनिर्विण्ण इत्यनेनास्य लेशतो व्रतांशसंभवात्ततो विशेषः प्रतिपादितः। एतदेवाह—तत्त्वपथगृह्यः तत्त्वानां व्रतानां पंथानो मार्गा[1] मद्यादिनिवृत्तिलक्षणा अष्टमूलगुणास्ते गृह्याः पक्षा यस्य। पंचगुरुचरणशरणं पंचगुरवः पंचपरमेष्ठिनस्तेषां चरणाः शरणमपायपरिरक्षणोपायो यस्य॥१३७॥

[संसारशरीरभोगनिर्विण्णः] संसार, शरीर और भोगोंसे विरक्त [पंचगुरुचरणशरणः] पांच परमेष्ठीयोंके चरणोंकी शरणको प्राप्त और [तत्त्वपथगृह्यः] व्रतोंके मार्गरूप अष्टमूलगुणोंका पालन करनेवाला [दर्शनिकः] दार्शनिक श्रावक होता है॥१३७॥

टीकार्थ—**'सम्यग्दर्शनं शुद्धं निरतिचारं यस्य सः'** इस व्युत्पत्तिके अनुसार जिसका सम्यग्दर्शन शङ्का, कांक्षा आदि अतिचारोंसे रहित होनेके कारण शुद्ध है, जो संसार, शरीर और भोगोंसे उदासीन है। **'तत्त्वानां व्रतानां पन्था मार्गो मद्यादिनिवृत्तिलक्षणा अष्टमूलगुणास्ते गृह्याः पक्षा यस्य'** इस व्युत्पत्तिके अनुसार व्रतोंके मार्गस्वरूप आठ मूलगुणोंको जिसने ग्रहण करने योग्य समझकर धारण किया है तथा पञ्चपरमेष्ठियोंके चरण जिसके शरण हैं—दुःखोंसे रक्षा करनेके उपायभूत हैं वह दार्शनिकश्रावक कहलाता है।

भावार्थ—जिसे निरतिचार (शुद्ध) सम्यग्दर्शन है, तथा किंचित् विशेष प्रकारसे स्वसन्मुखता द्वारा संसार, शरीर एवं इन्द्रिय भोगोंसे विरक्त (उदासीन) है, जिसे अधिकतर पंच-परमेष्ठीके चरणका ही शरण है अर्थात् उनका ही ध्यान करता है एवं सर्वज्ञभासित जीवादिक तत्त्वोंका जिसे श्रद्धान है—तत्त्वोंका मार्ग जिसने अंगीकार किया है, बाह्यमें जिसे सप्तव्यसन सहित पांच पापोंकी प्रवृत्ति छूट गई है अर्थात् मद्यादिके त्यागरूप अष्टमूलगुण जिसने अंगीकार किये हैं, अंशतः व्रतोंका अभ्यासी है वह दार्शनीक श्रावक है।

जिनेन्द्रदेव, सिद्धांत शास्त्र तथा दिगंबर तपस्वी–यह तीनोंको उपासकाध्ययनमें तत्त्व कहे हैं, तथा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रको मार्ग कहा है। तत्त्व एवं मार्गका जिसे पक्ष है–उस ओर जिसका झुकाव है वह दार्शनिक श्रावक अर्थात् पाक्षिक श्रावक कहा जाता है।[2]

---

१. पन्था मार्गो घ०।

२. भयवसणमलविवज्जिय संसारसरीरभोगणिव्वण्णो।
अठ्ठगुणंगसमग्गो दंसणसुद्धो हु पंचगुरुभत्तो॥५॥ (श्री रयणसार गाथा–श्री कुंदकुंदाचार्य)

तस्येदानीं परिपूर्णदेशव्रतगुणसम्पन्नत्वमाह—

निरतिक्रमणमणुव्रतपञ्चकमपि शीलसप्तकं चापि।
धारयते निःशल्यो योऽसौ व्रतिनां मतो व्रतिकः ॥१३८॥

विशेष

जो स्याद्वादरूप परमागम द्वारा निश्चय-व्यवहाररूप दोनों नयोंके निर्णयपूर्वक स्वतत्त्व एवं परतत्त्वको जानकर श्रद्धानको दृढ़ करता है, जो जाति-कुलादि आठ मदसे रहित है, यद्यपि अप्रत्याख्यानावरण कर्मके उदयमें संलग्न होनेसे चारित्रदोषसे बलात् जिसे विषयोंका राग वर्तता है तथा गृहारंभकी प्रवृत्ति होती है, फिर भी अभिप्रायमें उसका लेश भी आदर नहीं है, उसको भला नहीं मानता है, उसका स्वामीपना नहीं है, श्रद्धामें उसका निषेध वर्तता है; जिसे रत्नत्रयके धारक धर्मात्मा जीवोंके प्रति अनुराग होता है, जो भेदविज्ञानके बलसे अपने ज्ञायकस्वभावको राग-द्वेषादिसे भिन्न अनुभव करता है। अपने आत्माको देहसे वस्त्र समान भिन्न जानता है, जो अष्टादश दोषरहित सर्वज्ञ वीतरागदेवकी देवबुद्धिसे ही आराधना करता है, अहिंसामय धर्मको ही धर्म मानता है, आरंभ-परिग्रह रहित गुरुको ही गुरु मानता है वह दार्शनिक श्रावक है।

पुनश्च वह मानता है कि कोई जीव किसीको मार नहीं सकता, एवं जिला भी नहीं सकता, किसीको सुखी या दुःखी नहीं कर सकता, लेकिन उनके पूर्वसंचित कर्मके उदयसे ही उनकी ऐसी दशा होती है। पुनश्च, सम्यग्दृष्टिको ऐसा निश्चय होता है कि जिस जीवका जिस देशमें, जिस कालमें, जिस विधानसे जन्म-मरण, लाभ-अलाभ या सुख-दुःख होनेवाला है, वह जिनेन्द्र भगवानके दिव्यज्ञानके अनुसार उस जीवको, उस देशमें उस कालमें, उस देशमें, उस विधानसे जन्म-मरण, लाभ-अलाभ आदि नियमसे होते हैं, उसे दूर करनेके लिए कोई इन्द्र, अहमिन्द्र, नरेन्द्र या जिनेन्द्र भी समर्थ नहीं है।[१]

ऐसा सम्यग्दृष्टि दार्शनिक श्रावक प्रथम पदका (प्रतिमाका) धारक होता है। १३७

अब श्रावक परिपूर्ण देशव्रतके गुणोंसे संपन्न होता है, ऐसा कहते हैं—

श्लोक १३८
२. व्रतप्रतिमाधारी

अन्वयार्थ—[यः] जो [निःशल्यः] शल्य रहित होकर [निरतिक्रमणम्] अतिचार रहित

---

१. देखो पंडित सदासुखदास कृत श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचारकी हिन्दी टीकाका भावार्थ—

[1]व्रतानि यस्य सन्तीति व्रतिको मतः। केषां? व्रतिनां गणधरदेवादीनां। कोऽसौ? [2]निःशल्यो, माया-मिथ्या-निदानशल्येभ्यो निष्क्रान्तो निःशल्यः सन योऽसौ धारयते। किं तत्? निरतिक्रमणमणुव्रतपंचकमपि पंचाप्यणुव्रतानि निरतिचाराणि धारयते इत्यर्थः। न केवलमेतदेव धारयते अपि तु शीलसप्तकं चापि त्रिःप्रकारगुणव्रतचतुःप्रकारशिक्षाव्रतलक्षणं शीलम्॥१३८॥

अधुना सामायिकगुणसम्पन्नत्वं श्रावकस्य प्ररूपयन्नाह—

चतुरावर्त्तत्रितयश्चतुःप्रणामः स्थितो यथाजातः।
सामयिको द्विनिषद्यस्त्रियोगशुद्धस्त्रिसन्ध्यमभिवन्दी॥१३९॥

[अणुव्रतपंचकम् अपि] पांच अणुव्रतोंको [च] और [शीलसप्तकम् अपि] सात शीलव्रतोंको भी [धारयते] धारण करता है [असौ] वह [व्रतिनाम्] गणधर आदिके द्वारा [व्रतिकः] व्रतप्रतिमावाला [मतः] माना गया है॥१३८॥

टीकार्थ—**'व्रतानि यस्य सन्तीति व्रती'** इस व्युत्पत्तिके अनुसार जिसके व्रत होते हैं उसे व्रती कहते हैं। व्रती शब्दसे स्वार्थमें **'क'** प्रत्यय करने पर **'व्रतिक'** शब्द निष्पन्न होता है। मिथ्यात्व, माया और निदान ये तीन शल्य कहलाती हैं। इनके रहते हुए कोई व्रती नहीं हो सकता[3]। इसलिये इन तीन शल्योंसे रहित होता हुआ जो अतिचार रहित पाँच अणुव्रतोंको धारण करता है तथा तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतोंके भेदसे सात शीलोंको भी जो धारण करता है वह व्रतिक श्रावक कहलाता है।

भावार्थ—जो मिथ्यात्व, निदान एवं माया—ये तीन शल्योंसे रहित होकर, अतिचार रहित पांच अणुव्रतोंको, सात शीलव्रतोंका (अर्थात् : तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतोंको) पालन करता है, उसे गणधरादि देवोंने व्रतिक अर्थात् दूसरी व्रत प्रतिमाधारी श्रावक माना है। १३८

अब श्रावक सामायिक गुणव्रतसे संपन्न होता है ऐसी प्ररूपणा करते हैं—

श्लोक १३९
३. सामायिक प्रतिमाधारी

अन्वयार्थ—[चतुरावर्त्तत्रितयः] चार दिशाओंमें तीन-तीन आवर्त करनेवाला [चतुः

---

१. व्रतान्यस्यास्तीति व्रती मनः घ०। २. निःशल्यः तन् घ०। ३. 'निःशल्योव्रती' तत्त्वार्थसूत्र

सामयिकः समयेन प्राक्प्रतिपादितप्रकारेण चरतीति सामयिकगुणोपेतः। किंविशिष्टः? चतुरावर्तत्रितयः चतुरो वारानावर्तत्रितयं यस्य। एकैकस्य हि कायोत्सर्गस्य विधाने 'णमो अरहंताणस्य थोसामें'श्चाद्यन्तयोः प्रत्येकमावर्तत्रितयमिति एकैकस्य हि कायोत्सर्गविधाने चत्वार आवर्ता तथा तदाद्यन्तयोरेकैकप्रणामकरणाच्चतुःप्रणामः। स्थित ऊर्ध्वकायोत्सर्गोपेतः। यथाजातो बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहचिन्ताव्यावृत्तः। द्विनिषद्यो द्वे निषद्ये उपवेशने यस्य। देववन्दनां कुर्वता हि प्रारंभे समाप्तौ चोपविश्य प्रणामः। कर्तव्यः। त्रियोगशुद्धः त्रयो योगा मनोवाक्कायव्यापाराः शुद्धा सावद्यव्यापाररहिता यस्य? अभिवन्दी अभिवन्दत इत्यैवंशीलः। कथं? त्रिसध्यं॥१३९॥

प्रणामः] चार दिशाओंमें (एकमेक) प्रणाम करनेवाला [स्थितः] कायोत्सर्गरूपसे स्थित [यथाजातः] बाह्याभ्यंतर परिग्रहकी चिंतासे रहित [द्विनिषद्यः] देव वंदनाके आदि और अंतमें बैठकर प्रणाम करनेवाला [त्रियोगशुद्धः] मन, वचन और कायसे शुद्ध और [त्रिसन्ध्यम्] तीनों कालमें [अभिवन्दी] वंदना करनेवाला [सामायिकः] सामायिक प्रतिमावाला होता है॥१३९॥

टीकार्थ—इस श्लोकमें सामयिक प्रतिमाका लक्षण बतलाते हुए उसकी विधिका भी निर्देश किया गया है। सामायिक करनेवाला पुरुष एक एक कायोत्सर्गके बाद चार बार तीन तीन आवर्त करता है, अर्थात् प्रत्येक दिशामें **'णमो अरहंताणं'** इस आद्य सामायिक दण्डक और **'थोस्सामि हं'** इस अन्तिम स्तवदण्डकके तीन-तीन आवर्त और एक एक प्रणाम इस तरह बारह आवर्त और चार प्रणाम करता है। श्रावक इन आवर्तादिककी क्रियाओंको खड़े होकर करता है, सामायिककी अवधिके भीतर यथाजात—नग्नमुद्राधारीके समान बाह्याभ्यन्तर परिग्रहकी चिन्तासे दूर रहता है। 'देववन्दना करनेवालेको प्रारम्भमें और समाप्तिमें बैठकर प्रणाम करना चाहिये' इस विधिके अनुसार दो बार बैठकर प्रणाम करता है अर्थात् सामायिक प्रारम्भ करनेके लिये प्रथम बार कायोत्सर्ग कर तीन आवर्त करता है, उसके बाद बैठकर पृथ्वीमें शिर झुकाता हुआ नमस्कार करता है और सामायिकके बाद कायोत्सर्ग करता है, उसके बाद भी पृथ्वीमें बैठकर शिर झुकाता हुआ नमस्कार करता है। तीनों योगोंको शुद्ध रखता है अर्थात् उससे सावद्य व्यापारका त्याग करता है और तीनों सन्ध्याओंमें वन्दना करता है।

भावार्थ—चारों दिशाओंमें हरेक के तीन तीन आवर्त्त–ऐसे कुल बारह आवर्त्त तथा एक एक दिशामें एक–ऐसे चार प्रणाम करके, अभ्यंतर एवं बाह्य परिग्रह रहित मुनि समान खड़गासन या पद्मासन धारण करके, मन-वचन-काय ऐसे तीन योगोंको शुद्ध करके; सुबह, दोपहर एवं शामको संध्याके समय सामायिक करनेवाला व्यक्ति तृतीय सामायिक प्रतिमाधारी कहा जाता है।

साम्प्रतं प्रोषधोपवासगुणव्रतं श्रावकस्य प्रतिपादयन्नाह—

पर्वदिनेषु चतुर्ष्वपि मासे मासे स्वशक्तिमनिगुह्य।
प्रोषधनियमविधायी प्रणिधिपरः[1] प्रोषधानशनः॥१४०॥

प्रोषधेनानशनमुपवासो यस्यासौ प्रोषधानशनः। किमनियमेनापि यः प्रोषधोपवासकारी सोऽपि प्रोषधानशनव्रतसम्पन्न इत्याह–प्रोषधनियमविधायी प्रोषधस्य नियमोऽवश्यंभावस्तं विदधातीत्येवंशीलः। क्व तन्नियमविधायी? पर्वदिनेषु चतुर्ष्वपि द्वयोश्चतुर्दश्योर्द्वयोश्चाष्टम्योरिति। किं चातुर्मासस्यादौ तद्विधायीत्याह–मासे मासे। किं कृत्वा? स्वशक्तिमनिगुह्य तद्विधाने आत्मसामर्थ्यमप्रच्छाद्य। किंविशिष्टः? प्रणिधिपरः एकाग्रतां गतः शुभध्यानरत इत्यर्थः॥१४०॥

यह प्रतिमाधारी श्लोक १०५में कहे अनुसार सामायिक शिक्षाव्रतके पांच अतिचार न लगे इसके लिए विशेष सावधान रहता है, उसे प्रतिमाका पालन निरतिचारपूर्वक ही होता है। १३९

अब श्रावकके प्रौषधोपवास गुणव्रतका प्रतिपादन करते हैं—

श्लोक १४०
४. प्रौषधोपवास प्रतिमाधारी

अन्वयार्थ—[मासे मासे] प्रत्येक माहके [चतुर्षु अपि पर्वदिनेषु] दो अष्टमी और दो चतुर्दशी इस प्रकार चारों पर्वोंमें [स्वशक्तिं अनिगुह्य] अपनी शक्तिको न छिपाकर [प्रणिधिपरः] एकाग्रताको प्राप्त होकर [प्रोषधनियमविधायी] प्रौषधोपवासका नियम करनेवाला [प्रोषधानशनः] प्रौषधोपवास प्रतिमावाला जानना चाहिए॥१४०॥

टीकार्थ—**'प्रोषधेन अनशनमुपवासो यस्यासौ प्रोषधानशनः'** इस विग्रहके अनुसार धारणा—पारणाके दिन एकाशनके साथ पर्वके दिन जो उपवास करता है वह प्रौषधोपवास व्रतका धारक कहलाता है। इस प्रतिमाके धारीको प्रत्येक मासकी दो अष्टमी और दो चतुर्दशी इस प्रकार पर्वके चारों दिनोंमें अपनी शक्ति को न छिपाकर उपवास करना होता है। साथ ही धारणा—पारणाके दिन नियम पूर्वक एकाशन करना होता है। इस प्रतिमाका धारक शुभ ध्यानमें तत्पर रहता है।

---

१. प्रणधिपरः घ।

इदानीं श्रावकस्य सचित्तविरतिस्वरूपं प्ररूपयन्नाह—

मूलफलशाकशाखाकरीरकन्दप्रसूनबीजानि।
नामानि योऽपि सोऽयं सचित्तविरतो दयामूर्तिः॥१४१॥

सोऽयं श्रावकः सचित्तविरतिगुणसम्पन्नः। यो नात्ति न भक्षयति। कानीत्याह— मूलेत्यादि—मूलं च फलं च शाकश्च शाखाश्च कोपलाः करीराश्च वंशकिरणाः[1] कंदाश्च प्रसूनानि च पुष्पाणि बीजानि च तान्येतानि आमानि अपक्वानि यो नात्ति। कथंभूतः सन्? दयामूर्तिः दयास्वरूपः सकरुणचित्त इत्यर्थः॥१४१॥

भावार्थ—जो प्रत्येक मासकी दो अष्टमी, एवं दो चतुर्दशीके दिन अपनी शक्ति छुपाये बिना धर्मध्यानमें लीन होकर नियमसे–विधिपूर्वक निरतिचार[2], प्रौषधोपवास करता है वह प्रौषध प्रतिमाधारी कहलाता है। १४०

अब श्रावकके सचित्तविरतिके स्वरूपकी प्ररूपणा करके कहते हैं—

श्लोक १४१
५. सचित्तत्याग प्रतिमाधारी

अन्वयार्थ—[दयामूर्तिः] दयालु [यः] जो [आमानि] कच्चे [मूलफलशाकशाखा-करीरकन्दप्रसूनबीजानि] मूल, फल, शाक, कोपल, करीर, कन्द, फूल और बीज [न अत्ति] नहीं खाता है [सः अयम्] वह यह [सचित्तविरतः] सचित्त विरत प्रतिमावाला समझना चाहिए॥१४१॥

टीकार्थ—मूली, गाजर, शकरकन्द आदि मूल कहलाते हैं, आम, अमरूद आदि फल कहलाते हैं, भाजीको शाक कहते हैं, वृक्षकी नई कोंपलको शाखा कहते हैं, बाँसके अंकुरको करीर कहते हैं, जमीनमें रहनेवाले अँगीठा आदिको कन्द कहते हैं, गोभी आदिके फूलको प्रसून कहते हैं और गेहूँ, चना आदिको बीज कहते हैं। ये सब आम— अपक्व अवस्थामें सचित्त—सजीव होते हैं। अतः दयाका धारक श्रावक इन्हें नहीं खाता है। गेहूँ, चना आदि बीज हरी अवस्थामें तो सचित्त हैं ही, परन्तु अंकुरोत्पादनकी शक्तिकी अपेक्षा शुष्क अवस्थामें भी सचित्त माने जाते हैं अतः व्रती मनुष्य इन्हें खण्डित अवस्थामें ही खाता है।

---

१. वंशकिरला इति ग। २. प्रौषधोपवासके अतिचारके लिए देखे श्लोक ११० की टीका।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ - ३६४२५०

अधुना रात्रिभुक्तिविरतिगुणं श्रावकस्य व्याचक्षाणः प्राह—

अन्नं पानं खाद्यं लेह्यं नाश्नाति यो विभावर्याम्।
स च रात्रिभुक्तिविरतः सत्त्वेष्वनुकम्पमानमनाः॥१४२॥

स च श्रावको। रात्रिभुक्तिविरतोऽभिधीयते। यो विभावर्यां रात्रौ। नाश्नाति न भुंक्ते। किं तदित्याह—अन्नमित्यादि—अन्नं भक्तमुद्गादि, पानं द्राक्षादिपानकं, खाद्यं मोदकादि, लेह्यं [1]ख्रादि। किंविशिष्टः? अनुकम्पमानमनाः सकरुणहृदयः। केषु? सत्त्वेषु प्राणिषु॥१४२॥

भावार्थ— जो श्रावक कच्चे (अपक्व, अशुष्क, सचित्त, अंकुरोत्पत्तिकारक) मूल, फल, सब्जी, डाली, कोंपल, जमीकंद, पुष्प एवं बीज आदि नहीं खाता है, तथा सचित्त पानी भी गरम करके पीता है एवं सचित्त लवण (नमक) भी अग्निमें तप्त करके उसको पीसकर उपयोग करता है। वह दयाकी मूर्ति सचित्तत्याग प्रतिमाधारी कहलाता है।

मूल, फल, कन्दादि ये वनस्पतिके आठ अंग हैं। उनमेंसे किसी वनस्पतिको तीन-चार-पाँच आदि अंग होते हैं। उसे सचित्तत्यागी कच्चे-अपक्व-सचित्त अवस्थामें नहीं खाता है, लेकिन उनको अचित्त करके अग्नि आदिमें पकाकर खाता है। १४१

अब श्रावकके रात्रिभुक्तिविरती गुणका वर्णन करते हैं—

श्लोक १४२
६. रात्रिभुक्तित्यागी

अन्वयार्थ—[सत्त्वेषु अनुकंपमानमनाः] जीवोंपर करुण हृदयवाला [यः] जो [विभावर्याम्] रात्रिमें [अन्न पानं खाद्यं लेह्यम्] भात आदिक अन्न, द्राक्षारस आदिक पान, लाडू आदिक खाद्य और रबड़ी आदिक लेह्य पदार्थ [न अश्नाति] नहीं खाता है [सः] वह [रात्रिभुक्तिविरतः] रात्रि भोजन त्याग प्रतिमावाला जानना चाहिए॥१४२॥

टीकार्थ—वह श्रावक रात्रिभुक्तिविरत—रात्रिभोजनत्याग प्रतिमाधारी कहलाता है जो जीवोंपर दयालु चित्त होता हुआ रात्रिमें अन्न–दाल, भात आदि, पान–दाख आदिका रस, खाद्य–लड्डू आदि और लेह्य–रबड़ी आदिको नहीं खाता है।

---

१ द्रवद्रव्यं आम्रादि इति ख।

Shri Digambar Jain Swadhyay Mandir Trust, Songadh - 364250

साम्प्रतमब्रह्मविरतत्वगुणं श्रावकस्य दर्शयन्नाह—

मलबीजं मलयोनिं गलन्मलं पूतिगन्धि बीभत्सं।
पश्यन्नङ्गमनङ्गाद्विरमति यो ब्रह्मचारी सः॥१४३॥

अनङ्गात् कामाद्यो विरमति व्यावर्तते स ब्रह्मचारी। किं कुर्वन्? पश्यन्। किं तत्? अङ्गं शरीरं। कथंभूतमित्याह—मलेत्यादि मलं शुक्रशोणितं बीजं कारणं यस्य। मलयोनिं मलस्य मलिनतायाः अपवित्रत्वस्य योनिः कारणं। गलन्मलं गलन् स्रवन् मलो [1]मूत्रपुरीषस्वेदादिलक्षणो यस्मात्। पूतिगंधि दुर्गन्धोपेतं। बीभत्सं सर्वावयवेषु पश्यतां

भावार्थ—जो श्रावक दयार्द्र चित्तवाला होकर रात्रिको अन्न–दाल-भात आदि, पान–दूध-जल आदि पेय पदार्थ, खाद्य–लाडू, पैड़े, बरफी आदि तथा लेह्य–राबड़ी-चटनी-आमरस आदि—यह चार प्रकारके आहारका त्याग करता हैं (खाता नहीं है) वह रात्रिभोजनत्याग प्रतिमाधारी है।

कोई-कोई आचार्यदेव यह छट्ठी प्रतिमाधारीको दिवामैथुनत्यागी भी कहते हैं, उसे दिनमें मैथुनका (स्त्री–संभोगका) त्याग होता है। १४२

अब श्रावकके अब्रह्मविरतीगुणको दर्शाते हैं—

श्लोक १४३
७. ब्रह्मचर्य प्रतिमा

अन्वयार्थ—[मलबीजम्] मलसे उत्पन्न होनेवाला [मलयोनिम्] मलिनताका कारण [गलन्मलम्] जिससे मल गलता है [पूतिगन्धि] दुर्गंधि युक्त [बीभत्सम्] देखनेवालेको बीभत्सभाव उत्पन्न करनेवाला ऐसे [अंगम्] शरीरको [पश्यन्] देखनेवाला [यः] जो [अनङ्गात्] कामभोगसे [विरमति] विरक्त होता है [सः] वह [ब्रह्मचारी] ब्रह्मचर्य प्रतिमावाला जानना चाहिए॥१४३॥

टीकार्थ—कामसे आकुलित स्त्री–पुरुष एक दूसरेके शरीरको देखकर उसके सेवनमें प्रवृत्त होते हैं। यहाँ शरीरकी यथार्थताका वर्णन करते हुए कहा गया है कि यह शरीर मलबीज है अर्थात् शुक्रशोणितरूप मल ही इसका कारण है, मलयोनि है अर्थात् मलिनता–अपवित्रताका कारण है, इससे सदा मलमूत्र तथा पसीना आदि झरता रहता है, दुर्गन्धित है और बीभत्स

१. प्रस्वेदादि घ०।

बीभत्सभावोत्पादकं ॥१४३॥

इदानीमारम्भविनिवृत्तिगुणं श्रावकस्य प्रतिपादयन्नाह—

सेवाकृषिवाणिज्यप्रमुखादारम्भतो व्युपारमति।
प्राणातिपातहेतोर्योऽसावारम्भविनिवृत्तः ॥१४४॥

यो व्युपारमति विशेषेण उपरतः व्यापारेभ्य आसमन्तात् जायते असावारम्भविनिवृत्तो

है अर्थात् समस्त अवयवोंमें देखनेवालोंको ग्लानि उत्पन्न करनेवाला है। इस प्रकार शरीरके घृणित रूपका विचारकर जो कामसेवन–मैथुन क्रियासे निवृत्त होता है वह ब्रह्मचारी है।

भावार्थ—जो व्रती श्रावक शरीरको रजोवीर्यसे उत्पन्न, अपवित्रताका हेतु, नव द्वारसे मल बहानेवाला, दुर्गंध एवं ग्लानियुक्त जानकर कामसेवनका सर्वथा त्याग करता है, वह ब्रह्मचर्य प्रतिमाधारी है।

यह ब्रह्मचारी अपनी विवाहिता स्त्रीका भी संबंध नहीं करता है, उसके निकट एक स्थानमें शयन नहीं करता है, पूर्वकालमें भोगे हुए भोगोंका चिंतवन नहीं करता है। कामोद्दीपन करे ऐसे पुष्ट आहारका त्याग करता है, राग उत्पन्न करे ऐसे वस्त्र-आभूषण नहीं पहेनता है, गीत, नृत्य, वाजित्रादिका श्रवण एवं अवलोकन नहीं करता है, पुष्पमाला, सुगंधविलेपन, इतर, फुलेल आदिका त्याग करता है, श्रृंगार कथा, हास्यकथा, काव्य, नाटकादिके पठन-श्रवणका त्याग कर तांबुल आदि रागवर्धक वस्तुओंसे दूर रहेता हैं। यह प्रतिमाधारी श्रावक श्लोक ६०में दर्शाये हुए ब्रह्मचर्याणुव्रतके कोई भी अतिचार न लगे इस हेतु सावधान रहता है, उसे निरतिचार प्रतिमाका पालन होता है। १४३

अब श्रावकके आरंभ-विरतीगुणका प्रतिपादन करके कहते हैं—

श्लोक १४४
८. आरंभत्याग प्रतिमाधारी

अन्वयार्थ—[यः] जो [प्राणातिपातहेतोः] प्राणोंके नाश होनेके कारणरूप [सेवाकृषिवाणिज्यप्रमुखात्] नौकरी, खेती और व्यापार आदि [आरम्भतः] आरंभसे [व्युपारमति] विरक्त होता है [असौ] वह [आरम्भविनिवृत्तः] आरंभत्याग प्रतिमाधारी समझना चाहिए ॥१४४॥

टीकार्थ—यहाँ आरम्भसे निवृत्त होनेके लिये ग्रन्थकारने **'व्युपारमति'** क्रियाका

भवति। कस्मात्? आरम्भतः। कथंभूतात्? सेवाकृषिवाणिज्यप्रमुखात्, सेवाकृषिवाणिज्याः प्रमुखा आद्या यस्य तस्मात्। कथंभूतान्? प्राणातिपातहेतोः प्राणानामतिपातो वियोजनं तस्य हेतोः कारणभूतात्। अनेन स्नपनदानपूजाविधानाद्यारंभादुपरतिर्निराकृता तस्य प्राणातिपातहेतुत्वाभावात् प्राणिपीडापरिहारेणैव तत्संभवात्। वाणिज्याद्यारम्भादपि तथा संभवस्तर्हि विनिवृत्तिर्न स्यादित्यपि नानिष्टं प्राणिपीडाहेतोरेव तदारम्भात् निवृत्तस्य श्रावकस्यारम्भविनिवृत्तत्वगुणसम्पन्नतोपपत्तेः[1] ॥१४४॥

प्रयोग किया है जो कि उप और आङ् उपसर्ग पूर्वक रम धातुका रूप है। उपसर्गोंके कारण उसका अर्थ **'विशेषेण आसमन्तात् आरम्भेभ्य उपरतो जायते'** अर्थात् आरम्भसे विशेषता पूर्वक सब ओरसे निवृत्त होता है। आरम्भका अर्थ परिग्रह संचय करनेकी विधिविशेष है। उस विधिमें सेवा—नौकरी, खेती तथा वाणिज्य प्रमुख है। आरम्भ त्याग क्यों किया जाता है? इसका समाधान करनेके लिये आरम्भका **'प्राणातिपातहेतोः'** यह हेत्वर्थक विशेषण दिया है अर्थात् जो आरम्भ, प्राणघातका हेतु है उससे निवृत्त होना चाहिये। इस विशेषणके देनेसे यह सिद्ध हो जाता है कि आरम्भत्याग प्रतिमाका धारी श्रावक अभिषेक, दान, पूजन आदिका आरम्भ कर सकता है उससे उसकी निवृत्ति नहीं होती क्योंकि वह प्राणघातका कारण नहीं है, प्राणिहिंसाको बचाकर ही यह कार्य किये जाते हैं। यहाँ यह विकल्प उठाया जा सकता है कि जिस वाणिज्य आदि आरम्भमें प्राणीहिंसा नहीं होती उसे भी क्या कर सकता है? इसका उत्तर टीकाकारने दिया है कि ऐसे आरम्भसे उसकी निवृत्ति न हो यह हमें अनिष्ट नहीं है अर्थात् स्वीकृत है क्योंकि जो आरम्भ प्राणघातका हेतु है उसीसे निवृत्त होनेवाले श्रावकके यह प्रतिमा होती है।

भावार्थ—जो श्रावक जीवहिंसाके कारणभूत नौकरी, खेती, व्यापार आदि आरंभके कार्यका त्याग करता है; वह आरंभत्याग प्रतिमाधारी श्रावक कहलाता है।

इस प्रतिमाधारीको अभिषेक, दान, पूजा आदि धार्मिक आरंभके कार्योंका त्याग नहीं होता, क्योंकि जैसे नौकरी, खेती, व्यापार आदि आरंभके कार्य जीवहिंसाके कारणभूत हैं, वैसे यह धार्मिक कार्य जीवहिंसाके कारणभूत नहीं हैं। उन कार्योंमें अल्प जीवहिंसा होती है, फिर भी धर्मीजीवको हिंसा करनेके हेतुका अभाव होता है, उसे वे कार्य अशुभभावसे बचनेके लिए हेयबुद्धिसे आये बिना नहीं रहते। ऐसे धार्मिक कार्योंमें उसे पुण्य बहुत एवं पाप अल्प होता है। अतः मुख्यरूपसे उससे पुण्यका ही संचय होता है। १४४।

---

१. सम्पन्नत्वोपपत्तेः घ०।

अधुना परिग्रहनिवृत्तिगुणं श्रावकस्य प्ररूपयन्नाह—

बाह्येषु दशसु वस्तुषु ममत्वमुत्सृज्य निर्ममत्वरतः।
स्वस्थः सन्तोषपरः परिचित्तपरिग्रहाद्विरतः॥१४५॥

परि समन्तात् चित्तस्थः परिग्रहो हि परिचित्तपरिग्रहस्तमाद्विरतः श्रावको भवति। किं विशिष्टः सन्? स्वस्थो मायादिरहितः। तथा सन्तोषपरः परिग्रहाकाक्षांव्यावृत्त्या सन्तुष्टः तथा। निर्ममत्वरतः। किं कृत्वा? उत्सृज्य परित्यज्य। किं तत्? ममत्वं मूर्च्छा। क्व? बाह्येषु दशसु वस्तुषु। एतदेव दशधा परिगणनं बाह्यवस्तूनां दर्श्यन्ते।

क्षेत्रं वास्तु धनं धान्यं द्विपदं च चतुष्पदम्।
शयनासने च यानं कुप्यं भाण्डमिति दश॥

अब श्रावकके परिग्रहनिवृत्तिगुणकी प्ररूपणा करते हैं—

श्लोक १४५
९. परिग्रहत्याग प्रतिमाधारी

अन्वयार्थ—[दशसु बाह्येषु वस्तुषु] दश प्रकारके बाह्य परिग्रहमें [ममत्वम्] मोहबुद्धिको [उत्सृज्य] छोड़कर [निर्ममत्वरतः] ममता रहित भावोंमें लीन होकर [स्वस्थः] मायादि विकारोंसे रहित और [सन्तोषपरः] परिग्रहकी इच्छासे रहित होनेके कारण संतुष्ट पुरुष [परिचित्तपरिग्रहात्] परिग्रहसे [विरतः] विरक्त है (अर्थात् परिग्रहत्याग प्रतिमाधारी है) ॥१४५॥

टीकार्थ—'परि समन्तात् चित्तस्थः परिग्रहो हि परिचित्तपरिग्रहः' इस व्युत्पत्तिके अनुसार जो परिग्रह निरन्तर चित्तमें स्थित रहता है ऐसे ममताके स्थानभूत परिग्रहको परिचित परिग्रह कहते हैं। इस परिग्रहसे विरत वही हो सकता है जो क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य, द्विपद, चतुष्पद, शयनासन, यान, कुप्य और भाण्ड इन दश बाह्य वस्तुओंमें ममता—मूर्च्छाभावको छोड़कर निर्ममत्वभावमें स्थित रहता है अर्थात् ऐसा विचार करता है कि ये बाह्य पदार्थ मेरे नहीं हैं और मैं भी इनका नहीं हूँ, मायाचार आदिसे रहित होकर सदा स्वस्थ रहता है—अपने ज्ञाता द्रष्टा स्वरूपमें स्थित रहता है और सन्तोषमें तत्पर रहता है—परिग्रहकी आकांक्षासे निवृत्त रहता है।

क्षेत्रं वास्तु धनं धान्यं द्विपदं च चतुष्पदम्।
शयनासने च यानं कुप्यं भाण्डमिति दश॥

क्षेत्रं सस्याधिकरणं च डोहलिकादि। वास्तु गृहादि। धनं सुवर्णादि। धान्यं ब्रीह्यादि। द्विपदं दासीदासादि। चतुष्पदं गवादि। शयनं खट्वादि। आसनं विष्टरादि। यानं डोलिकादि। कुप्यं क्षौमकार्पासकौशेयकादि। भाण्डं श्रीखण्डमंजिष्ठाकांस्यताम्रादि॥१४५॥

साम्प्रतमनुमतिविरतिगुणं श्रावकस्य प्ररूपयन्नाह—

अनुमतिरारम्भे वा परिग्रहे ऐहिकेषु कर्मसु वा।
नास्ति खलु यस्य समधीरनुमतिविरतः स मन्तव्यः॥१४६॥

क्षेत्रमिति—जहाँ धान्य उत्पन्न होता है ऐसे डोहलिका आदि स्थानोंको खेत कहते हैं। जिस खेतमें चारों ओरसे बँधान डालकर पानी रोक लेते हैं ऐसे धान्यके छोटे छोटे खेतोंको डोहलिका कहते हैं इन्हें ग्राम्य भाषामें मढ़ा या डैया आदि भी कहते हैं। मकान आदिको वास्तु कहते हैं, सोना–चाँदी आदिको धन कहते हैं, धान, गेहूँ, चना आदिको धान्य कहते हैं, दासी दास आदिको द्विपद कहते हैं, गाय, भैंस आदिको चतुष्पद कहते हैं, खाट पलंग आदिको शयन तथा बिस्तर आदिको आसन कहते हैं, डोली–पालकी आदिको यान कहते हैं, रेशम, सूती तथा कोशा आदिके वस्त्रोंको कुप्य कहते हैं और चन्दन, मंजीठ, काँसा तथा ताम्र आदिके बर्तनोंको भाण्ड कहते हैं। यह दश प्रकारका परिग्रह उपयोगी होनेसे निरन्तर मनुष्यके मनमें स्थित रहता है इससे ममत्वभावको छोड़ना सो परिग्रहत्याग प्रतिमा कहलाती है।

भावार्थ—जो श्रावक बाह्यके दस प्रकारके परिग्रहोंमें ममताभावका त्याग करता हैं, निर्ममतामें लीन होकर–आत्मामें स्थित होकर परिग्रहकी इच्छासे रहित है (संतुष्ट है), वह परिचित्त परिग्रहत्याग प्रतिमाधारी कहलाता है। यह प्रतिमाधारी श्रावक श्लोक ६२में दर्शाये हुए परिग्रहपरिमाण अणुव्रतके पांच अतिचार रहित प्रतिमाका पालन करता है। १४५।

अब श्रावकके अनुमतिविरति गुणकी प्ररूपणा करते हैं—

श्लोक १४६
१०. अनुमतित्याग प्रतिमाधारी

अन्वयार्थ—[यस्य] जिसकी [आरंभे परिग्रहे ऐहिकेषु कर्मसु वा] आरंभ, परिग्रह अथवा विवाह आदि इसलोक सम्बन्धी कार्योंमें [खलु] निश्चयसे [अनुमतिः] अनुमोदना [नास्ति] नहीं है [समधीः] रागादिसे रहित बुद्धिवाला [सः] वह [अनुमतिविरतः] अनुमतिविरतप्रतिमावाला [मन्तव्यः] समझना चाहिए॥१४६॥

सोऽनुमतिविरतो मन्तव्यः यस्य खलु स्फुटं नास्ति। का सौ? अनुमतिरभ्युपगमः। क्व? आरंभे कृष्यादौ। वा शब्दः सर्वत्र परस्परसमुच्चयार्थः। परिग्रहे वा धान्यदासीदासादौ। ऐहिकेषु कर्मसु वा विवाहादिषु। किंविशिष्टः? समधीः रागादिरहितबुद्धिः ममत्वरहितबुद्धिर्वा ॥१४६॥

इदानीमुद्दिष्टविरतिलक्षणगुणयुक्तत्वं श्रावकस्य दर्शयन्नाह—

गृहतो मुनिवनमित्वा गुरूपकण्ठे व्रतान परिगृह्य।
[1]भैक्ष्याशनस्तपस्यन्नुत्कृष्टश्चेलखण्डधरः ॥१४७॥

उत्कृष्ट उद्दिष्टविरतिलक्षणैकादशगुणस्थानयुक्तः श्रावको भवति। कथंभूतः? चेलखण्डधरः कौपीनमात्रवस्त्रखण्डधारकः आर्यलिंगधारीत्यर्थः। तथा भैक्ष्याशनो भिक्षाणां

टीकार्थ—जो खेती आदि आरम्भ, धनधान्यादिक परिग्रह तथा इस लोक सम्बन्धी विवाह आदि कार्योंमें अनुमति नहीं देता है तथा इष्ट अनिष्ट परिणतिमें समबुद्धि रहता है उसे अनुमतित्याग प्रतिमाका धारक श्रावक जानना चाहिये।

भावार्थ—जो खेती आदि आरंभके कार्योंमें, धनादि परिग्रहोंमें अथवा विवाहादि इसलोक सम्बन्धी कार्योंमें अनुमती नहीं देता, ऐसे ममत्व या राग-द्वेषरहित व्यक्तिको अनुमतित्याग प्रतिमाधारी मानना। १४६

अब श्रावक उद्दिष्टविरतीरूप गुणसे युक्त होता है ऐसा दर्शाते हैं—

श्लोक १४७

११. उत्कृष्ट श्रावक

अन्वयार्थ—[गृहतः] घर छोड़कर [मुनिवनं इत्वा] मुनिके आश्रममें जाकर [गुरूपकण्ठे] गुरुके पास [व्रतानि] व्रतोंको [परिगृह्य] ग्रहण करके [तपस्यन्] तप करता हुआ [भैक्ष्याशनः] भिक्षावृत्तिसे भोजन करनेवाला और [चेलखण्डधरः] कोपीन तथा खण्डवस्त्रको धारण करनेवाला [उत्कृष्टः] उद्दिष्टत्याग प्रतिमावाला श्रावक समझना चाहिए॥१४७॥

टीकार्थ—उद्दिष्टत्याग नामक ग्यारहवें स्थानसे युक्त श्रावक उत्कृष्ट कहलाता है। यह कोपीन—लंगोट मात्र वस्त्रको धारण करता है। **भिक्षा एव भैक्ष्यं** इस तरह स्वार्थमें ण्य प्रत्यय

---

१. भैक्षाशनम् घ (भिक्षा एवं भैक्षं स्वार्थेसुण् तद् अश्नागिति भैक्षाशनः प्रत्ययः अथवा भिक्षाणां समूहोभैक्षं समूहार्थेऽण् प्रत्ययः)।

समूहो भैक्ष्यं तदश्नातीति भैक्ष्याशनः। किं कुर्वन्? तपस्यन् तपः कुर्वन्। किं कृत्वा? परिगृह्य गृहीत्वा। कानि? व्रतानि। क्व? गुरूपकण्ठे गुरुसमीपे। किं कृत्वा? इत्वा गत्वा। किं तत्? मुनिवनं मुन्याश्रमं। कस्मात्? गृहतः॥१४७॥

तपः कुर्वन्नपि यो ह्यागमज्ञः सन्नेवं मन्यते तदा श्रेयोज्ञाता भवतीत्याह—

पापमरातिर्धर्मो बन्धुर्जीवस्य चेति निश्चिन्वन्।
समयं यदि जानीते श्रेयोज्ञाता ध्रुवं भवति॥१४८॥

अथवा **भिक्षाणां समूहो भैक्षं** इस तरह समूह अर्थमें अण्प्रत्यय होनेपर भैक्ष शब्द सिद्ध होता है। इस प्रतिमाका धारी भिक्षासे भोजन करता है अर्थात् मुनियोंकी तरह चर्याके लिये निकलता है। पड़गाहे जानेपर जहाँ अनुकूल विधि मिलती है वहाँ भोजन करता है। अथवा जो अनेक भेक्ष्य होता है वह किसी पात्रमें गृहस्थोंके घरसे भिक्षाको लेता है जब उदरपूर्तिके योग्य भोजन एकत्रित हो जाता है तब किसी श्रावकके घर प्रासुक जल लेकर भोजन करता है। इस प्रतिमाको धारण करनेवाला श्रावक घर छोड़कर मुनियोंके वनमें चला जाता है तथा उनके पास व्रत धारणकर उन्हींकी देख-रेखमें तपश्चरण करता है। मुनिवनका अर्थ मुनियोंका आश्रम है। (समन्तभद्र स्वामीके समय मुनि, वनमें ही निवास करते थे इसलिये उत्कृष्ट श्रावकको गृहत्यागकर मुनिवनमें जानेकी आज्ञा दी गई है। इस समय मुनियोंमें ग्रामवास या चैत्यावास चल पड़ा है इसलिये मुनिवनका अर्थ मुनियोंका आश्रय लिया जाता है।)

भावार्थ—जो गृहको छोड़कर मुनिके आश्रममें जाकर गुरुके समीप व्रत धारकर तप करता है, भिक्षासे भोजन करता है, (अर्थात् अपने लिए बना हुआ भोजन नहीं लेता, लेकिन श्रावक अपने लिए बनाये हुए भोजनमेंसे भक्तिपूर्वक जो भोजन देता है वह लेता है।) तथा कोपीन (लंगोटी), खंड वस्त्र (ऐसी चद्दर की जिससे सिर ढंके तो पग खुले रहे और पग ढंके तो सिर खुला रहे।) धारण करता है वह उत्कृष्ट श्रावकक्षुल्लक या ऐलक-उद्दिष्टत्याग प्रतिमाधारी है। १४७

तप करता हुआ और निश्चयसे आगमको जानता हुआ जो श्रावक ऐसा मानता है तब वह श्रेष्ठ ज्ञाता होता है, ऐसा कहते हैं।

श्लोक १४८ : श्रेष्ठ ज्ञाताका स्वरूप

अन्वयार्थ—[जीवस्य] जीवका [पापं अरातिः] पाप यह शत्रु है [च] और

यदि समयं आगमं जानीते आगमज्ञो यदि भवति तदा ध्रुवं निश्चयेन श्रेयोज्ञाता उत्कृष्टज्ञाता स भवति। किं कुर्वन्? निश्चिन्वन्। कथमित्याह—पापमित्यादि—पापमोधर्मोऽरातिः शत्रुर्जीवस्यानेकापकारकत्वात् धर्मश्च बन्धुर्जीवस्यानेकोपकारकत्वादित्येवं निश्चिन्वन्॥१४८॥

इदानीं शास्त्रार्थानुष्ठातुः फलं दर्शयन्नाह—

(इन्द्रवज्राच्छन्दः)

येन स्वयं वीतकलङ्कविद्यादृष्टिक्रियारत्नकरण्डभावं।
नीतस्तमायाति पतीच्छयेव सर्वार्थसिद्धिस्त्रिषु विष्टपेषु॥१४९॥

[धर्मःबन्धुः] धर्म यह बन्धु है। [इति निश्चिन्वन्] ऐसा निश्चय करनेवाला [यदि समयं जानीते] यदि सिद्धान्तको जानता है तो वह [ध्रुवम्] निश्चयसे [श्रेयो ज्ञाता भवति] उत्कृष्ट ज्ञाता है॥१४८॥

टीकार्थ—आगमको जाननेवाला श्रावक यदि यह निश्चय रखता है कि पाप अर्थात् अधर्म—मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्ररूप परिणति ही अनेक अपकारका कारण होनेसे इस जीवका शत्रु है और धर्म—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप परिणति ही अनेक उपकारका कारण होनेसे मित्र है तो वह श्रेष्ठ ज्ञाता होता है अथवा कल्याणका ज्ञाता होता है।

भावार्थ :—जीवका अपकारक होनेसे पाप (अधर्म) शत्रु है, एवं उपकारक होनेसे (रत्नत्रयधर्म) मित्र है, ऐसा निर्णय करके जो शास्त्रको जानता है वही श्रेष्ठ ज्ञाता हैं।

उद्दिष्टत्यागी वानप्रस्थ आश्रममें है, वह तपस्वी भी है, लेकिन अगर वह आत्माके स्वभाव–विभावको न जाने तो वह आत्मश्रेयका ज्ञाता-भोक्ता नहीं होता। संसारके दुःखोंसे बचाकर जो प्राणीयोंको उत्तम सुखमें धारण करता है वह धर्म है। वह धर्म जीवको मित्र समान है, शुभभावरूप धर्म-व्यवहारधर्म जीवको संसारका कारण है अतः वह शत्रु समान है। १४८

अब शास्त्रके अर्थका आचरण करनेवालेको कैसा फल प्राप्त होता है, यह बताते हैं—

श्लोक १४९
उपसंहार

अन्वयार्थ—[येन] जिस भव्यने [स्वयम्] स्वतःको [वीतकलंकविद्यादृष्टिक्रिया-

येन भव्येन स्वयं आत्मा स्वयंशब्दोऽत्रात्मकवाचकः नीतः प्रापितः। कमित्याह— वीतेत्यादि, विशेषेण इतो गतो नष्टः कलंको दोषो यासां ताश्च ता विद्यादृष्टिक्रियाश्च ज्ञानदर्शनचारित्राणि तासां करण्डभावं तं भव्यं आयाति आगच्छति। कासौ? सर्वार्थसिद्धिः धर्मार्थकाममोक्षलक्षणार्थानां सिद्धिर्निष्पत्तिः कर्त्री। कयेवायाति? पतीच्छयेव स्वयम्बरविधानेच्छयेव। क्व? त्रिषु विष्टयेषु त्रिभुवनेषु॥१४९॥

रत्नकरण्डभावम्] निर्दोषज्ञान, निर्दोषदर्शन और निर्दोषचारित्ररूपी रत्नोंके पिटारेपनेको [नीतः] प्राप्त किया है [तम] उसको [त्रिषु विष्टपेषु] तीन लोकमें [पतीच्छया इव] स्वयंवर करनेकी इच्छासे मानो [सर्वार्थसिद्धिः] धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थोंकी सिद्धि [आयाति] प्राप्त होती है॥१४९॥

टीकार्थ—यहाँ स्वयं शब्द आत्माका वाचक है। जिससे कलंक—दोष विशेषरूपसे नष्ट हो गये हैं उसे वीतकलंक कहते हैं। यह वीतकलंक विशेषण विद्या–ज्ञान, दृष्टि–दर्शन और क्रिया–चारित्र इन तीनोंके साथ लगता है। इन तीनोंके लिये रत्नोंकी उपमा प्रसिद्ध है। रत्नत्रयसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रका ग्रहण होता है। जिस भव्यने अपने आत्माको निर्दोषज्ञान, निर्दोषदर्शन और निर्दोषचारित्ररूपी रत्नोंका करण्डक–पिटारा बनाया है अर्थात् अपने आत्मामें इन तीनोंको प्रकट किया है उसे तीनों लोकोंमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप समस्त अर्थोंकी सिद्धि उस तरह प्राप्त हो जाती है जिस तरह कि पतिको इच्छा रखनेवाली कोई कन्या स्वयंवर विधानसे किसी पतिको प्राप्त होती है। यहाँ सर्वार्थसिद्धि शब्द स्त्रीलिङ्ग है अतः लिंङ्ग साम्यसे उसमें पतिरा–कन्याका आरोप किया है।

भावार्थ—जैसे जिस मनुष्यके पास बहुमूल्य रत्न होते हैं उनके साथ सम्बन्ध करनेके लिए कन्याएँ उत्सुक होती हैं, उसी प्रकार जो भव्यजीवने अपने आत्माको निर्दोष, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्ररूपी रत्नोंका पिटारा बनाया है उसे लोकमें सर्वोत्तम पति बनानेकी इच्छासे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष यह सिद्धिरूपी नारी अनायास ही प्राप्त होती है।

जो श्रावक निश्चयके लक्षसे अतिचार रहित व्यवहार रत्नत्रयकी साधना करता है, उसे संपूर्ण प्रयोजनकी सिद्धि अवश्य प्राप्त होती है। अर्थात् वह स्वर्गके सुख भोगकर मोक्षसुखकी सिद्धिको प्राप्त करता है।

पंडित दौलतरामजीने कहा है कि—

रत्नकरण्डकं कुर्वतश्च मम यासौ सम्यक्त्वसम्पत्तिर्वृद्धिंगता सा एतदेव कुर्यादित्याह—

(मालिनीछन्दः)

सुखयतु सुखभूमिः कामिनं कामिनीव,
सुतमिव जननी मां शुद्धशीला भुनक्तु।
कुलमिव गुणभूषा कन्यका संपुनीता-
ज्जिनपतिपदपद्मप्रेक्षिणी दृष्टिलक्ष्मीः ॥१५०॥

मां सुखयतु सुखिनं करोतु। कासौ? दृष्टिलक्ष्मीः सम्यग्दर्शनसम्पत्तीः।

बारह व्रतके अतिचार, पन पन न लगावै,
मरण–समय संन्यास धारि, तसु दोष नशावै;
यों श्रावक–व्रत पाल, स्वर्ग सोलम उपजावै,
तहंतै चय नरजन्म पाय, मुनि ह्वै शिव जावै. १५.

(छहढाला ४/१५) १४९.

रत्नकरंडक श्रावकाचारकी रचना करते हुए मुझे (श्री समंतभद्रस्वामीको) सम्यक्त्वरूप संपत्तिकी वृद्धि हुई है, वह इतना ही करे ऐसा कहते हैं—

श्लोक १५०
अंत्य मंगल ।

अन्वयार्थ—[जिनपतिपदपद्मप्रेक्षिणी] जिनेन्द्र भगवान्के चरणकमलको देखनेवाली [सुखभूमिः] सुखका उत्पत्तिस्थान [शुद्धशीला] शुद्ध सात शीलव्रतोंसे युक्त और [गुणभूषा] आठ मूलगुणोंसे सुशोभित ऐसी [दृष्टिलक्ष्मीः] सम्यग्दर्शनरूपी सम्पत्ति [सुखभूमिःकामिनी कामिनं इव] सुखका स्थान ऐसी स्त्री जिस प्रकार अपने पतिको सुख देती है उसी प्रकार [मां सुखयतु] मुझे सुखी करो [सुद्धशीला जननी सुतं इव] शीलवती माता पुत्रका जिसप्रकार रक्षण करती है उसी प्रकार [मां भुनक्तु] मेरा रक्षण करो [गुणभूषा कन्यका कुलं इव] गुणोंसे सुशोभित कन्या जिसप्रकार कुलको पवित्र करती है उसीप्रकार [मां संपुनीतात्] मुझे पवित्र करो ॥१५०॥

टीकार्थ—'जिनपतिपदपद्मप्रेक्षिणी' इस शब्दमें जो पद शब्द है उसके दो अर्थ

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ - ३६४२५०

किंविशिष्टेत्याह—जिनेत्यादि जिनानां देशतः कर्मोन्मूलकानां गणधरदेवादीनां पतयस्तीर्थंकरास्तेषां पदानि सुबन्ततिङन्तानि पदा वा तान्येव पद्मानि तानि प्रेक्षते श्रद्दधातीत्येवंशीला। अयमर्थः—लक्ष्मीः पद्मावलोकनशीला भवति दृष्टिलक्ष्मीस्तु जिनोक्तपदपदार्थप्रेक्षणशीलेति। कथंभूता सा? सुखभूमिः। सुखोत्पत्तिस्थानं। केव कं? कामिनं कामिनीव यथा कामिनी कामभूमिः कामिनं सुखयति तथा मां दृष्टिलक्ष्मीः सुखयतु। तथा सा मां भुनक्तु रक्षतु। केव? सुतमिव जननी। किंविशिष्टा। शुद्धशीला जननी हि शुद्धशीला सुतं रक्षति नाशुद्धशीला दुश्चारिणी। दृष्टिलक्ष्मीस्तु गुणव्रतशिक्षाव्रतलक्षणशुद्धसप्तशीलसन्विता मां भुनक्तु। तथा सा मां सम्पुनीतात् सकलदोषकलङ्कं निराकृत्य पवित्रयतु। किमिव? कुलमिव गुणभूषा कन्यका। अयमर्थः—

हैं एक सुबन्ततिङन्तरूप पदशब्दसमूह और दूसरा चरण। दोनों पक्षोंमें अर्थ इस प्रकार है—तीर्थंकर भगवान्के शब्दसमूहरूप कमलोंका श्रद्धान करने वाली अथवा तीर्थंकर भगवान्के चरण कमलोंका अवलोकन करनेवाली—उनके प्रति अटूट श्रद्धा रखनेवाली सम्यग्दर्शनरूपी लक्ष्मी मुझे सुखी करे मेरी रक्षा करे और मुझे अच्छी तरह पवित्र करे। इन कार्योंके लिये पृथक्-पृथक् तीन दृष्टान्त हैं—१. जिस प्रकार सुखकी भूमि विषयसुखकी भूमि कामिनी, कामीको सुखी करती है उसी प्रकार सुखकी भूमि—आत्मोत्थ सुखकी भूमि सम्यग्दर्शनरूप लक्ष्मी मुझे सुखी करे। २. जिस प्रकार शुद्धशीला—निर्दोष सदाचारको पालन करनेवाली माता अपने पुत्रकी रक्षा करती है उसी प्रकार शुद्धशीला—निरतिचार गुणव्रत और शिक्षाव्रतोंसे युक्त सम्यग्दर्शनरूपी लक्ष्मी मेरी रक्षा करे। और ३. जिस प्रकार गुणभूषा—शील सौन्दर्य आदि गुणोंसे विभूषित कन्या अपने कुलको सम्यक् प्रकारसे पवित्र करती है उसी प्रकार गुणभूषा—मूलगुण अथवा निःशङ्कितत्वादि अथवा प्रशम-संवेग आदि गुणोंसे विभूषित सम्यग्दर्शनरूपी लक्ष्मी मुझे अच्छी तरह पवित्र करे—मुझे कर्मकालिमासे रहित करे। अन्तमंगलके रूपमें संस्कृत टीकाकार जिनेन्द्र भगवान्का स्तवन करते हैं और साथमें श्लेषसे ग्रन्थका नाम ग्रन्थके मूलकर्ता और टीकाकारका नाम भी सूचित करते हैं—

येनाज्ञानेति—जिन्होंने भव्य जीवोंके चित्तमें व्याप्त समस्त अज्ञानरूपी तिमिरको नष्टकर सम्यग्ज्ञानरूप किरणोंके द्वारा समस्त गृहस्थधर्मरूप मार्गको प्रकट किया है जो श्री रत्नत्रयरूप रत्नोंमें पिटारेको प्रकाशित करनेके लिये सूर्य हैं पक्षमें भावसे कर्ता होनेके कारण रत्नकरण्डक नामक इन ग्रन्थको प्रकाशित करनेके लिये सूर्य हैं, संसाररूपी नदीको सुखानेवाले हैं, समन्तभद्र—कल्याणोंसे परिपूर्ण मुनियोंकी रक्षा करनेवाले हैं। पक्षमें इस ग्रंथके कर्ता समन्तभद्र मुनिके रक्षक हैं, अनन्त चतुष्टयरूप श्रीसे सहित हैं तथा प्रभा—शीतल सुखद

Shri Digambar Jain Swadhyay Mandir Trust, Songadh - 364250

कुलं यथा गुणभूषा गुणाऽलङ्कारोपेता कन्या पवित्रयति श्लाध्यतां नयति तथा दृष्टिलक्ष्मीरपि गुणभूषा अष्टमूल गुणैरलंकृता मां सम्यक्पुनीतादिति॥१५०॥

येनाज्ञानतमो विनाश्य[1] निखिलं भव्यात्मचेतोगतम्
सम्यग्ज्ञानमहांशुभिः प्रकटितः सागारमार्गोऽखिलः।
स श्रीरत्नकरण्डकामलरविः संसृत्सरिच्छोषको
जीयादेष समन्तभद्रमुनिपः श्रीमान् प्रभेन्दुर्जिनः॥१॥

इति प्रभाचन्द्रविरचितायां समन्तभद्रस्वामीविरचितोपासकाध्ययनटीकायां पंचमः परिच्छेदः।

कान्तिसे जो चन्द्रमा[1] हैं ऐसे यह प्रसिद्ध जिनेन्द्र देव जयवन्त रहें।

भावार्थ—जैसे कोई कामिनी (स्त्री) अपने कामीको सुखी करती है, ऐसे सम्यग्दर्शनरूपी लक्ष्मी मुझे सुखी करे; जैसे कोई शीलवती माता अपने पुत्रका लालन-पालन करती है, ऐसे सप्तशीलोंसे युक्त सम्यग्दर्शनरूपी लक्ष्मी मेरी रक्षा करें, तथा जैसे गुणवती कन्या, कुलको उज्वल करती हैं (पवित्र करती है) ऐसे अष्ट मूलगुणयुक्त सम्यग्दर्शनरूपी लक्ष्मी मुझे पवित्र करें।

टीकाकारकी मंगलकामना

जैसे भव्य आत्माके चित्तमें व्याप्त समस्त अज्ञानरूपी अंधकारको दूर करके सम्यग्ज्ञानरूपी सूर्यके महाकिरणोंके द्वारा सम्पूर्ण श्रावकमार्ग प्रकाशित किया है, ऐसे संसाररूपी नदीके शोषक श्री रत्नकरंडकरूपी तेजस्वी सूर्य समान एवं चंद्रकी कांतिवाले (प्रभेन्दुः) श्रीमान् जिन समंतभद्राचार्य जयको प्राप्त हो।

इसमें टीकाकारने ग्रंथकर्ता श्रीमद् समंतभद्राचार्यका एवं 'प्रभेन्दुः' शब्दसे अपने 'प्रभाचन्द्र' नामका निर्देश दिया है, 'श्री रत्नकरंड' शब्दसे ग्रंथके नामका भी निर्देश किया है।१५०

इस प्रकार श्री समंतभद्रस्वामीविरचित उपासकाध्ययनकी श्री प्रभाचंद्रविरचित टीकामें पंचम परिच्छेद पूर्ण हुआ। ५

समाप्त

---

१. निरस्य इति ख०। २. यहाँ श्लेषसे टीकाकारने अपना 'प्रभाचन्द्र' नाम सूचित करता है।

અનુભૂતિ તીર્થ મહાન, સ્વર્ણપુરી સોહે
યહ કહાનગુરુ વરદાન, મંગલ મુક્તિ મિલે.